भारत की साक्षरता दर बहुत कम है। हमारे देश में स्कूल जाने वाली उम्र के आधे से अधिक बच्चे स्कूलव्यवस्था से बाहर ही रह जाते हैं। इस संदर्भ में राष्ट्रीय बजट में धन के कम प्रावधान और शिक्षा की निरर्थकता से लेकर भूख और गरीबी जैसे कारणों के विश्लेषण पर कई रपटें, दस्तावेज और किताबें प्रकाशित हो चुकी हैं।

इन विश्लेषणों में अकसर यह मानकर चला जाता है कि जिन लोगों के लिए शैक्षिक कार्यक्रम तैयार किए जाते हैं, वे विभिन्न कारणों से इन कार्यक्रमों का फायदा नहीं उठा पाते, इसलिए कार्यक्रम असफल हो जाते हैं। इस बुनियादी रचना में लोगों को निष्क्रिय पात्रों के रूप में देखा जाता है। इस संदर्भ में इस पुस्तक में तीन बुनियादी परिकल्पनाओं को लेकर उनकी पड़ताल की गई है।

पहली परिकल्पना यह है कि कई बार अपने ऊपर लादी गई निरर्थक और अपमानजनक शिक्षा का गरीब लोग सक्रिय विरोध करते हैं, उसे अस्वीकार करते हैं यानी सचेत रूप से ऐसे शैक्षणिक कार्यक्रम को असफल करते हैं।

दूसरी परिकल्पना है कि ऐसी स्थिति में शिक्षा के कार्यक्रम अपेक्षित दिशा से हट जाते हैं और आंदोलनात्मक स्वरूप अख्तियार कर लेते हैं। ऐसे कार्यक्रमों में पद्धति, विरोधाभासों को छिपाती या दबाती नहीं है, बल्कि उभारती है। इसलिए आमतौर पर शिक्षाविद भी ऐसी स्थिति को नजरंदाज करते हैं अथवा राजनीतिक कहकर अपना पल्ला झाड़ लेते हैं।

तीसरी परिकल्पना यह है कि गरीब बच्चों या बड़ों के शिक्षा कार्यक्रमों को अन्याय, गैरबराबरी तथा शोषण जैसे मुद्दों से तो जूझना ही पड़ेगा, इसलिए इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इनका रुख आंदोलनात्मक हो जाए।

साधना सक्सेना ने दिल्ली विश्वविद्यालय के मिरांडा हाउस से 1975 में भौतिकी में एम.एस-सी. किया। 1975-88 के दौरान मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले में स्थित संस्था 'किशोर भारती' में काम किया। 1988-92 के दौरान साक्षरता और जन आंदोलन विषय पर शोध किया और पिपरिया शहर में रहते हुए पालिया-पिपरिया गांव (जहां किशोर भारती स्थित थी) तथा आसपास के पचीस गांवों में जनशिक्षण अभियान द्वारा चलाए गए अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम में उनकी सक्रिय भागीदारी रही। कुछ समय तक राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा संस्थान, नई दिल्ली में काम किया। 1998 में शिक्षा विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय से 'शिक्षा और जन आंदोलन' विषय पर पी-एच.डी. की उपाधि हासिल की। इस समय दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग में रीडर हैं।

ISBN 81-7917-059-4

मूल्य 75.00

ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड
बी-7, सरस्वती कामप्लेक्स, सुभाष चौक
लक्ष्मी नगर, दिल्ली 110092

शिक्षाशास्त्र के नए क्षितिज

शिक्षा और जन आंदोलन

साधना सक्सेना

शिक्षा और जन आंदोलन

साधना सक्सेना

ग्रंथ शिल्पी

© साधना सक्सेना
प्रथम संस्करण : 2000
पुनर्मुद्रण : 2004
ISBN 81-7917-059-4

श्यामबिहारी राय द्वारा ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, बी-7, सुभाष चौक,
लक्ष्मीनगर, दिल्ली 110092 के लिए प्रकाशित तथा डी.पी. ग्राफिक्स,
उत्तर नगर, नई दिल्ली 110059 द्वारा लेजर सेट होकर
नागरी प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 में मुद्रित

लेखिका की ओर से

इस पुस्तक को लिखते हुए मैं अनेक प्रकार की अनिश्चितताओं के दौर से गुजरी हूं। आज सभी महत्वपूर्ण लोग—शिक्षाशास्त्री, अर्थशास्त्री, समाजवैज्ञानिक, वैज्ञानिक और एक्टिविस्ट—बलपूर्वक यह कह रहे हैं कि शिक्षा में 'एक्ट' करने की आवश्यकता है, हल सुझाने की आवश्यकता है, सिद्धांत बघारने की नहीं। ऐसे माहौल में एक ओर तो सैद्धांतिक पहलुओं की ओर अधिक बल देना और भी जरूरी लगने लगता है। परंतु दूसरी तरफ एक असहज अहसास भी छूट जाता है कि आखिर मुद्दों को अधिक गहराई से समझने में रुचि किसकी होगी? क्या यह महज इत्तफाक है कि शिक्षा में किसी भी स्तर के बुनियादी शोध को, जिसकी परंपराएं वैसे भी हमारे देश में काफी कमजोर हैं, 'कर्म' की तुलना में बेकार और बेजरूरत उस दौरान बताया जा रहा है जब भूमंडलीकरण की शर्तों के चलते उच्च शिक्षा में निजीकरण का दबाव महाविद्यालय, विश्वविद्यालय और शोध संस्थान तल्खी से महसूस करने लगे हैं? यही नहीं बल्कि जब अन्य विषयों में भी बुनियादी शोध के औचित्य पर सवाल उठ रहे हैं और शिक्षा धीरे-धीरे मात्र व्यावसायिक क्षमताओं के प्रशिक्षण तक सीमित होने की दिशा में बढ़ रही है।

परंतु पिछले दो दशकों में एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन भी हुआ है। इस दौरान जन संगठनों और विद्यार्थी संगठनों ने शिक्षा के व्यावहारिक और सैद्धांतिक पक्षों में गहरी रुचि लेना शुरू किया है। इन सभी ने शिक्षा की विषयवस्तु, स्कूली व्यवस्था के भीतर की राजनीति से लेकर बुजुआ शिक्षा की भूमिका और शिक्षा के बृहत प्रभावों को समझने की इच्छा जाहिर की है। विकल्पों को बनाने के लिए खोज व प्रयोग तो जारी हैं ही। जन संगठनों और जन संगठनों से जुड़े विद्यार्थी संगठनों की शिक्षा के महत्व को समझने की रुचि ने ही मुझे इस पुस्तक को पूरा करने की हिम्मत और साहस दिया। मैं एक बात जरूर कहूंगी कि 15 वर्षों तक मैदानी कार्यकर्ता रहने के बाद आज मैं महसूस कर रही हूं कि उन दिनों भी शिक्षा के सैद्धांतिक पक्षों को समझने का माहौल नहीं बना था, जोर कर्म पर था। इससे हुए नुकसान को मैं आज बहुत गहराई से महसूस करती हूं। 1980 के दशक में हालांकि कृष्ण कुमार की पुस्तक *'राज, समाज और शिक्षा'* ने यह माहौल बनाने का प्रयास किया था, परंतु हिंदी में ऐसी बहुत सी पुस्तकों की जरूरत रही है और आज और भी बढ़ गई है।

मैं प्रो. सुरेशचंद्र शुक्ला की अत्यंत आभारी हूं जिन्होंने मुझे अपना शोध प्रबंध लिखने

के लिए 'बाध्य' किया। यह पुस्तक मूलत: मेरे शोध प्रबंध पर आधारित है।

मैं सुरेश और भाग्यलक्ष्मी, मीरा सद्गोपाल, कृष्ण कुमार, कमल महेंद्रू और रमाकांत अग्निहोत्री की भी आभारी हूं जिन्होंने मेरी अनेक तरह से मदद की और साथ दिया।

मैं 'किशोर भारती' के पुराने साथियों, पलिया पिरिया और पिपरिया के सहयोगियों और होशंगाबाद के शिक्षकों की बहुत आभारी हूं। इन सभी लोगों से मैंने इतना सीखा कि मेरे जीवन को एक सार्थक दिशा मिली। सही अर्थों में मेरी शिक्षा यहीं हुई।

आंध्र प्रदेश में हैदराबाद, वारंगल, नलगोंडा, नेल्लोर के सक्रिय कार्यकर्ताओं को मेरा धन्यवाद जिन्होंने धैर्यपूर्वक मेरे प्रश्नों को सुना और उत्तर दिए।

और अंत में मैं अपने 13 वर्षीय पुत्र अबीर को बहुत स्नेह और प्यार देना चाहती हूं जिसने लगभग एक साल तक धीमी गति से चली लेखन प्रक्रिया को सहा।

1 मई 1999 साधना सक्सेना

विषयानुक्रम

लेखिका की ओर से v
मूल फोकस ix
प्राक्कथन xi

भाग एक : भारत में जन शिक्षा

1. औपचारिक शिक्षा की सीमाएं और जटिलताएं 19
2. औपचारिक शिक्षा के सुधार और विकल्प 35
3. अनौपचारिक शिक्षा : जन शिक्षा का विकल्प 53

भाग दो : शैक्षिक सिद्धांतों की समीक्षा

4. सामाजिक संदर्भों में सिद्धांतों का पुनरावलोकन 65

भाग तीन : जन शिक्षा : विकल्प और परिणाम

5. तेलंगाना में पुस्तकालय आंदोलन (1920-48) 95
6. किशोर भारती के शिक्षा कार्यक्रम 134
7. नेल्लोर में शराब विरोधी आंदोलन (1990-94) 171
8. राजस्थान महिला विकास कार्यक्रम 189
9. और अंत में 205

संदर्भ सूची 219
अनुक्रमणिका 217

मूल फोकस

आज भी हमारे देश में स्कूल जाने वाली उम्र के आधे से ज्यादा बच्चे स्कूली तंत्र के बाहर ही रह जाते हैं। स्कूली तंत्र से बाहर छूटे इन बच्चों को सरकारी भाषा में 'ड्राप आउट' और 'लेफ्ट आउट' कहा जाता है। ऐसे बच्चों को शिक्षा की मुख्य धारा में लाने के लिए औपचारिकेतर और विभिन्न प्रकार के अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम गढ़े जाते रहे हैं। भारत की साक्षरता दर भी बहुत कम है। इन गंभीर तथ्यों को बार-बार विभिन्न मंचों से दोहराकर हम सब एक-दूसरे को इस शोचनीय स्थिति की याद दिलाते रहते हैं। इस परिस्थिति की वजहों के बारे में पिछले पचास वर्षों में काफी कुछ लिखा जा चुका है। राष्ट्रीय बजट में धन के कम प्रावधान और वर्तमान शिक्षा की निरर्थकता से लेकर भूख और गरीबी जैसे ढांचागत कारणों के विश्लेषण पर कई रपटें, दस्तावेज व पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। राजसत्ता की भूमिका और उत्पीड़ितों की शिक्षा के प्रति प्रतिबद्धता भी संदेहों के घेरे में आती है। समाज वैज्ञानिकों और शिक्षा समाजशास्त्रियों ने यह मत भी समय-समय पर व्यक्त किया है कि शिक्षा का उपयोग वर्तमान व्यवस्था, मुख्य रूप से समाजीकरण यानी आम जनता को यथास्थिति को सही मानने और स्वीकार करने और विभिन्नताओं और विविधताओं को खत्म करने के अस्त्र के रूप में करती रही है। नब्बे के दशक से विश्वीकरण की प्रक्रिया के साथ ही स्वास्थ्य और शिक्षा जैसे सामाजिक क्षेत्रों में सीधा अंतर्राष्ट्रीय हस्तक्षेप भी व्यापक हो गया है। इससे परिस्थिति की जटिलता और बढ़ गई है।

परंतु इस पुस्तक में शिक्षा की पहुंच की सीमाओं के कुछ ऐसे पहलुओं पर चर्चा की गई है जो आम तौर पर अचर्चित और अनदेखे ही रहते हैं। जाहिर है कि इसके लिए एक अलग परिप्रेक्ष्य भी विकसित करने की आवश्यकता पड़ी। यह परिप्रेक्ष्य परिवर्तन के कुछ नए रास्तों की ओर इशारा भी करता है। परंतु राजसत्ता और नीति निर्धारकों के लिए सिफारिशें सुझाना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं है। उद्देश्य कुछ सामान्य निष्कर्ष पेश करना भी नहीं है। उद्देश्य तो शिक्षा के संदर्भ में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आयामों, शिक्षा और जन आंदोलन के अंतर्संबंधों, गैर-सरकारी शैक्षिक प्रयासों और संघर्षों के दौरान चले या उभरे शैक्षणिक गतिविधियों को शिक्षा की बहस के दायरों में शामिल करवाना है ताकि यह बहस ज्यादा समृद्ध हो सके और उसमें महत्वपूर्ण नए आयाम जुड़ सकें।

शिक्षा के परंपरागत और प्रगतिशील आम सिद्धांतों के तहत ऐसा माना जाता रहा है कि अधिकतर गरीब और उत्पीड़ित जनता शैक्षिक कार्यक्रमों का लाभ नहीं उठाती या उठा

पाती है। इसलिए उनके लिए बने कार्यक्रम असफल हो जाते हैं। इस बुनियादी समझ या 'संरचना' में शिक्षा ग्रहण करने वालों को निष्क्रिय पात्रों के रूप में देखा जाता है। वास्तविकता इस इकतरफे विश्लेषण से ज्यादा जटिल है। इस जटिलता को समझने के कई प्रस्थान बिंदु हो सकते हैं। उत्पीड़ित जनता द्वारा उनके लिए बने शैक्षणिक कार्यक्रमों में न जुड़ने और ऐसे मौकों का फायदा न उठाने से एक विरोधाभासी परिस्थिति खड़ी होती है यानी वे अपने 'भले', 'फायदे', 'जागरूकता', 'विकास' और जीवन को 'सुधारने' के कार्यक्रमों में आखिर क्यों रुचि नहीं लेते? इस पुस्तक में इसी विरोधाभास के अभी तक अनछुए पहलुओं की खोजबीन, विवेचना और पहचान करके विभिन्न शैक्षणिक कार्यक्रमों पर उत्पीड़ितों के प्रत्युत्तरों—अस्वीकृति या प्रतिरोध—को समझने का प्रयास किया गया है।

अभावग्रस्त और उत्पीड़ित लोगों के बीच चले शिक्षा कार्यक्रम कई बार अनपेक्षित रूप धारण कर लेते हैं और राजनीतिक संघर्ष के दायरों में घुस जाते हैं। असल में यह विचलन शैक्षणिक सिद्धांतों के लिए एक तरह का संकट-सा खड़ा कर देता है। आम तौर पर इस संकट से निबटने का सरल रास्ता चुन लिया जाता है। उसके तहत ऐसी स्थिति को शैक्षणिक दायरों से बाहर मान लिया जाता है। ऐसे में यह कहकर पल्ला झाड़ लिया जाता है कि अब यह गतिविधि शैक्षणिक नहीं रही, राजनीतिक हो गई है। इसलिए इसे राजनीतिक दायरों में ही समझा जाना चाहिए। इस पुस्तक में व्यापक शैक्षणिक परिप्रेक्ष्य में ही ऐसे विचलन को समझने का प्रयास किया गया है। यहां आम जनों को निष्क्रिय ग्रहणकर्ता नहीं माना गया है। यहां समझ यह है कि शैक्षणिक कार्यक्रमों की असफलता या उनका राजनीतिक आंदोलनों में परिवर्तित हो जाना या उनसे जन संघर्षों का उभरना आम जनों के सक्रिय प्रतिरोध और उनकी अस्वीकृति की अभिव्यक्ति है। इन आम जनों को वैसे निष्क्रियता से शैक्षणिक व्यवस्था से बाहर छूट जाने वालों या चुपचाप कष्ट झेलने वालों के रूप में देखा जाता है। इसलिए असफलताओं के आंकड़ों के महत्व को या गरीबी, जातिगत और लिंगाधारित भेदभावों और पिछड़ेपन की ढांचागत सीमाओं को; या निरर्थक पाठ्यक्रम और अपमानजनक विषयवस्तु, भाषा और तरीकों को; या अपेक्षित गुणवत्ता और सुविधाओं की कमी को; या राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी को; या व्यवस्थागत कमियों आदि के महत्व को बिना नकारे या कम न आंकते हुए भी यहां कोशिश जनता के दृष्टिकोण को समझने की है जिसका अस्तित्व मौजूदा शैक्षणिक सिद्धांतों में दिखता ही नहीं है। इसके बिना विश्लेषण अधूरा रह जाता है और परिस्थितियों का एक स्थिर (गतिहीन) चित्र उभरता है। ऐसा विश्लेषण लोगों की उनके जीवन में शैक्षणिक गतिविधियों की सार्थकता को आंकने और सोच समझकर उन्हें स्वीकार या अस्वीकार करने की क्षमता को महत्व नहीं देता।

पुस्तक का उद्देश्य अभावग्रस्त लोगों की शिक्षा की समस्याओं को समझना, वास्तविक परिस्थितियों में उनकी पड़ताल करना और उससे सिद्धांत विकसित कर उनको अभिव्यक्त करना है।

प्राक्कथन

राष्ट्र और मुख्य धारा

यह पुस्तक ऐसे वक्त में लिखी जा रही है जब जाति उत्पीड़न, अल्पसंख्यकों पर हिंसा और धार्मिक कट्टरवाद जैसी बातें अत्यंत उग्र रूप लेती जा रही हैं। इसके परिणामस्वरूप शिक्षा की मुख्य धारा में भी कट्टरवाद की घुसपैठ पहले से कहीं अधिक होती जा रही है। इसलिए शिक्षा में न्यूनतम प्रगतिशीलता को बचाना और उसकी गुंजाइश बनाना ही महत्वपूर्ण कदम हो गए हैं। साथ ही अंतर्राष्ट्रीय दबावों के कारण राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों में तेजी से परिवर्तन लाए जा रहे हैं। उदारीकरण और वैश्वीकरण के इस दौर में एक तरफ तो राष्ट्र और राष्ट्र की सीमाएं जैसी अवधारणाओं के टूटने, खत्म होने या बेमानी हो जाने की बातें हो रही हैं तो दूसरी तरफ परमाणु विस्फोट जैसे विनाशकारी कर्म करके सत्ताधारी दल राष्ट्रीय गौरव जगाने का प्रयास कर रहे हैं। पिछले पचास वर्षों में राष्ट्र की परिकल्पना की दिशा में काफी बुनियादी परिवर्तन हुए हैं। सबसे पहले तो 1947 में राष्ट्र का उदय और उसके बाद आंतरिक औपनिवेशीकरण के विरुद्ध चलते हुए संघर्षों के बावजूद 'राष्ट्र' को 'खंडित' होने से बचाने के लिए राजसत्ता के दमनात्मक प्रयास और फिर वैश्वीकरण की प्रक्रिया—जो राष्ट्र की स्वायत्तता के लिए ही एक खतरा बन गई है। यदि इसे प्रशासन और सत्ताधारियों की दृष्टि से नहीं बल्कि आम जनता के परिप्रेक्ष्य से देखें तो 'राष्ट्र' वैसे भी, अपने आपमें एक समस्यामूलक अवधारणा है। राष्ट्र का मतलब है एक राष्ट्रीयता, राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय मुख्य धारा, राष्ट्रीय नीतियां, राष्ट्रीय धरोहर, संस्कृति आदि। जनता की दृष्टि से देखने पर यहीं से समस्याओं और संघर्षों की शुरुआत होने लगती है क्योंकि जनता बहुराष्ट्रीय, बहुभाषी, बहुसांस्कृतिक है। इसलिए, राष्ट्र की परिकल्पना में वर्चस्व की अवधारणा निहित है। मैं प्रारंभ में ही इस विषय को इसलिए उठा रही हूं क्योंकि शिक्षा नीतियों और कार्यक्रमों की व्याख्या और विश्लेषण करते हुए प्रशासनिक और राजनीतिक दृष्टि से बनी राष्ट्र की इसी अवधारणा का मैं इस्तेमाल करूंगी बावजूद समस्याओं और असहमतियों के।

राष्ट्र की अवधारणा की तरह ही एक अन्य समस्यामूलक संदर्भ काल है— 'आजादी से पहले' और 'आजादी के बाद'। यह इसलिए क्योंकि ऐसा नहीं है कि नए स्वतंत्र राष्ट्र के बनने या नई सरकार के गठन से जन शिक्षा की विषयवस्तु या ढांचों में प्रसार के अलावा

कोई आमूल चूल परिवर्तन हुए थे या नई सरकार का वर्ग चरित्र बदल गया था। लेकिन ऐतिहासिक रूप से 'औपनिवेशिक व्यवस्था' से 'स्वदेशी व्यवस्था' बनना एक महत्वपूर्ण परिवर्तन तो था ही। 1947 से 'राष्ट्र' बनने के समय से लेकर आज राष्ट्र के औचित्य पर सवाल उठाने की समयावधि के बीच तक शिक्षा व्यवस्था की उपलब्धियों, सीमाओं, रुकावटों आदि का गहरा विश्लेषण करना तो इस पुस्तक की विषयवस्तु का हिस्सा नहीं है, लेकिन यहां प्रस्तुत अनुभवों और मुद्दों को संदर्भ में देखने के लिए यह जरूरी है कि इसका कम से कम एक संक्षिप्त सार अवश्य लिखा जाए। पहले अध्याय में मैंने यह करने का प्रयास किया है।

जैसे ही राष्ट्र की शिक्षा नीति, शिक्षा व्यवस्था आदि पर चर्चा की शुरुआत की जाती है वैसे ही दिक्कतें खड़ी हो जाती हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति के तहत शिक्षा के औपचारिक तंत्र से बाहर छूट गए लोगों को प्रौढ़ शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा और औपचारिकेतर शिक्षा के माध्यम से शिक्षा की मुख्य धारा और राष्ट्र की मुख्य धारा में लाने का प्रयास होता है। पर यहीं से सवाल उठने शुरू हो जाते हैं। मसलन, यह 'मेनस्ट्रीम' कैसे हुई जिसमें आधे से ज्यादा लोग हैं ही नहीं? आखिर एक ही मुख्य धारा क्यों हो? कई मुख्य धाराएं क्यों नहीं? एक ही शिक्षा नीति बनाना समरूपीकरण-एकीकरण का प्रयास है या जागरूक, सक्षम और कुशल जन शक्ति बनाना? जाहिर है कि मुख्य धारा स्कूली व्यवस्था के बाहर रह गए लोग नहीं बना सकते। उसके लिए आवश्यक ताकत, सत्ता उनके पास नहीं है। शिक्षा के इतिहास और वर्तमान में ऐसे कई शैक्षणिक प्रयास हुए हैं जो इस कथित मुख्य धारा से अलग थे। ऐसे लोगों के साथ ये प्रयास हुए जो स्कूली व्यवस्था के बाहर थे। हो सकता है जाने-अनजाने इन प्रयासों के कुछ अंश, कुछ विचार मुख्य धारा में घुसपैठ कर गए हों, परंतु राष्ट्र की बुनियादी नीतियों, दिशा और प्राथमिकताओं पर इनका कोई खास असर नहीं हुआ।

शिक्षा, बाजार का फैलाव और उदारीकरण

यह पुस्तक ऐसे वक्त में भी लिखी जा रही है जब भारत का शिक्षा तंत्र फैलकर संसार का एक विराट शिक्षा तंत्र बन चुका है लेकिन न तो शिक्षा सबको नसीब हुई, न भोजन। आम मेहनतकश लोगों का जीवन बद से बदतर और असुरक्षित हुआ है और परिस्थितियां ज्यादा जटिल। आजादी के बाद, 1947 वाला जोश भी नहीं है जिसे पुन: पैदा करने के लिए सत्ताधारियों को परमाणु विस्फोट करने पड़ रहे हैं (या ज्यादा स्पष्ट कहें तो भारतीय उपमहाद्वीप में अपना वर्चस्व जमाने के आजादी के बाद से चले आ रहे प्रयासों को अंतिम रूप देकर राष्ट्रीय गौरव का अहसास पैदा किया जा रहा है) और ज्यादातर राजनीतिक दल इसे राष्ट्रीय उपलब्धि बता रहा है। राष्ट्रवादी और देशभक्त होने की नई परिभाषाएं सामने आ रही हैं और देशविरोधी होने की भी।

वैसे तो उद्योगीकरण से यूरोप में आई संपन्नता के आधार पर यह माना जाने लगा था कि आर्थिक विकास के लिए शिक्षा का न्यूनतम स्तर और साक्षरता जरूरी है। अस्सी-नब्बे के दशक में पूर्वी एशिया में हुई अभूतपूर्व आर्थिक वृद्धि और प्राथमिक शिक्षा के प्रसार ने आर्थिक विकास में शिक्षा की सकारात्मक भूमिका को और पुख्ता कर दिया था। शायद इसी कारण से विश्व बैंक और अन्य अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों के लिए उदारीकरण के साथ-साथ भारत में प्राथमिक शिक्षा और साक्षरता का प्रसार एक महत्वपूर्ण मुद्दा बन गया है। इसके अलावा, क्योंकि अफ्रीका और लातीनी अमरीकी देशों में उदारीकरण और उससे जुड़ी शर्तों के कारण सामाजिक क्षेत्र का बजट कटने के दुष्परिणाम काफी चर्चित और प्रचारित हुए हैं इसलिए आर्थिक उदारीकरण का मानवीय चेहरा दिखाने की जरूरत विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को हुई। इसलिए भी यह जरूरी हो गया कि प्राथमिक शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे सामाजिक मुद्दों पर धन खर्च किया जाए। इसलिए आर्थिक उदारीकरण तथा तथाकथित मुक्त बाजार की हिमायती सत्ताओं के लिए नब्बे के दशक से नई आर्थिक नीतियां लागू करने वाले देशों में सामाजिक क्षेत्र की ओर ध्यान देना एक मजबूरी भी बन गई। इसी मजबूरी के तहत सेफ्टी-नेट जैसी परिकल्पनाओं का उदय हुआ।

परंतु शिक्षा और स्वास्थ्य कह देने भर से यह तय नहीं हो जाता कि विश्व में वर्चस्व स्थापित करने का प्रयास करने वाली ताकतें अपनी राजनीति बदल रही हैं या वास्तव में मानवीयता उनका धर्म बन गया है। असली मुद्दा यह है कि शिक्षा और स्वास्थ्य के तहत वास्तव में क्या होगा या हो रहा है। बहसों और चर्चाओं में आम तौर पर ये शब्द अपरिभाषित ही रहते हैं। यह मान लिया जाता है कि सब एक ही जैसी बात कर रहे हैं, पर क्या यह सही है? जब शिक्षा की बात ऐसी होती है तो क्या राजसत्ता, विश्व बैंक और पाओलो फ्रेरे जैसे शिक्षाविदों, सबकी मंशाएं समान होती हैं? क्योंकि शिक्षा का उद्देश्य मात्र क्षमताओं का विकास करना ही नहीं होता है इसलिए शिक्षा की एक महत्वपूर्ण कसौटी यह भी है कि शिक्षा राजनीतिक चेतना को कुंद करती है या पैना। उदारीकरण और बाजार के फैलाव के लिए कैसी शिक्षा की जरूरत है।

यह मानना एक प्रकार का घातक भोलापन है कि शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे 'भले' विषयों को लेकर सबकी चिंताएं, सरोकार और उद्देश्य समान होते हैं, भले होते हैं। विकसित देशों के आर्थिक संकट के कारण वे विकासशील देशों में बाजार फैला रहे हैं। विकासशील देशों खास तौर से भारत, का मध्यम वर्ग बहुत विशाल है। यही संभावित क्रेता भी है। विकसित राष्ट्रों को बाजार फैलाने के साथ ऐसी शिक्षा तथा राजव्यवस्था की भी जरूरत है जो इस काम में मददगार हो। इसलिए स्पष्ट है कि उनके लिए शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसमें बाजार के हित सर्वोपरि हों। प्राथमिक शिक्षा के प्रसार से बाजार फैलाने की यह संभावना दिखती है खास तौर से पूर्वी एशिया के अनुभवों के बाद। विकसित देशों की दूसरी बड़ी चिंता रही है भारत की बढ़ती जनसंख्या। 1993 की यू.एन.डी.पी. (UNDP) की ह्यूमन डेवलपमेंट रिपोर्ट में इस चिंता को इस प्रकार जाहिर किया गया है : 'वास्तविक

खतरा यह है कि वैश्विक गरीबी—बिना पासपोर्ट के नशीली दवाइयों, बीमारियों, आतंकवादियों, प्रवासियों—कई अप्रसन्न करने वाले रूपों में दूसरे देशों में यात्रा करना शुरू कर देगी' (1993 : 8)।

शायद इसलिए इस समय बालिका शिक्षा की खूब चर्चा हो रही है। इस संदर्भ में मुख्य जोर जनसंख्या शिक्षा पर है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी महिला स्वास्थ्य में प्राथमिकता प्रजनन स्वास्थ्य (रिप्रोडक्टिव हैल्थ) है। शिक्षा और प्रजनन स्वास्थ्य गड्ड-मड्ड हो चले हैं। सतत शिक्षा केंद्रों या *साथिन* जैसे ग्राम स्तर के सभी कार्यकर्ताओं को इसमें भिड़ाया जा रहा है। ये चिंताएं न केवल अंतर्राष्ट्रीय अनुदानों और ऋणों की प्राथमिकताएं तय कर रही हैं, वरन देशी बजट के मद और शिक्षा की परिभाषा और विषयवस्तु को भी प्रभावित और निर्धारित कर रही हैं। और सबसे बुनियादी बात यह है कि ऐसा मानस तैयार कर रही हैं जो उदारीकरण की शर्तों के तकलीफदेह और अन्यायपूर्ण व्यापक आर्थिक तथा सामाजिक असर अनदेखे करके यह माने कि बढ़ती जनसंख्या और अशिक्षा ही भारत की समृद्धि तथा खुशहाली में रुकावट हैं, यानी गरीबी, भुखमरी, जाति और लिंग आधारित विषमताएं, आर्थिक और सामाजिक शोषण, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय लूट आदि सभी मुद्दे जो गैर-बराबरी के लिए जिम्मेदार हैं, जनसंख्या रूपी ढाल के नीचे ढंक गए। यहां यह कह देना जरूरी है कि जनसंख्या का मुद्दा अपने आपमें एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। यह अभिन्न रूप से औरतों के स्वास्थ्य, समाज में औरतों और लड़कियों के स्थान, निर्णय लेने में उनकी भागीदारी, गर्भ निरोधकों में चयन का अधिकार, गरीबी-कुपोषण-बाल मृत्यु का दुश्चक्र जैसे गंभीर मुद्दों से जुड़ा है। यह भी ध्यान रखने की जरूरत है कि समाजशास्त्रियों ने उच्च बाल और शिशु मृत्यु दर, कुपोषण, गरीबी, स्वास्थ्य सुविधाओं की व्यापक कमी और अधिक बच्चे—ताकि कम से कम दो-तीन तो जीवित रहें—और जिंदा रहने की रणनीति के बीच सीधे संबंध पर भी प्रकाश डाला है। इन सब पर चर्चा न करके शिक्षा-स्वास्थ्य-जनसंख्या को समानार्थी बनाकर शिक्षा की बहस की दिशा बदली जा रही है।

हालांकि गरीबी और भुखमरी को दूर करने में राजसत्ता ने कोई प्रतिबद्धता नहीं दिखाई है। और शिक्षा के सर्वव्यापीकरण में ये बुनियादी समस्याएं बड़ी बाधा के रूप में उभरकर आती हैं। लेकिन शिक्षा की बहस में इन कारणों पर से फोकस हटाकर साधनों की कमी या पालकों की अरुचि तक ही सीमित हो जाती है। असल में जब गरीबों, पिछड़ी जातियों, आदिवासियों और महिलाओं की शिक्षा की बात होती है तब संदर्भ बहुत बदल जाता है। ये संदर्भ उन अल्प-सुविधाप्राप्त, अभावग्रस्त और उत्पीड़ित लोगों का जीवन है जो अधिकतर असंगठित, पूंजीविहीन और भूमिहीन हैं। इनके लिए कड़ी मेहनत के बावजूद इज्जत और आत्मसम्मान से दो वक्त का भोजन जुटा पाना भी कठिन संघर्ष है। एक तरफ जहां विभिन्न विकास परियोजनाओं के कारण ये लोग अपनी जमीन, जंगल से बेदखल हुए और अन्य प्राकृतिक स्रोतों के तहस-नहस होने के कारण अमानवीय जीवन जीने को मजबूर हुए हैं, वहीं दूसरी तरफ उनके 'उत्थान' के लिए बनने वाली अनेकानेक योजनाओं का लाभ कभी

उन तक नहीं पहुंचता है (अरोड़ा, डाली, 1995)। ऐसा जीवन जीने वाले लोग जिसे अमानवीय जीवन या 'सब-ह्यूमन एक्जिस्टेंस' कहा जाता है, जो गरीबी की रेखा के नीचे माने जाते हैं, उनकी संख्या 1992 में करीब 38 करोड़ थी (वैकल्पिक आर्थिक सर्वे : 1996-97)। यानी एक मोटे अंदाज से आज हमारे देश की एक-तिहाई से ज्यादा जनसंख्या ऐसा जीवन जीने को मजबूर है। डाक्टरों के एक स्वायत्त समूह, मेडिको फ्रेंड सर्किल, के एक लेख के अनुसार, 'हमारे देश की जनसंख्या का करीब पांचवां हिस्सा (यानी 20 करोड़ लोग) रोज भूखे सोते हैं, दो-तिहाई बच्चे कुपोषण का शिकार हैं और हमारे देश में मौतें आम तौर पर दस्त, कुपोषण, श्वसन तंत्र में संक्रमण, टी.बी. और मलेरिया के कारण होती हैं' (एम.एफ.सी. 1988, 2199)। अधिकतर ये ही वे लोग हैं जो शिक्षा तंत्र से बिलकुल अछूते रह जाते हैं। इनकी दुनिया योजनाएं और नीतियां बनाने वाले ताकतवर लोगों से अलग दुनिया है जिसके कष्ट, उम्मीदें, दृष्टिकोण, निराशाएं, महत्वाकांक्षाएं और संघर्ष अलग संदर्भ बनाते हैं। मौजूदा शिक्षा तंत्र—औपचारिक और अनौपचारिक या अन्य सभी—ताकतवर वर्गों के घेरों में जकड़ा हुआ है और अल्प-सुविधाप्राप्त लोगों की शिक्षा इस घेरे को लांघकर 'सीमा' के दूसरी तरफ पहुंचकर ताकत (सत्ता) के पुनर्वितरण से ही संभव है। मूल प्रश्न है कि वह कैसी शिक्षा होगी जो ताकत के इस पुनर्वितरण को सफल करने के संघर्ष में कुछ योगदान दे?

शिक्षा के मौके सबको मिलने चाहिए, इसमें तो दो राय होने की गुंजाइश नहीं है, पर भोजन और आत्मसम्मान से जीवन जीने का हक मिलना भी उतना ही (कम नहीं) जरूरी है। शिक्षा के समान मौकों और समानता के लिए संघर्ष न तो एक-दूसरे से जुदा हैं और न ही प्रश्न यह है कि क्या पहले हो और क्या पीछे। शिक्षा का सर्वव्यापीकरण मात्र शिक्षा का ही नहीं बल्कि राजनीतिक संघर्ष का मुद्दा है।

असमानताएं, विविधताएं, विभिन्नताएं और शिक्षा

भारत बहुत विभिन्नताओं और असमान आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों वाला एक देश है। इसलिए यहां के अलग-अलग हिस्सों में विकास और शिक्षा की राष्ट्रीय नीतियों के बहुत असमान (अलग-अलग) परिणाम सामने आए हैं। इन असमानताओं ने विभिन्न प्रकार के तनावों, विरोधाभासों और सशक्त जन संघर्षों को जन्म दिया है। ये संगठन पर्यावरण, विकास और आर्थिक नीतियों, महिला उत्पीड़न और पितृसत्ता, दलितों और अल्पसंख्यकों पर हिंसा जैसे जनविरोधी पहलुओं को लेकर संघर्षरत हैं। विषमताओं की हद यह है कि अभी भी देश के काफी हिस्से घोर सामंतवाद में जकड़े हुए हैं। कई हिस्से आंतरिक औपनिवेशीकरण के शिकार हैं और उसके खिलाफ जूझ रहे हैं, जैसे उत्तर-पूर्वी क्षेत्र। पर कुछ छोटे-छोटे क्षेत्रों में कहीं उद्योगीकरण तो कहीं हरित क्रांति के कारण तुलनात्मक रूप से ज्यादा समृद्धि भी आई है और सामंती-व्यवस्था जैसी जकड़न वहां

मौजूद नहीं है। इन समृद्ध क्षेत्रों में भी पूंजीवादी शोषण, नई आर्थिक नीति और हरित क्रांति के दुष्परिणामों के खिलाफ मजदूरों के संघर्ष खड़े हुए हैं। महिलाओं और दलितों के शोषण तथा बढ़ते दमन ने महिलाओं और दलितों के संघर्षों को भी और तीखा किया है। इसके बावजूद देश के कई हिस्से न केवल आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से अत्यंत पिछड़े हुए हैं, वरन वहां संघर्ष की गतिविधियां भी नहीं के बराबर हैं। राजसत्ता द्वारा चलाए जाने वाले विकास और शिक्षा के कार्यक्रमों के देश के अलग-अलग हिस्सों में असमान परिणामों और इन असमान परिस्थितियों के बीच सीधा संबंध भी देखा जा सकता है। राष्ट्रीय साक्षरता मिशन द्वारा चलाया गया साक्षरता कार्यक्रम इसका एक सटीक उदाहरण है। उन जिलों में जहां राजनीतिक चेतना का स्तर ऊंचा है, जहां किसी भी प्रकार के जन संघर्ष, प्रतिरोध या संगठनात्मक गतिविधि का इतिहास है या जहां कुछ गैर-सरकारी समूह शिक्षा व विकास के क्षेत्र में प्रभावशाली काम कर रहे हैं, ऐसे क्षेत्रों में जागरूक लोगों तथा स्थानीय समूहों और संगठनों ने सक्रिय होकर ऐसे मौकों का फायदा उठाया है और साक्षरता के बहाने समाज में हलचल पैदा करने में कुछ हद तक सफलता प्राप्त की है। कुछ क्षेत्रों में ऐसी गुंजाइश का उपयोग जन संगठन बनाने या आंदोलनों को सशक्त करने के लिए भी किया गया। हालांकि पश्चिम बंगाल को छोड़कर अधिकतर दक्षिणी राज्यों के जिलों में भी साक्षरता की उपलब्धि के स्तर, गुणवत्ता और टिकाऊपन में बहुत असमानता रही है। पूरे देश के स्तर पर ऐसी परिस्थिति में साक्षरता के संबंध में विविधताओं को नजरअंदाज कर सामान्य निष्कर्ष निकालना काफी गड़बड़ चित्र पेश करता है। यह बात जितनी साक्षरता के लिए लागू होती है उतनी ही जन शिक्षा के अन्य कार्यक्रमों के लिए भी। बहरहाल शिक्षा के जरिए राजसत्ता के समरूपीकरण के प्रयासों ने प्रतिरोधों को भी जन्म दिया है।

मैं इस चर्चा को भूमिका में इसलिए उठा रही हूं क्योंकि इस चर्चा से मुझे इस पुस्तक के मकसद तक पहुंचने में मदद मिली है। सामान्यीकरण की प्रक्रिया बहुत से ऐसे महत्वपूर्ण प्रयासों को नजरअंदाज कर देती है, छिपा देती है जो न केवल समाजशास्त्रीय दृष्टि से ही नहीं वरन आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं और परिणामों की विविधता दरशाते हैं। मैं इस पुस्तक में ऐसे ही कुछ अनुभवों पर चर्चा करूंगी जो शिक्षा और राजनीति के जटिल रिश्तों की कई परतों को खोलते हैं, परंतु आम शैक्षिक बहस में चर्चा के बिंदु ही नहीं बनते। उम्मीद यह है कि विश्लेषण का यह ढांचा (फ्रेमवर्क) शैक्षिक कर्म में लगे लोगों को अपने अनुभवों की व्याख्या करने में सहायक होगा। उम्मीद यह भी है कि शायद ऐसे प्रयासों में ही अन्याय, शोषण और दमन का जीवन जीने वाले लोगों के लिए शिक्षा और संघर्ष में तालमेल बैठाने की संभावनाएं छिपी हों। एक बात मैं फिर कहूंगी कि इसका उद्देश्य न तो कोई सामान्य निष्कर्ष निकालना है और न ही नीति निर्धारकों के लिए कोई सिफारिशें पेश करना है। इतनी विविधताओं और असमानताओं के बीच सामान्य निष्कर्ष निकालना संभव ही नहीं है। यहां तो उद्देश्य उस पैटर्न को पहचानना और सामने रखना। जो अभी तक नजरअंदाज होता रहा है।

भाग एक

भारत में जन शिक्षा

भूमिका : *आजादी के बाद भारत के संविधान में प्राथमिक शिक्षा के प्रति प्रतिबद्धता दिखाई गई थी। इसके तहत संविधान के अनुच्छेद 45 में लिखा गया था कि राजसत्ता संविधान लागू होने के दस वर्षों के भीतर ही 14 वर्ष की उम्र के सभी बच्चों के लिए मुफ्त प्राथमिक शिक्षा (पहली से आठवीं तक) का प्रावधान करेगी यानी 1960 तक यह काम पूरा हो जाना चाहिए था। पिछले एक-दो दशकों में इस बात का हवाला देना एक रस्म जैसा बन गया है। इसे इतनी बार दोहराया जाता है कि अब यह एक अर्थहीन-सा वाक्य या शब्दाडंबर लगने लगा है। शब्दाडंबर इसलिए कि इसके बाद राजसत्ता द्वारा ऐसी कई तारीखें तय की गईं और बीत गईं पर न तो शिक्षा का सर्वव्यापीकरण हुआ और न ही इस असफलता की गहरी पड़ताल हुई। ऐसी स्थिति में प्राथमिक शिक्षा के सर्वव्यापीकरण के प्रयासों की गंभीरता पर प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है।*

वास्तविकता यह है कि अधिकतर गरीब, उत्पीड़ित, पिछड़े हुए और दलित लोग, बच्चे तथा बड़े, लड़कियां और औरतें ही वर्तमान शिक्षा तंत्र के बाहर रह जाते हैं। बावजूद शिक्षा तंत्र में अभूतपूर्व प्रसार के आजादी के बाद इस स्थिति में कुछ विशेष परिवर्तन नहीं आया है। ऐसा क्यों हुआ और इसके साथ ही पिछले पचास वर्षों में हुए अनौपचारिक शिक्षा के वैकल्पिक प्रयासों की एक संक्षिप्त समीक्षा अगले अध्याय में प्रस्तुत की गई है।

1. औपचारिक शिक्षा की सीमाएं और जटिलताएं

प्राथमिक शिक्षा की पहली महत्वपूर्ण सीमा यह है कि यह स्कूली उम्र के अधिकतर (सभी) बच्चों तक पहुंच पाने में असफल रही है। इसमें एक बड़ी संख्या उन बच्चों की भी है जो पहली-दूसरी तक आते-आते ही स्कूलों के बाहर हो जाते हैं। दूसरा, जो बच्चे स्कूल पहुंच भी पाते हैं वे खास कुछ सीख नहीं पाते हैं। यानी औपचारिक तंत्र की शैक्षणिक प्रभावशीलता न्यूनतम है। यह बात जोर देकर बार-बार कहने की आवश्यकता इसलिए होती है क्योंकि बच्चों का हाजिरी रजिस्टर में नाम चढ़ जाना भर और उनका पांचवीं कक्षा तक टिक पाना अपने आपमें खास उपलब्धि नहीं है। बल्कि एक दृष्टि से ज्यादा नुकसान ही है क्योंकि पांच वर्षों तक स्कूली व्यवस्था में रहने से बच्चों का समाजीकरण हो जाता है। निम्न जाति और वर्गों के बच्चों को स्कूल में भी अपनी सामाजिक हैसियत का आभास करवा दिया जाता है। उसका पालन करना और उसे स्वीकारने का मानस भी बनने लगता है। इसलिए बच्चों का मात्र स्कूलों तक पहुंच जाना कितना फायदेमंद है यह अत्यंत विवादास्पद मुद्दा है।

स्कूलों में निम्न भरती, उपस्थिति और टिकने की दर

नेशनल सेंपल सर्वे (1991) के आंकड़ों के अनुसार 6 से 14 वर्ष की उम्र के करीब 7.3 करोड़ बच्चे स्कूलों में दाखिल नहीं थे (तिलक, 1996 : 279)। इन आंकड़ों को भी एकदम सही नहीं माना जा सकता क्योंकि आम तौर पर स्कूलों में दाखिले के आंकड़े बहुत बढ़ा-चढ़ाकर पेश किए जाते हैं। कक्षा एक और दो में भी स्कूल जाने वाले बच्चों की वास्तविक संख्या दावे से कहीं कम होती है। एक सरकारी समिति ने ही बताया था कि ज्यादा दाखिले दिखाने का दबाव शिक्षकों पर इतना अधिक होता है कि स्कूल न आने वाले या स्कूल छोड़ देने वाले बच्चों के नाम भी हाजिरी राजिस्टर से काटे नहीं जाते हैं (भारत सरकार, 1990)। मध्याह्न भोजन के कार्यक्रम के तहत किसी भी बच्चे के हिस्से का राशन प्राप्त करने के लिए 80 प्रतिशत उपस्थिति जरूरी है। उपस्थिति बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने का यह एक और कारण है। तथ्य यह है कि कुछ स्कूलों में तो बच्चे केवल दलिया खाने के लिए ही स्कूल पहुंचते हैं। राजस्थान के 'लोक जुंबिश' के कार्यकर्ताओं ने बताया कि स्थिति

इससे कहीं ज्यादा जटिल है। पहले तो उन बच्चों के नाम रजिस्टर में दर्ज कर लिए जाते हैं जो वास्तव में कभी स्कूल नहीं आते। पूरे वर्ष भर उनके नाम दर्ज रहते हैं और वर्ष के अंत में नाम काट दिए जाते हैं। अगले वर्ष स्कूलों में दाखिला अभियान में ये नाम फिर रजिस्टर में दर्ज कर लिए जाते हैं और दाखिला अभियान सफल दिखने लगता है। यानी दाखिला अभियान से जुड़े लाभ और हानियां आंकड़ों का काफी हेर-फेर करवाते हैं। इसमें सही स्थिति का आकलन काफी कठिन काम है।

यह सही है कि 1947 के बाद भारत में प्राथमिक शिक्षा का अभूतपूर्व प्रसार हुआ है। यदि सरकारी आंकड़े देखें तो मालूम होता है कि 1995-96 तक करीब 10.9 करोड़ बच्चों ने 1 लाख 71 हजार 216 प्राथमिक शालाओं में दाखिला लिया था। सरकारी दावा है कि 1995 तक स्कूल जाने वाली उम्र के सभी बच्चों को एक किलोमीटर की दूरी पर प्राथमिक शालाएं उपलब्ध हो गई थीं (भारत सरकार, 1996-97)। कहा यह भी जाता है कि भारत का प्राथमिक शिक्षा तंत्र दुनिया का सबसे बड़ा शिक्षा तंत्र है। इस अभूतपूर्व प्रसार के बावजूद सरकारी आंकड़े ही बताते हैं कि वर्ष 1996-97 में 36 प्रतिशत से ज्यादा बच्चे प्राथमिक तक और करीब 56.5 प्रतिशत बच्चे माध्यमिक स्तर तक आते-आते पढ़ाई छोड़ देते हैं (भारत सरकार, 1996)। यानी आधे से अधिक बच्चे माध्यमिक स्तर तक आते-आते औपचारिक व्यवस्था से बाहर हो जाते हैं। 1992 में 'सबके लिए शिक्षा' पर नौ सबसे अधिक जनसंख्या वाले देशों का एक शिखर सम्मेलन दिल्ली में हुआ था। इसकी अंतिम रपट के अनुसार तो पहली कक्षा में दाखिल हुए आधे बच्चे पांचवीं तक पहुंचने के पहले ही स्कूल छोड़ देते हैं और छठी कक्षा में दाखिल हुए दो-तिहाई बच्चे आठवीं कक्षा तक पहुंचने के पहले।

दाखिला दर में क्षेत्रीय और लिंग आधारित विभिन्नताएं भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। सर्वेक्षण आधारित दाखिले और उपस्थिति के आंकड़े दरशाते हैं कि गांवों में रहने वाली 12 से 14 वर्ष उम्र की करीब आधी लड़कियों का कभी किसी स्कूल में दाखिला नहीं हुआ और भारत के चार सबसे पिछड़े राज्यों यानी बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और मध्य प्रदेश में यह संख्या दो-तिहाई से भी अधिक है (विसारिया, 1993)। दाखिला दर के अलावा स्कूलों में उपस्थिति और टिकने की निम्न दर सचमुच चिंतित करने वाली है।

स्कूलों में खराब उपलब्धि स्तर

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में शिक्षा की गुणवत्ता बढ़ाना एक प्रमुख लक्ष्य माना गया था (भारत सरकार, 1986)। इस संदर्भ में गोविंदा और वर्गीज का एक दिलचस्प अध्ययन है। यह अध्ययन उन्होंने मध्य प्रदेश के कुछ स्कूलों में पढ़ाई की गुणवत्ता जांचने के लिए किया था। इसके परिणाम काफी कुछ सोचने को मजबूर करते हैं। इस अध्ययन का उद्देश्य

स्रोतों के प्रावधान, पढ़ने-सीखने की प्रक्रिया और शैक्षणिक उपलब्धियों के संदर्भ में प्राथमिक शिक्षा की गुणवत्ता का विश्लेषण करना था। तीन पिछड़े हुए और दो तुलनात्मक रूप से बेहतर क्षेत्रों के पांच शाला संकुलों में यह अध्ययन किया गया था। अध्ययन के परिणाम दिखाते हैं कि पांच वर्षों तक स्कूलों में जाने के बाद भी इन मोहल्लों के जिन बच्चों पर परीक्षण किया गया था उनमें से सिर्फ 10 प्रतिशत बच्चे हिंदी में और 5 प्रतिशत बच्चे गणित में बुनियादी ज्ञान और कौशल हासिल कर पाए (गोविंदा, 1993 : 16)।

स्कूलों का प्रसार हो जाना भर अपने आपमें शिक्षा हासिल हो जाना सुनिश्चित नहीं करता। सरकारी स्कूलों का स्तर लगातार गिरता जा रहा है। इन स्कूलों की स्थिति बद से बदतर होने के साथ-साथ प्राइवेट स्कूलों की संख्या भी बढ़ती जा रही है। बड़े शहरों में उभरते हुए प्रभावशाली मध्यम वर्ग स्कूल की पढाई के स्तर में सुधार के लिए दबाव बना सकते हैं, पर इस प्रभावशाली मध्यम वर्ग के अधिकांश लोग अपने बच्चों को प्राइवेट स्कूलों में भेजते हैं। यानी सरकारी स्कूलों की बदतर होती स्थिति से इन लोगों का कोई सरोकार नहीं होता। छोटे शहरों, कस्बों और गांवों की स्थिति और भी खराब है। वहां न पढ़ाई होती है और न ही बच्चे कुछ सीख पाते हैं। लेकिन जनरल प्रोमोशन की नीति के तहत (पहली और दूसरी कक्षा में) या अपनी वेतन वृद्धि रुकने के डर से शिक्षक उन्हें उत्तीर्ण करके अगली कक्षा में भेज देते हैं। इस प्रकार आम तौर पर ग्रामीण स्कूलों में पढ़े बच्चे पांचवीं पास कर लेने के बावजूद सरल पुस्तकें और निर्देश पढ़कर समझने में असमर्थ होते हैं और गणित की सरल गणनाएं तक नहीं कर पाते।* प्राइवेट स्कूलों के अलावा पिछले दो दशकों में एक और परिवर्तन भी आया है। सरकारी स्कूलों के शिक्षक बड़े पैमाने पर प्राइवेट ट्यूशन करते हैं यानी स्कूलों में पढ़ाई न होना और शिक्षक के घर पर अतिरिक्त पैसे देकर पढ़ाई होना एक आम बात होती जा रही है। पहले प्राइवेट ट्यूशन कमजोर बच्चों के लिए अतिरिक्त मदद के रूप में होती थी, परंतु कोचिंग क्लासेस के धंधे ने अब प्राथमिक स्तर के स्कूलों में भी प्राइवेट ट्यूशन की बीमारी फैला दी है (ओमवेट, गेल : *हिंदू*, 4.11.98)।

गांवों के स्कूलों की, खास तौर से उत्तर भारत के स्कूलों की अभावग्रस्त स्थितियों जैसे भवन न होना या जर्जर भवन, कम शिक्षक, पढ़ाने की सामग्री न के बराबर होना आदि को देखते हुए ऐसा भ्रम हो सकता है कि शायद तुलनात्मक रूप से शहरी सरकारी स्कूलों में शैक्षिक उपलब्धि का स्तर बेहतर होगा। परंतु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। कुछ अध्ययनों से पता चलता है कि कई जगहों पर तो शहरी बच्चों की उपलब्धि का स्तर

---

* मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले की 16 माध्यमिक शालाओं में जब 1972 में प्रयोगाधारित विज्ञान पढ़ाने का कार्यक्रम शुरू किया गया तब सबसे बड़ी अड़चन यह आई कि छठी के बच्चे भी सरल-से-सरल निर्देश या विवरण पढ़ ही नहीं पाते थे. जो बच्चे पढ़ भी लेते थे वे उसे समझने में असमर्थ होते थे. शिक्षकों के अनुसार पिछले तीन दशकों में यह स्थिति सुधरी नहीं, बल्कि बदतर ही हुई है.

और भी खराब है जो काफी आश्चर्यजनक बात है (गोविंदा, 1995, 33)। भारत जैसे विशाल, गैरबराबरी, अन्याय और विविधताओं वाले देश में शिक्षा के द्वारा समरूपीकरण के या एकरूपता (होमोजिनाइजेशन) लाने के प्रयास सफल हुए या नहीं, यह तो विवादास्पद विषय है, परंतु आर्थिक विकास के लिए न्यूनतम दक्षता तो हासिल नहीं हुई है। विश्व बैंक की हाल की एक रपट, प्राथमिक शिक्षा की उपलब्धियां और चुनौतियां (प्राइमरी एजूकेशन : एचीवमेंट्स एंड चैलेंजेस, 1996) के अनुसार 'भारत में शैक्षणिक उपलब्धि का स्तर बहुत निम्न है। वे बच्चे जो प्राथमिक शिक्षा के अंतिम वर्ष तक पहुंच पाते हैं वे भी आम तौर पर आधे से भी कम पाठ्यक्रम पर प्रवीणता हासिल कर पाते हैं' (सिटिजंस रिपोर्ट, 1997, 2)। स्कूलों की इस प्रभावहीनता और सालों स्कूल जाने के बाद भी पढ़ना-लिखना न सीख पाने का जो असर बच्चों पर हो सकता है उसकी ओर ध्यान बहुत कम दिया जाता है।

बहुत से मां-बाप अपने बच्चों का स्कूल इसलिए छुड़वा देते हैं क्योंकि बच्चे वहां कुछ सीखते ही नहीं हैं। बहुत से बच्चे खुद ही स्कूल जाना छोड़ देते हैं क्योंकि वहां पढ़ाई नहीं, बल्कि पिटाई होती है। जहां लड़कियों के लिए भी पुरुष शिक्षक हैं वहां छोटी लड़कियों के साथ भी यौन दुर्व्यवहार होते हैं। निम्न जातियों के बच्चों को अतिरिक्त पिटाई, जातिगत उलाहने, गालियां और अन्य तरह का अपमान भी झेलना पड़ता है। जातिगत पूर्वग्रह बहुत व्यापक और गहरे हैं। पूर्वी दिल्ली के शकरपुर इलाके के एक स्कूल की पुरानी दलित छात्राओं ने टेलीविजन की एक टीम से कहा कि उन्होंने स्कूल इसलिए छोड़ा क्योंकि शिक्षिकाएं उनको हमेशा यह कहती थीं कि उनके हाथ में झाड़ू अच्छी लगती है, पेन नहीं। इन लड़कियों को यह भी सुनना पड़ता था कि वे नाली के कीड़े हैं। जब इस टेलीविजन टीम ने शाला की प्रिंसिपल से छात्राओं के इस कथन पर टिप्पणी करने को कहा तो प्रिंसिपल ने कहा कि हम ऐसे कहेंगे तब तो शिक्षा का मतलब ही बदल जाएगा। 'हमें तो इन कीड़ों को ऊपर उठाना है। कीचड़ से खाद बनाना है।' बात सिर्फ शिक्षक के भेदभावपूर्ण व्यवहार की नहीं है। इससे भी गंभीर बात यह है कि ऐसी परिस्थितियों में बच्चे शिक्षक के मत को मान लेते हैं, यानी दलित होने के कारण उनमें कुछ कमी है और वे पढ़ने के काबिल ही नहीं हैं। अथवा दलित होने के कारण वे धीरे सीख पाते हैं। जो बच्चे इस मत को नहीं स्वीकारते, वे पिटते हैं या स्कूल छोड़ देते हैं।

इसके अलावा मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, हरियाणा, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों की सामंती व्यवस्था, भूमि का असमान वितरण, पितृसत्तात्मकता आदि जैसी परिस्थितियां गरीब और दलित जाति के बच्चों की शिक्षा की परिस्थितियों को और जटिल तथा नकारात्मक बना देती हैं। इन कारकों पर व्यवस्थित अध्ययन न के बराबर हैं। इनकी झलक दलित साहित्य या कुछ प्रगतिशील लेखकों की कहानियों में ही मिलती है। आर्थिक अभाव और घोर सामाजिक उत्पीड़न, जो आम तौर पर स्कूली व्यवस्था में भी बरकरार रहता है, किस प्रकार के प्रभाव बच्चों के मानस पर छोड़ता है और शैक्षणिक उपलब्धि के स्तर में बाधक

बनता है ये मुद्दे शोध के हिस्से नहीं बनते हैं। स्कूलों की इस चिंताजनक परिस्थिति से यह प्रश्न भी उठता है कि पांच वर्षों तक स्कूल जाने के बाद भी यदि बच्चे पढ़ना-लिखना नहीं सीख पाते तो क्या उनके मन में शिक्षा के प्रति गहरी कुंठाएं नहीं पनपती होंगी? या यह अहसास और गहरा नहीं होता होगा कि हम इस लायक ही नहीं हैं? (शुक्ला रश्मि, 1998) ये असफलताएं बच्चों की अपनी आत्मछवि, आत्मसम्मान, आत्मविश्वास पर कैसे चोट करती हैं इसकी समझ शिक्षा जगत में न के बराबर है।

आखिर अभावग्रस्त लोग शिक्षा से क्यों वंचित रह जाते हैं?

लोगों के अभावग्रस्त और उत्पीड़ित होने के कारण कुछ भी हो सकते हैं—उनकी जाति, लिंग या आर्थिक हैसियत। इन लोगों तक औपचारिक शिक्षा का न पहुंच पाना एक गंभीर राजनीतिक और सामाजिक असफलता है। राजसत्ता ने पिछड़े और वंचित लोगों की स्थिति में परिवर्तन लाने की शिक्षा जैसी न्यूनतम शर्त भी पूरी नहीं की है। इसके लिए कई चीजों को जिम्मेदार ठहराया जाता है। ज्यां ड्रेज के अनुसार इसके कारण हैं, "शिक्षा नीतियों में विभिन्न कमजोरियां, शिक्षा में निम्न सार्वजनिक खर्च समेत नियोजन में अभिजात वर्ग की ओर झुकाव, स्कूली व्यवस्था में जवाबदेही की गहरी कमी और लड़कियों की शिक्षा की कम प्राथमिकता। ज्यादा बुनियादी स्तर पर सार्वजनिक नीतियों की ये कमियां वंचित और अल्प-सुविधाप्राप्त लोगों की सीमित राजनीतिक शक्ति तथा सार्वजनिक चर्चाओं और बहसों में बुनियादी शिक्षा की तरफ ध्यान न दिया जाना दरशाता है" (ज्यां ड्रेज, 1995 : 1)।

संक्षेप में असफलताएं तीन प्रकार की हैं जिनके कारण प्राथमिक शिक्षा के औचित्य पर ही गंभीर सवाल खड़े हो गए हैं। एक, स्कूली व्यवस्था का स्कूल जाने वाली उम्र के करोड़ों बच्चों की पहुंच के बाहर होना; दूसरा, जो बच्चे स्कूलों में पहुंच भी गए हैं उनका विभिन्न सामाजिक और आर्थिक कारणों से स्कूली व्यवस्था से बाहर फेंका जाना; और तीसरा, वे बच्चे जो बावजूद रुकावटों के इस व्यवस्था में कुछ वर्षों तक टिक भी जाते हैं उनका स्कूलों में कुछ सीख न पाना (बल्कि शायद अपना आत्मसम्मान और भरोसा खो देना)।

राजसत्ता की शिक्षा नीतियों की असफलताओं को ध्यान में रखते हुए यह समझना जरूरी है कि किस हद तक स्कूली व्यवस्था के अंदरूनी कारण और किस हद तक बाहरी कारण इस स्थिति के लिए जिम्मेदार हैं।

ऐसा नहीं है कि बुनियादी शिक्षा के सर्वव्यापीकरण न हो पाने के कारणों पर गहराई से चर्चा और विश्लेषण न हुआ हो या यह बात समझी न गई हो। यहां तक कि सरकारी दस्तावेजों और रपटों में भी यह साफ तौर पर और बार-बार दर्ज हो चुका है कि जिस

तरह की गरीबी तथा भुखमरी इस देश में व्याप्त है और बढ़ती ही जा रही है उसके चलते शिक्षा के सर्वव्यापीकरण में गंभीर रुकावट पैदा होती है। खेतिहर मजदूरों और अन्य सर्वहारा वर्गों के बीच काम करने और उन्हें संगठित करने वाले कार्यकर्ताओं का मानना है कि जीवन की ज्यादा बुनियादी समस्याओं, जैसे भूमि वितरण, उत्पादन के रिश्तों में परिवर्तन, उत्पादन के साधनों के वितरण आदि के निराकरण के लिए राजनीतिक प्रतिबद्धता न होने के कारण भी शिक्षा के प्रसार में बाधा पहुंची है। सवाल बहुत सरल स्तर पर यही रह जाता है, बच्चे या बड़े, भूखे पेट पढ़ाई कैसे करेंगे?

1981 में न्यायमूर्ति वी.एम. तारकुंडे की पहल पर और जे.पी. नायक की अध्यक्षता में बने 'सिटिजंस फार डेमोक्रेसी' समूह ने शिक्षा पर एक रपट 'एजूकेशन फार अवर पीपुल' तैयार करके देश के सामने रखी थी। इस रपट के पृष्ठ 2 पर साफ लिखा है, "शिक्षा शून्य में काम नहीं करती, यह उस समाज के चरित्र को प्रतिबिंबित करती है जो इसे समर्थन देता है और जिसको यह लाभ पहुंचाती है। भारतीय समाज, जो वर्गों में बंटा है और जिसमें गंभीर स्तर की गैरबराबरी है, सचमुच में एक दोहरा समाज है। यहां आर्थिक और राजनीतिक सत्ता उन वर्गों के पास है जो संपन्न हैं और जो ऊपरी 30 प्रतिशत वाले आर्थिक समूह में आते हैं, जबकि अधिकतर जनता हाशिए पर है और उसे जीवन की कोई सुविधाएं उपलब्ध नहीं है। इसे सामाजिक ढांचे के तहत शिक्षा में बराबरी लाने के लिए कोई भी परिवर्तन करना संभव नहीं है। जरूरत यह है कि सभी जनों को अच्छी शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए शिक्षा के साथ-साथ गरीबी और गैरबराबरी मिटाने के प्रयास होने चाहिए"। पिछले 50 वर्षों का इतिहास है कि यह *साफ समझ* मात्र *समझ* ही रह जाती है और शिक्षा नीतियों और एक्शन कार्यक्रमों में अंततः बात मात्र कितने स्कूल, कितने बच्चे (दाखिला दर) आदि पर टिक जाती है।

इसके साथ ही यह बात भी बार-बार अनेक सरकारी, गैरसरकारी और जन आंदोलनों के कार्यकर्ताओं द्वारा उठाई गई है कि जिस तरह की शिक्षा पाठशालाओं और औपचारिकेतर केंद्रों में दी जाती है वह कम से कम गरीब लोगों के लिए तो एकदम निरर्थक है। केवल निरर्थक ही नहीं, वरन उसकी विषयवस्तु और पद्धति सामान्य तौर पर सभी बच्चों के लिए और विशेषकर गरीब बच्चों और वयस्कों के लिए अपमानजनक और असंवेदनशील होती है। यह भी दर्ज है कि शिक्षा के माध्यम से राजसत्ता गैरबराबरी बनाए रखने और उसे न्यायोचित ठहराने का कार्य अप्रत्यक्ष रूप से पाठ्यक्रम के माध्यम से करती है, हालांकि प्रत्यक्षतः पाठ्यक्रम में गैरबराबरी और गरीबी मिटाने जैसी नारेबाजी होती है। यानी निरर्थक और अपमानजनक शिक्षा जिसके तहत यथास्थिति बनाए रखने और उसे सुदृढ़ करने की भूमिका भी आती है, शिक्षा के प्रसार में बाधा के कारणों के रूप में पहचानी गई है। आर्थिक तथा अन्य स्रोतों और राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी भी बड़ी बाधाओं के रूप में सामने आई है। कोठारी कमीशन ने 1964-66 में अपनी रपट में सिफारिश की थी कि भारत में संपूर्ण शिक्षा पर राष्ट्रीय आय का 6 प्रतिशत तक खर्च करना जरूरी है। फिर भी आज

तक यह प्रतिशत चार से भी कम रहा है। इस न्यूनतम सिफारिश की भी पूर्ति नहीं होना राजसत्ता की शिक्षा के प्रति कटिबद्धता पर सवालिया निशान लगता है।

1997-98 में प्राथमिक शिक्षा को बुनियादी अधिकार बनाने की ओर कदम बढ़ाए जा रहे हैं। इस संबंध में संसद में एक विधेयक लाकर संविधान में संशोधन का प्रस्ताव है। विधेयक का मसविदा भी तैयार हो चुका है और देश में जगह-जगह शिक्षा को बुनियादी अधिकार बनाए जाने के कदम पर चर्चाएं और गोष्ठियां हो रही हैं। सवाल यह है कि प्राथमिक शिक्षा के सर्वव्यापीकरण के पिछले पचास साल के प्रयासों की असफलता के कारणों और इस नए कदम के बीच क्या कोई तार्किक संबंध है? और वह भी तब जब इस नए विधेयक में जरूरी आर्थिक स्रोत तक उपलब्ध करवाने जैसी न्यूनतम शर्त पर भी ठोस रूप में कोई प्रतिबद्धता न दिखाई गई हो तो! कई समाजशास्त्रियों और शिक्षाशास्त्रियों का कहना है कि यदि वास्तव में 6 से 24 वर्ष की उम्र के सभी बच्चे स्कूलों में पहुंच गए तो बवंडर मच जाएगा। इतने बच्चों को बैठाने तक के लिए और पढ़ाने के लिए न तो भवन हैं, न शिक्षक। आज भी हजारों पाठशालाएं बिना भवनों या जर्जर भवनों में लगती हैं और लगभग एक-तिहाई प्राथमिक पाठशालाओं में मात्र एक शिक्षक है। आखिर ऐसी परिस्थिति में प्राथमिक शिक्षा को बुनियादी अधिकार और दर्जा मिल भी जाए तो उससे क्या फर्क पड़ता है? क्योंकि शिक्षा जगत में और कुछ हद तक आम समाज में भी यह मान्यता रही है कि बच्चों के मां-बाप उनसे मजदूरी और घर का काम करवाते हैं और इसलिए उन्हें स्कूल नहीं भेजते। तो क्या यह प्राथमिक शिक्षा की असफलता का दोष मां-बाप पर थोपने का एक प्रयास है?

दिलचस्प बात यह है कि कुछ अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि स्कूल के अंदरूनी कारण शिक्षा के प्रसार की असफलता के लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार नहीं हैं, बहुत सीमित रूप से जिम्मेदार हैं, (सेन, 1968; शर्मा, 1971; ईश्वरप्रसाद, 1987)। इन अध्ययनों से यह सामने आया था कि लगभग आधे लड़के आर्थिक कारणों से स्कूल छोड़ने को मजबूर होते हैं जबकि आधे से अधिक लड़कियों का स्कूल घरेलू काम, शादी और मां-बाप की अरुचि और उदासीनता के कारण छूट जाता है। गरीबी के साथ सामाजिक कारणों जैसे जाति, महिलाओं और लड़कियों का समाज में स्थान आदि भी शिक्षा में बरबादी के कारण माने गए हैं। हालांकि विभिन्न कारणों के तुलनात्मक महत्व को लेकर मतभेद हो सकते हैं।

जन शिक्षा के संदर्भ में आर्थिक कारणों से जुड़े मुद्दों पर जोर देते हुए शुक्ला ने कहा था, 'ऐसी गरीबी जो भुखमरी की कगार पर है, उसके संदर्भ में यदि बड़े पैमाने पर सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन नहीं तो कम से कम स्कूलों में भोजन देने और सामुदायिक भागीदारी जैसे सीमित कदम उठाने की जरूरत है...।' वे आगे कहते हैं कि 'सामुदायिक भागीदारी, कह देना भर अपने आपमें कुछ मतलब नहीं रखता क्योंकि ग्रामीण समाज में भूस्वामियों और पुरुषवादी पुरुषों का प्रभुत्व होता है' (शुक्ला, 1997 : 1826)।

'ग्रामीण इलाकों में सामाजिक-आर्थिक रिश्तों में परिवर्तन के लिए भूमि सुधार जैसे महत्वपूर्ण और प्रमुख कार्यक्रम में राजनीतिक पहल को अनुपस्थिति, आर्थिक स्रोत और कमजोर नीतियों के चलते प्राथमिक शिक्षा के परिणाम इससे बेहतर नहीं हो सकते थे। जहां कहीं भी मध्याह्न भोजन कार्यक्रम लागू किए गए उनका असर दाखिला दर, उपस्थिति, टिकने की दर और शैक्षणिक उपलब्धि, आदि पर समान नहीं रहा' (शुक्ला, 1997 : 1826)। यानी बात केवल मध्याह्न भोजन की नहीं है और न यह भुखमरी और गरीबी कम करने का कोई कारगर उपाय भी है।

जैसा कि पहले भी कहा गया है स्कूल के बाहर के व्यापक सामाजिक-आर्थिक कारक अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, लेकिन शायद यह भी पूरी व्याख्या नहीं है। सामाजिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक आधिपत्य जमाने के कारण भी काफी महत्वपूर्ण हैं। इन कारकों का स्कूल की अंदरूनी व्यवस्था को नियंत्रित करने में भी उपयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, शुरुआती वर्षों की शिक्षा में मातृभाषा को पहली भाषा के रूप में उपयोग करने जैसा संवेदनशील मुद्दा भी हमेशा विवादास्पद रहा है। इसी प्रकार 'मानक भाषा' को 'बोलियों' पर प्रभुत्व जमाने का सांवैधानिक अधिकार संविधान के आठवें अनुच्छेद से मिला है और उस अभिजात वर्ग को भी सांस्कृतिक आधिपत्य जारी रखने का मौका मिला जिसकी मातृभाषा 'मानक भाषा' है (सक्सेना, 1993)।

औपचारिक शिक्षा न केवल पिछड़े वर्गों की पहुंच के बाहर रही है, बल्कि सामाजिक परिवर्तन के लिए एक एजेंट के रूप में भी असफल रही है। शिक्षाविद श्री पोरोमेश आचार्य ने शायद ठीक ही कहा है, 'शिक्षा यानी मानव विकास के लिए निवेश जैसी अवधारणा भी ग्रामीण समाज के कमजोर वर्गों के लिए शायद एक आकर्षक अवधारणा नहीं है क्योंकि वे जानते हैं कि कार्यात्मक साक्षरता और थोड़ी-बहुत स्कूली पढ़ाई उनकी खेती की उत्पादकता बढ़ाने में योगदान देने या उनकी आय वृद्धि करने के बजाए शायद उनकी जिंदगी और भी जटिल कर दे' (आचार्य, 1994 : 3104)। आगे प्रस्तुत एक केस स्टडी इसी बात को पुख्ता करती है।

'सुखवासियों' की दुविधा : क्या शिक्षित होना बेहतर है

छत्तीसगढ़ में जमीन-जायदाद विहीन लोगों को 'सुखवासी' कहा जाता है क्योंकि वे जायदाद की चिंता से मुक्त और निश्चिंत होते हैं। उनके पास खाने को कुछ नहीं है। उन्हें किसी चीज को संभालने की चिंता नहीं होती। इसलिए प्रवासी मजदूरों को भी सुखवासी कहा जाता है। इनमें से अधिकतर के पास या तो जमीन नहीं होती या थोड़ी-बहुत असिंचित जमीन के ये मालिक होते हैं।

जो मजदूर मजदूरी न मिलने के कारण दूसरे शहरों में काम की खोज में जाते हैं उन्हें

पलायन मजदूर भी कहा जाता है। पलायन का शाब्दिक अर्थ होता है परिस्थितियों से भागना या बचना। इस संदर्भ में यह शब्द वास्तविकता से बिलकुल उलटा अहसास पैदा करता है। बिलासपुर के एक वरिष्ठ नौकरशाह ने इस शोधकर्ता से कहा था, 'अब पलायन करना इन लोगों की आदत बन गई है। इनके पास घर में सब कुछ है तब भी ये घर छोड़कर चले जाते हैं। ये हर वर्ष कुछ अतिरिक्त धन कमाने के लिए दूरदराज के क्षेत्रों में चले जाते हैं।' विडंबना यह है कि ये सुखवासी जिंदा रह पाने के लिए काम की तलाश में पलायन करने के लिए मजबूर हैं। ये दूरदराज अनजान शहरों में अपने परिवारों और छोटे बच्चों के साथ आम तौर पर कुछ महीनों के लिए, पर कभी-कभी कुछ सालों के लिए भी घर छोड़कर जाते हैं और अनेकानेक मुसीबतें झेलते हैं। इन जगहों पर ये अमानवीय श्रम करने को भी मजबूर होते हैं। इन्हें भयंकर आर्थिक शोषण और कई बार औरतों को शारीरिक शोषण का भी शिकार होना पड़ता है। कुछ स्थानों पर जैसे ईंट के भट्ठों पर इन्हें जेल में बंद गुलामों की तरह काम करना पड़ता है। इन्हें कंटीले तारों के घेरों में, ठेकेदार के गुंडों की चौकसी में तब तक रहना पड़ता है जब तक ठेका पूरा न हो जाए। इन भट्ठों से भागने का इनके पास कोई रास्ता नहीं होता।

छत्तीसगढ़ के अधिकतर खेतिहर क्षेत्र में सिंचाई की व्यवस्था न होने के कारण एक ही फसल उगाई जा सकती है। इसीलिए धान की फसल कटने के बाद ही पलायन शुरू हो जाता है। यहां के कुछ इलाकों में बार-बार सूखा भी पड़ता है। सूखे की स्थिति में और भी अधिक लोग पलायन करते हैं। उन्नीसवीं सदी के आखिरी तीन दशकों में यहां लगातार अकाल पड़ा था। इसी समय छत्तीसगढ़ को रेल से आसनसोल और नागपुर से जोड़ा गया था। इन्हीं रास्तों से मजदूर काम की तलाश में भटकते-भटकते नए स्थानों पर पहुंचे। उन्नीसवीं सदी में शुरू हुआ यह पलायन आज तक जारी है। इसलिए छत्तीसगढ़ के मजदूरों के लिए पलायन जीवन की एक सचाई है। वे कभी न मिल पाने वाले 'सुख' की तलाश में भटकते हैं, पलायन करते हैं या अतिरिक्त पैसा कमाने के लिए या मात्र जिंदा रह पाने के लिए? इस प्रश्न का उत्तर तो समझने वाले की विचारधारा पर निर्भर करता है।

मई 1993 में पलायन करने वाली 35 महिला मजदूरों की एक कार्यशाला रायपुर में स्थित रूपांतर नामक संस्था द्वारा आयोजित की गई थी। इस कार्यशाला में भाग लेने वाली औरतों ने दूरदराज के इलाकों जैसे हरियाणा, मद्रास, दिल्ली, हैदराबाद, जम्मू-कश्मीर और संबलपुर में काम किया था। उन्होंने बताया कि आम तौर पर वे दूरदराज के क्षेत्रों में मजदूरी करने जाने के लिए अपने बड़े बच्चों को अपने मां-बाप की देखरेख में छोड़ जाती हैं। ऐसे में स्कूल जाने वाले बच्चों की पढ़ाई भी नहीं छूटती और घर की भी देखभाल हो जाती है। अधिकतर औरतों ने ईंट भट्ठों पर काम किया था। बहुतों ने भवनों, पुल, बांध और बिजली कारखानों के निर्माण स्थलों पर मजदूरी की थी। रूपांतर संस्था ने पलायन मजदूरों की स्थिति पर एक सघन अध्ययन किया था और अध्ययन के बाद इन मजदूरों के साथ

स्वास्थ्य की देखभाल का काम शुरू करने पर विचार था। यह कार्यशाला इस दिशा में रूपांतर का पहला प्रयास था। इस कार्यशाला का उद्देश्य स्वास्थ्य, शिक्षा और पलायन मजदूरों संबंधी कानून और अधिकारों की स्थितियों को समझना और नई जानकारी देना था। रूपांतर ने इस वर्कशाप को चलाने के लिए बाहर से स्रोत व्यक्तियों को भी आमंत्रित किया था। जिन तीन व्यक्तियों को स्वास्थ्य और शिक्षा पर चर्चा करने के लिए आमंत्रित किया था उन्हें गांव की औरतों, खेतिहर मजदूरों, स्कूली शिक्षकों और खदान मजदूरों के बीच काम करने का काफी अनुभव था। हालांकि पलायन मजदूरों के साथ शिक्षा पर चर्चा करने का यह उनका पहला अनुभव था।

परिचय के सत्र में हर मजदूर ने अपने जीवन के बारे में भी बात की। उन्होंने ठेकेदारों और सरदारों (जो गांव से उनको भेड़-बकरियों की तरह इकट्ठा करके, कुछ पैसे पेशगी देकर काम की जगह तक पहुंचाते हैं) के साथ अपने संघर्षों और तकलीफदेह अनुभवों का जिक्र किया। उन्होंने वादे के मुताबिक मजदूरी न मिलने पर और दुर्घटनाओं में अपने बच्चों और साथियों की मौत के मुआवजे के लिए अनजान जगहों पर किए अपने संघर्षों के बारे में बताया।

उनके रोजमर्रा के साहसिक संघर्षों और अस्थायी तथा असुरक्षित जीवन की क्रूर सचाइयों को जानकर हमें लगा कि सीधे-सीधे शिक्षा की बात शुरू कर देने से संभव है कि हमारा उनसे संवाद ही न बन पाए। हो सकता है कि वे हमारे साथ हां में हां मिलाएं और अपने मत, विचार बिलकुल छिपा जाएं। इसलिए हमने तय किया कि हम उनसे उनके अपने शिक्षा के जैसे भी और जितने भी पुराने या सीमित अनुभव हों उनके बारे में कहने के लिए कहेंगे। हमने सोचा था कि हमें मुख्यत: यह सुनने को मिलेगा कि कैसे उनके बच्चे आज के शिक्षा के ढांचे में फिट नहीं हो पाते या कैसे लंबे समय तक अनुपस्थित रहने के कारण उन्हें स्कूल से बाहर कर दिया जाता है। हमने उम्मीद की थी कि औपचारिक शिक्षा में अस्वीकृत होने के अहसास के कारण उसकी तरफ उनका ज्यादा झुकाव नहीं होगा। क्योंकि ये सभी औरतें पढ़ी-लिखी नहीं थीं इसलिए हम यह मानकर चले कि इनके बच्चे भी ज्यादा पढ़-लिख नहीं पाए होंगे। इस सत्र की तैयारी के दौरान हम, स्रोत व्यक्ति, सोच रहे थे कि क्या इन लोगों के लिए हमारे पास कोई सकारात्मक और सार्थक सुझाव हैं? छोटे बच्चों को अपने मां-बाप के साथ ही दूसरी जगहों पर जाना पड़ता है इसलिए यदि वे स्कूल जाएं तो उनकी शिक्षा की निरंतरता में आने वाली इस बाधा को कैसे दूर किया जा सकता है? हम सोच रहे थे कि क्या पलायन मजदूरों के बच्चों के लिए कुछ विशेष प्रकार के स्कूलों की जरूरत है? अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम के निम्न स्तर और कागजी केंद्रों जैसे धोखे के बारे में हम सब अच्छी तरह से जानते थे इसलिए 'विशेष स्कूल' जैसे सुझावों के बारे में सोचना भी बेईमानी लगता था। पलायन मजदूरों की परिस्थितियों को देखते हुए हमें समझ में आया कि हमारे पास उनके लिए कोई तयशुदा तैयार उत्तर या हल नहीं थे।

चर्चा के दौरान हमको पता चला कि इन 35 औरतों में से करीब एक-तिहाई ने स्कूल में पढ़ाई करने की कोशिश की थी। परंतु अधिकतर औरतों को कुछ ही दिनों या हफ्तों में विभिन्न कारणों से स्कूल छोड़ देना पड़ा जैसे मां की मृत्यु, भाई की असमय मौत, छोटे भाई-बहनों की देखरेख, घर संभालना आदि के कारण। कम से कम दो औरतों ने बताया कि उनके स्कूल में महिला शिक्षिका न होने के कारण उन्हें स्कूल में दाखिला दिलाने से घर वालों ने इनकार कर दिया था। एक ने बताया कि उसका स्कूल पांच गांव पार करके था। इतनी दूर पैदल चलकर दिन भर स्कूल में भूखे बैठना उसके लिए संभव नहीं था। इसलिए उसने कुछ हफ्तों के बाद स्कूल जाना छोड़ दिया, हालांकि उसकी पढ़ने की इच्छा प्रबल थी। उसके लिए स्कूल जाना एक सजा के बराबर हो गई थी। एक औरत को उसके पिता ने घर पर ही पढ़ाया था। इस कारण वह अब रामायण और पोस्टर पढ़ लेती है। यह बात उसने बहुत गर्व और आत्मविश्वास से कही। पर साथ ही उसे पछतावा भी था कि वह कक्षा चार के बाद नहीं पढ़ पाई। उसे लगता है कि अगर वह ज्यादा पढ़ लेती तो उसे नौकरी मिल जाती और इस तरह कड़ी मेहनत तथा नीरस जीवन से छुटकारा भी मिलता। हमारी अपेक्षा के विरुद्ध इन सभी औरतों में औपचारिक शिक्षा के प्रति काफी उत्साह था।

लेकिन जब इन औरतों ने अपने बच्चों के बारे में बात करना शुरू किया तो उनका यह उत्साह निराशा और हताशा में बदलता लगा। हमने सोचा था कि पलायन मजदूरों के बच्चे होने के कारण उनकी पढ़ाई छूट जाती होगी या बच्चों को मां-बाप के साथ जाना होता होगा या पढ़ने वाली पहली पीढ़ी होने के कारण स्कूली शिक्षा ग्रहण करना मुश्किल होता होगा या आर्थिक रूप से मां-बाप के लिए अपने बच्चों को स्कूल भेजना संभव न होगा, इत्यादि—हमारे सारे अंदाज गलत निकले। इन औरतों ने किसी न किसी प्रकार से ऐसी सब व्यावहारिक बाधाओं का सामना करके अपने बच्चों को स्कूल भेजा था। स्कूल और शिक्षा में उन्हें अपने बच्चों के बेहतर भविष्य की उम्मीद दिखती थी। पलायन मजदूर होने के कारण उन्हें बाहर की दुनिया भी देखने को मिली थी। इस कारण से भी शिक्षा का महत्व उन्हें दिखता था। हमें यह जानकर खुशी मिश्रित आश्चर्य हुआ कि दो को छोड़कर बाकी सभी औरतों ने अपने बच्चों में से कम से कम एक-दो को, लड़कियों समेत, स्कूल भेजा। इन्हें अपने बच्चों को स्कूल भेजने की इतनी प्रेरणा थी कि उन्होंने कम खाया, बहुत बार केवल भाजी खाकर काम चलाया, पर बच्चों की पढ़ाई जारी रखी। उन्होंने अपने बच्चों की पढ़ाई जारी रखने के लिए उन्हें पड़ोसियों की देखरेख में छोड़ा, अपने मां-बाप के पास छोड़ा और खुद दूरदराज जाकर ईंट भट्ठों पर कड़ी मेहनत की या सड़कें बनाईं। ऐसा नहीं था कि सभी औरतें अपने बच्चों की पढ़ाई में इसी प्रकार निरंतरता बनाए रख पाई हों। लेकिन उनका जोश दिल को छूने वाला था। उनकी प्रेरणा का मुख्य कारण था अपने बच्चों का बेहतर भविष्य बनाना ताकि बच्चे उन तकलीफों से निजात पाएं जिनसे वे खुद गुजर रही हैं। उन्हें उम्मीद थी कि पढ़-लिख लेने के बाद उनके बच्चों को नौकरी मिल जाएगी। भूरीबाई ने कहा था, 'यदि नौकरी होगी...तो जब हमारा चलना-फिरना बंद

हो जाएगा तब ये हमारी देखरेख तो कर पाएंगे!' इन सफलताओं और जोश के बावजूद दो औरतें ऐसी थीं जिनके बच्चे कक्षा चार के बाद पढ़ाई जारी नहीं रख पाए। कुछ के बच्चे कक्षा आठ तक पहुंचे तो कुछ बच्चों ने हाई स्कूल तक पास कर लिया और कुछ ने बारहवीं कक्षा भी। कुछ औरतों के बच्चों ने आई.टी.आई. से डिप्लोमा किया और इक्का-दुक्का ने बी.ए. भी पास कर लिया। एक महिला के लड़के ने एम.ए. भी पास किया। छोटे बच्चे अभी भी स्कूल जा रहे हैं।

हमें आश्चर्य मिश्रित खुशी हुई। इन पहली पीढ़ी में शिक्षा पाने वालों ने ढेरों बाधाओं के बावजूद बिना किसी मदद के इस स्तर तक पहुंचकर सचमुच कमाल ही कर दिया। इनके मां-बाप ने पेट काटकर अपनी कड़ी मेहनत की कमाई से इनके लिए किताबें खरीदीं और स्कूल में दाखिला लेने के लिए शिक्षक को मजबूरन घूस भी दी। यह इतनी सफल केस स्टडी लगी कि हमें लगा अब हमारे पास कहने को कुछ है नहीं। दिल-ही-दिल में बहुत प्रसन्न हुए कि चलो कुछ लोगों ने तो फतह हासिल की। हमें बिलकुल अंदाज नहीं था कि यह फतह ही इन मजदूरों के लिए कितनी निराशा का स्रोत बनेगी। औरतों ने हमें बताया कि सब पढ़े-लिखे बच्चे अब घर में बैठे हैं। 'ये पढ़े-लिखे बच्चे अब क्या करें? ये घर में बेकार बैठे हैं। ये न तो कड़ी मेहनत के काबिल रहे हैं और न मेहनत करना ही चाहते हैं। हमने भी तो उन्हें ये काम करने के लिए तैयार नहीं किया था। हमने लगभग भूखे रहकर इन्हें पढ़ाया है। अब हम क्या करें?' सुखवंती बाई पूछ रही थी। 'हम इस उम्मीद में पत्ता-भाजी खाकर जिए कि हमारे दिन बदलेंगे। मेरे बच्चे तो अब और पढ़ना ही नहीं चाहते। वे कहते हैं कि यदि हमें आपकी तरह ही कड़ी मेहनत करनी है तो हम पढ़ाई क्यों करें?' बरातिन बाई ने कहा। प्यारीबाई ने बहुत निराश होकर बतलाया, 'हमारे बच्चों की हालत हमसे भी बदतर हो गई है। ये कड़ी धूप में खड़े होकर मेहनत मजदूरी नहीं कर सकते और इनके लिए नौकरियां हैं नहीं।' अपने और अपने बच्चों के भविष्य की चिंता में डूबी हुई ये महिलाएं महसूस कर रही थीं कि उनकी आशाएं टूट गई हैं। हरएक महिला ने अपनी इस तकलीफदेह निराशा का इजहार किया।

महिलाओं के ये अनुभव सुनकर हम कुछ बोल ही नहीं पाए (चुप रह गए, सन्न रह गए)। उनके जीवन के अनुभवों को सुनकर हमारी तय की हुई प्राथमिकताएं तितर-बितर हो गईं। कुछ समय तक हम सोच ही नहीं पाए कि आगे कैसे बढ़ें। एक महिला ने एक टिप्पणी करके चुप्पी का माहौल तोड़ा, 'यह सच है कि हमारे बच्चों को नौकरियां नहीं मिलीं, परंतु शिक्षित होने से उन्हें 'बुद्धि' तो आ गई।' डूबते हुए स्रोत व्यक्तियों को जैसे तिनके का सहारा मिला। कुछ लोगों ने इस मौके को चूके बिना घिसा-पिटा राग अलाप दिया। उन्होंने दोहराया कि कैसे शिक्षा से जानकारी का आधार बढ़ता है, चेतना बढ़ती है और बुद्धि आती है जिससे गरीब लोग अपने अधिकारों—जैसे न्यूनतम मजदूरी आदि के लिए लड़ सकते हैं। यदि इन औरतों को काम के घंटों, मजदूरी और अपने अन्य कानूनी अधिकारों की जानकारी होगी तो ठेकेदार इन्हें ठग नहीं पाएंगे, आदि आदि। यह मुख्य

प्रश्नों से पलायन था जिन्हें औरतों ने 'बुद्धि' की चर्चा से पहले उठाया था। इन मुद्दों पर संघर्ष करने के लिए मजदूर इंतजार नहीं करते। सरदार और ठेकेदारों के खिलाफ अपनी मजदूरी के लिए इन औरतों के संघर्षों की कहानियां हमारे दिमाग में अभी भी ताजा थीं। इन 'अनपढ़' औरतों को मालूम है कि राजनीतिक संघर्षों से ही इन्हें अपने अधिकार प्राप्त करने होंगे। साफ तौर पर परिप्रेक्ष्यों में टकराव उभरकर सामने आया। जिन्होंने भूखे रहकर अपने बच्चों को इस उम्मीद में पढ़ाया कि पढ़ने-लिखने से उन्हें नौकरियां मिलेंगी और उनके जीवन के कष्ट कम होंगे, उन औरतों को हम समझा रहे थे कि शिक्षा मात्र नौकरी के लिए नहीं है। शिक्षा से 'बुद्धि' आती है। खैर, इस प्रकार बात को बदल देने से उन महिलाओं द्वारा उठाया गया गंभीर मुद्दा रफा-दफा नहीं हो जाता। शिक्षा का अर्थ यदि बेहतर जीवन है तो जिन लोगों को दो वक्त का खाना भी नहीं मिलता उनके लिए बेहतर जीवन का पहला अर्थ क्या इज्जत से पर्याप्त भोजन मिलना नहीं होगा?

एक मध्यम उम्र के स्थानीय स्रोत व्यक्ति मोतीलाल ने शिक्षित बेरोजगारों की समस्या को और स्पष्ट किया। अपना अनुभव बताते हुए उसने कहा, 'मैं बी.ए. पास हूं। हम आठ भाई-बहन हैं। मेरा एक भाई एम.ए. है। हम दोनों भाई बेरोजगार हैं। 1985 के अकाल के दौरान हमारा पूरा परिवार दिल्ली पलायन कर गया था और हमने बदरपुर ताप बिजलीघर में मजदूरी की थी। मेरे तीन छोटे भाइयों ने निर्माण स्थलों पर छोटे-मोटे काम किए थे। यहां वे बहुत सारे लोगों से मिले। कुछ ट्रक ड्राइवरों के साथ काम करने लगे। उन्होंने वहां रहते हुए किसी प्रकार ड्राइवरी का काम सीख लिया। उनमें से दो को ड्राइवरी की नौकरी भी मिल गई है। वे पांचवीं तक ही पढ़े-लिखे हैं। वे अपने नियंता खुद हैं। तीसरे भाई को भी जल्दी ही ऐसी ही नौकरी मिल जाएगी। पर हम दोनों शिक्षित भाई बेरोजगार ही रह गए।' फिर उसने जल्दी से जोड़ा, 'हम भी खेतों पर काम करते हैं। कभी हम अपनी जमीन पर काम करते हैं और कभी दूसरों की जमीन पर मजदूरी करते हैं। यह हमें बुरा नहीं लगता है, पर हमारी पढ़ाई का खास लाभ हमें नहीं मिला।'

अंत में हमने औरतों से पूछा कि उन्होंने अपने बच्चों को शिक्षित करके क्या पाया? सुखबारा बाई ने काफी कष्ट से लंबी सांस भरकर कहा, 'मैं अभी भी एक प्रवासी मजदूर हूं। हर वर्ष, जब खेती-किसानी का काम नहीं होता तब हमें घर छोड़कर काम की तलाश में बाहर जाना पड़ता है। हम काम की तलाश में जम्मू-कश्मीर तक जाते हैं। मेरा लड़का बारहवीं पास है और घर में बेकार बैठता है। वह कड़ी मेहनत नहीं कर सकता। इस बार मैं उसे भी अपने साथ ले गई थी। मैंने सरदार से हाथ जोड़कर कहा था कि मेरा लड़का पढ़ा-लिखा है। धूप में खड़ा होकर मेहनत-मजदूरी नहीं कर सकता। कृपया उसे कुछ हलका काम दे दो। शायद स्कूल जाए बिना उसकी हालत बेहतर होती। कम से कम उसे काम दिलवाने के लिए सरदार के सामने हाथ-पैर तो नहीं जोड़ने पड़ते। हमने अपने बच्चों को पढ़ा-लिखाकर यही पाया है।'

सुखबारा बाई का यह कथन आज की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक

परिस्थितियों में वर्तमान शिक्षा व्यवस्था की सार्थकता की बहस पर एक सटीक टिप्पणी है। औपचारिक शिक्षा, बुद्धि, ज्ञान और रोजगार के बीच सीधे और रेखीय संबंध नहीं हैं। ये औरतें वर्तमान समाज व्यवस्था में इन विभिन्न कारकों के बीच असंबद्धता के परिणामों की भुक्तभोगी हैं (सक्सेना, 1994)।

बालश्रम और शिक्षा

यह मुद्दा प्राथमिक शिक्षा की जटिलताओं का एक और आयाम है। आजकल कुछ अध्ययनों के माध्यम से यह साबित करने का प्रयास हो रहा है कि प्राथमिक शिक्षा और गरीबी का सीधा संबंध नहीं है। यानी शायद यह उम्मीद दिखती है कि प्राथमिक शिक्षा का सर्वव्यापीकरण अमानवीय स्तर के जीवन जीते हुए हो सकता है या बिना सामाजिक और आर्थिक ढांचों में परिवर्तन के भी संभव है या फिर ताकत के बिना पुनर्वितरण के भी। साथ ही यह भी कहा जाता है कि हर वह बच्चा जो शाला नहीं जाता वह बाल मजदूर है। इसलिए यह उम्मीद भी है कि सभी बच्चों के स्कूलों में पहुंच जाने से बाल शोषण बंद हो जाएगा। यानी इस मत के अनुसार मौजूदा शाला व्यवस्था से कुछ बुनियादी परिवर्तनों की उम्मीद की जा रही है। क्या मौजूदा निम्नस्तरीय प्राथमिक शिक्षा वास्तव में किसी भी प्रकार के बेहतर जीवन की उम्मीद जगाती है?

पिछले कुछ वर्षों से परिवारों के लिए बालश्रम की आर्थिक अनिवार्यता और शिक्षा के मुद्दे पर दो तरह के मत उभरकर आए हैं। इन दोनों मतों को समझने से पहले बाल श्रमिकों की अनुमानित संख्या को देखें। सुमि कृष्णा के अनुसार यह संख्या 1.7 करोड़ से लेकर 10 करोड़ तक आंकी जाती है। यह भिन्नता इसलिए है क्योंकि बाल श्रमिकों की परिभाषा में भी काफी भिन्नताएं हैं। बच्चों द्वारा किया गया कितना और किस प्रकार का श्रम शोषणात्मक बालश्रम माना जाए, यह काफी उलझा हुआ विषय है। *इकानामिक और पोलिटिकल वीकली* में किरण भट्टी के लेखों के अनुसार बालश्रम, खास तौर से घर पर रहकर काम करने वाले बच्चों के काम के घंटे बहुत ही कम हैं (भट्टी, 1998)। इनके अनुसार 5 से 10 वर्षों के बच्चों के लिए तो ये घंटे ज्यादा-से-ज्यादा एक-आधा घंटा प्रतिदिन ही हैं। इनके अध्ययन से यह भी उभरता है कि 10-12 वर्ष से कम उम्र के बच्चे सीधे उत्पादन के कामों से नहीं जुड़े हैं। किरण भट्टी ने जिन मैदानी अध्ययनों (करीब 30 से ज्यादा) का विश्लेषण करके इस परिस्थिति को समझने का प्रयास किया है उसके आधार पर यह समझ उभरती है कि आम तौर पर गरीब घरों के बच्चे स्कूल इसलिए नहीं जाते क्योंकि स्कूल हैं नहीं या फिर बहुत ही खराब हालत में हैं अथवा माता-पिता इच्छुक नहीं हैं। हाँलांकि हाल ही में आक्सफोर्ड द्वारा प्राथमिक शालाओं की स्थिति पर प्रकाशित रपट के अनुसार यह बात भी सामने आई है कि यह धारणा गलत है कि मां-

बाप बच्चों को पढ़ने नहीं भेजना चाहते (प्रोब, 1998)। वैसे यह भी कोई नई या अनहोनी खोज नहीं है। माता-पिता बच्चों को पढ़ाना नहीं चाहते, यह तो सरकारी नजरिया रहा है। अनुभव यह है कि माता-पिता परेशानियां झेलकर भी कम से कम लड़कों को तो पढ़ाना ही चाहते हैं। परंतु किरण भट्टी के अनुसार गरीबी और स्कूल न जाने में सीधा संबंध भी नहीं है। इन अध्ययनों के आधार पर किरण भट्टी यह भी कहती हैं कि बाल मजदूरों की आय का उनके परिवार की आर्थिक स्थिति पर खास फर्क नहीं पड़ता है। संक्षेप में, किरण भट्टी के मतानुसार और कुछ हद तक प्रोब रपट के अनुसार एक प्रमुख मत यह उभर रहा है कि बच्चों का स्कूल न जाने के कारण स्कूल न होना है न कि उनके परिवारों की आर्थिक स्थिति और बच्चों का बाल श्रमिक होना। बच्चे मजदूरी इसलिए करते हैं कि क्योंकि उनके पास करने को और कुछ है नहीं।

हो सकता है कि इस तरह का मत विभिन्न मंचों से अभिव्यक्त करके राजसत्ता पर प्राथमिक शिक्षा की स्थिति की पहुंच बढ़ाने का दबाव बनाने का प्रयास हो रहा है। यह भी संभव है—जैसा कि अमर्त्य सेन कहते हैं कि वैश्वीकरण अपरिहार्य है और उसके घोषित परिणामों के लिए न्यूनतम शैक्षिक स्तर होना आवश्यक है—यह दबाव अंतर्राष्ट्रीय वैश्वीकरण को सफल करने के लिए हो। परंतु यह कहना भी जरूरी है कि इस तरह से बालश्रम की एक अत्यंत जटिल और गंभीर समस्या को काफी सरलीकृत करके देखा जा रहा है।

इस मत से भिन्न मत भी इतना ही मजबूत है। इस भिन्न मत के अनुसार प्राथमिक शिक्षा की आवश्यकता के निहित उद्देश्य मात्र बालश्रम को खत्म करने का ही नहीं है। इस मत के अनुसार बच्चों के श्रम को परिवार की आर्थिक परिस्थिति में एक जरूरी और महत्वपूर्ण योगदान माना गया है। परिवार की आर्थिक, व्यावहारिक हालात के कारण बच्चों का कमाने या बिना कमाए श्रम करने की जरूरत भी होती है। इस मत के अनुसार (कृष्णा, 1996 : 48) बच्चे तीन से सात घंटों तक घर के काम में फंसे रहते हैं। जैसा कि अपेक्षित है, लड़कियों के काम के घंटे लड़कों की तुलना में कहीं ज्यादा होते हैं।

किरण भट्टी का यह भी कहना है कि गरीब घरों में ऐसा कुछ खास काम नहीं है जो लंबे समय तक बच्चों को फंसाए रखे। जबकि सुमि कृष्णा बताती हैं कि अभावग्रस्त परिवारों के बच्चों का दिन भर का वक्त लकड़ियां बीनने, ढोर चराने, चारा काटने और पानी लाने में बीत जाता है। छोटी उम्र में लड़के और लड़कियां दोनों ये काम करते हैं, परंतु धीरे-धीरे लड़कों को इन कामों से छूट मिल जाती है और जिम्मेदारी मुख्यत: लड़कियों पर आ जाती है। सुमि कृष्णा ने वाल्टर फर्नांडीज के मध्य भारत में जलाऊ लकड़ी इकट्ठा करने में बच्चों की महत्वपूर्ण भूमिका का जिक्र किया है। अमूल्या रेड्डी ने कर्नाटक के छह गांवों का (1975-77) अध्ययन करके ज्यादा सटीक ढंग से जलाऊ लकड़ी इकट्ठी करने और घर के अन्य काम करने में बच्चों के योगदान और खर्च होने वाले वक्त का जिक्र किया है। इनके अनुसार घर के कामों के बंटवारे का अनुपात पुरुष, महिलाओं और

बच्चों के बीच 24:56:20 था। 'डाउन टू अर्थ' के लिए किए गए एक अध्ययन से पता चला है कि किस प्रकार से जंगलों के कटने के कारण, पहाड़ी क्षेत्रों में जलाऊ लकड़ी इकट्ठी करने के लिए लड़कियों को दिन-दिन भर भटकना पड़ता है। हालात इतने खराब हैं कि स्कूल जाने वाली बहुत सी लड़कियों को स्कूल छोड़कर इस काम में जुटना पड़ रहा है (कृष्णा, 1996 : 47)। सुमि कृष्णा खेती में बच्चों के योगदान के विषय में लिखती हैं, 'मराठवाड़ा, महाराष्ट्र के छह गांवों में एम.वी. नादकर्णी का शोध दिखाता है कि गरीब परिवारों का जीवन उनके बच्चों के आर्थिक योगदान पर निर्भर करता है। एन.एस. जोधा ने आंध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र और गुजरात के कम वर्षा वाले इलाकों में व्यापक अध्ययन के आधार पर दिखाया है कि किसानों के द्वारा कम उत्पादन वाले सूखाग्रस्त क्षेत्रों की उपज बढ़ाने के तरीकों में बच्चों का क्या जरूरी योगदान होता है' (कृष्णा, 1996 : 47)।

बहरहाल, ऐसे ढेरों अध्ययन और अनुभवों में से बालश्रम (प्रत्यक्ष और परोक्ष) की जटिलता तथा मौजूदा आर्थिक और सामाजिक हालात में उसकी अपरिहार्यता पर चर्चा हो सकती है। शिक्षा का प्रसार, गुणवत्ता में सुधार जैसे मुद्दे अत्यंत महत्वपूर्ण हैं और इस काम के लिए राजसत्ता पर दबाव बनाने के हर संभव प्रयास किया जाना जरूरी है। परंतु इतना ही जरूरी है शिक्षा के प्रसार में आने वाली बुनियादी सामाजिक और राजनीतिक ढांचागत समस्याओं का समझना तथा उन्हें शिक्षा की बहस के दायरों में लाना। बालश्रम एक व्यावहारिक समस्या मात्र नहीं है और न ही स्कूल खुलना मात्र शिक्षा का प्रसार होना तय करता है। यदि यह इतना सरल होता है तो कम से कम शालाओं में स्कूल छोड़ने वाले बच्चों की संख्या इतनी अधिक नहीं होती। आज के स्कूलों की परिस्थिति आखिर बच्चों को क्या देने का सपना दिखाती है? क्या स्कूली परीक्षाओं में न्यूनतम उपलब्धि स्तर बच्चों का स्कूली व्यवस्था, परीक्षाओं और पाठ्यक्रम समेत, से अलगाव नहीं दरशाता? क्या इस प्रकार की असफलता बच्चों के व्यक्तित्व, आत्मछवि और आत्मविश्वास में नकारात्मक ठप्पा नहीं लगाती? क्या इन गंभीर मुद्दों पर बहस की जरूरत और प्राथमिकता नहीं है? यदि काम के हालात प्रत्यक्ष रूप से हिंसक और खतरनाक (पटाखा उद्योग, कालीन उद्योग, कांच और चूड़ी उद्योग, इत्यादि की तरह) न हों (खेती में मदद, घर के काम में मदद, ईंट भट्ठों में मदद, शहरों में आंशिक काल का काम, कच्छ में कसीदाकारी का काम, इत्यादि) और बच्चों को कुछ आमदनी होती हो तो बच्चे भी मौजूदा शिक्षा के बदले ऐसे कामों में जुटना पसंद करते हैं? क्या बजाए पापुलिस्ट नारेबाजी की ऐसी नीतियां बनना जरूरी नहीं है जिसमें खतरनाक और शोषणमूलक कामों से बच्चों को मुक्ति मिले, पर गैर-खतरनाक कामों के साथ-साथ शिक्षा और आगे बढ़ने के मौके मिलें?

2. औपचारिक शिक्षा के सुधार और विकल्प

औपचारिक शिक्षा

भारत में औपचारिक शिक्षा का बुनियादी ढांचा मुख्य रूप से वही है जो अंग्रेजी शासन के दौरान बना था। आजादी के बाद इसी ढांचे के तहत बिना किसी फेर-बदल के शिक्षा का प्रसार भर हुआ है। यदि कुछ नए आयाम जुड़े या नए स्वदेशी विचार लागू हुए भी तो वे बुनियादी रूप से इसी ढांचे के तहत किए गए। ऐसा लगता है कि इस ढांचे की बुनियादी संरचना और विषयवस्तु में ऐसी कुछ मजबूती, टिकाऊपन और प्रसार क्षमता निहित है कि बावजूद तीखी आलोचनाओं के यह ढांचा अटल है। बल्कि पिछली अर्धशती में यह ढांचा इतना सुदृढ़ हुआ है कि यह मानना भी मुश्किल होता है कि अन्य कोई शिक्षा व्यवस्था संभव भी है। बहुत से छोटे-छोटे वैकल्पिक प्रयास हुए हैं और होते रहे हैं, परंतु इनसे राष्ट्र स्तर पर स्थापित ढांचे पर कोई असर नहीं पड़ा है। वैकल्पिक प्रयासों में भी बहुत से ऐसे हैं जिनमें यह मानकर चला जाता है कि उनका मुख्य काम स्कूल व्यवस्था से बाहर छूटे हुए बच्चों को विभिन्न कार्यक्रमों और परियोजनाओं के माध्यम से इसी व्यवस्था में शामिल करवाना है यानी मुख्य धारा में लाना है। सत्तर के दशक में भारत में भी इवान इलीच की पुस्तक *डीस्कूलिंग सोसाइटी* सामाजिक कार्यकर्ताओं के बीच चर्चित हुई थी। परंतु इतिहास दिखाता है कि जो संस्था जीवित रही वह है स्कूल। शिक्षाविद प्रो. सुरेश शुक्ल के अनुसार, 'इसके दो कारण हैं : पहला, इस व्यवस्था की विभिन्न कड़ियों के बीच संबंध होना यानी जैसे एक स्टेज से दूसरी स्टेज (सोपानात्मक) का परीक्षा और पाठ्यक्रम के माध्यम से और प्रशासन, संबद्ध विश्वविद्यालयों और व्यक्तिगत संस्थानों के बीच निरीक्षण के माध्यम से। दूसरा, इस शिक्षा व्यवस्था का परंपरागत और उभरते हुए, रोजगार के मौकों और प्रतिष्ठा प्रतीकों से सीधा संबंध जुड़ना' (शुक्ला, 1983)। इन्हीं के अनुसार, 'ब्रिटिशकालीन शिक्षा जीवन के अन्य क्षेत्रों की तरह आधुनिकता की ओर अग्रसर थी। इसकी संरचना में वही विवेकीकरण और पुनर्गठन लाया जा रहा था जैसा कि उद्योग क्षेत्र में मशीनीकरण के रूप में स्वत: आ चुका था। कक्षा विभाजन व्यवस्था, निर्धारित पाठ्य पुस्तकों का अध्यापन, पूर्णकालिक प्रशिक्षित शिक्षकों की सेवाएं उपलब्ध करवाना तथा कक्षावार अनुक्रमिक पाठ्यक्रम का निर्माण आदि समस्त नवाचार ब्रिटिशकालीन शिक्षा की पारंपरिक मदरसों की अर्ध-व्यावसायिक शिक्षा से विशिष्ट बनाने में सफल रही।

पुराने मदरसे मकतब और पाठशालाएं विभिन्न वर्गों को अलग-अलग प्रकार की शिक्षा देते आ रहे थे लेकिन ब्रिटिशकालीन शिक्षा ने उन्हें एकरूप बना दिया। शिक्षा में उदारता, वैज्ञानिकता और पहले से अधिक तार्किकता का समावेश हुआ; पर साथ ही शिक्षा में ब्रिटिश प्रभाव की प्रधानता भी इसी काल की देन है' (*नया शिक्षक*, शुक्ला, 79 : 17)।

1912 में प्राथमिक शिक्षा के सर्वव्यापीकरण को अंग्रेजी सरकार द्वारा औपचारिक नीति के रूप में स्वीकार करवाने के गोपाल कृष्ण गोखले के असफल प्रयास से शुरू होकर पिछले तकरीबन 85 वर्षों में औपचारिक शिक्षा व्यवस्था को फैलाने, सुधारने और बदलने के ढेरों सरकारी और गैरसरकारी प्रयास हुए हैं। एक तरफ तो इन सुधारों के लिए तत्कालीन राष्ट्रीय परिस्थितियों से प्रेरणा मिली, चाहे वे अंग्रेजी शासन के समय राष्ट्रीय आंदोलन हो या स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रीय सरकार का शासन हो। दूसरी तरफ इसके लिए विभिन्न विचारधाराओं और स्वार्थों की ओर से भी दबाव बना। इन सबके विवरण और विश्लेषण में जाए बिना इन प्रयासों के कुछ उल्लेखनीय पहलुओं पर जरूर ध्यान दिया जा सकता है। आजादी के बाद से ही औपचारिक शिक्षा फैलते हुए मध्यम वर्ग की ऊपर उठने की आकांक्षाओं के लिए एक बड़ी उम्मीद के रूप में उभरी। इसने शिक्षा व्यवस्था में ऐसे परिवर्तन नहीं होने दिए जो शिक्षा को ज्यादा समतावादी बनाते और निम्न वर्गों और निम्न जातियों तक इसकी पहुंच और सुगम करवाते। नीतियों में पावन घोषणाओं के बावजूद शिक्षा व्यवस्था की यह जबरदस्त असफलता ही ऐसे निष्कर्ष का आधार बनती है। प्रो. शुक्ला मध्यम तथा उच्च वर्गों को दोषी ठहराने में ज्यादा कठोर हैं। वे कहते हैं, 'दुर्भाग्यवश शिक्षा पर हुए अधिकतर सोच-विचार ने कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों को नजरअंदाज किया है...सर्वव्यापीकरण की असंभवता का मुद्दा...यह मानने की अनिच्छा के कारण कि स्वतंत्र भारत में एक ऐसा सामाजिक-आर्थिक ढांचा है जिसमें भूख और गरीबी जैसे रोग व्याप्त हैं—यह हमारे मध्यम वर्ग की विशिष्ट हैसियत प्रतिबिंबित करता है जिसमें से हमारे बुद्धिजीवी निकलते हैं जिनकी अपने को मिले विशेषाधिकार के परिणामों को पहचानने में कोई रुचि नहीं है' (शुक्ला, 1997 : 1830)। प्रो. शुक्ला शिक्षा में हुए राष्ट्रीय विचार में वर्ग आधारित विश्लेषण की कमी की ओर भी इशारा करते हैं। इनके अनुसार, 'राष्ट्रीय शैक्षिक सोच में वर्गीय पूर्वग्रह और विचारधारा संबंधी मुद्दों और आजादी के बाद बनी शिक्षा नीतियों पर इनके असर को अभी तक पर्याप्त रूप से देखा भी नहीं गया है। न ही विभिन्न शैक्षणिक परिप्रेक्ष्यों या पद्धतियों पर जन आंदोलनों के असर को समझा गया है' (शुक्ला, 1997 : 1825, 21)। इसी संदर्भ में अपने अनुभवों को याद करते हुए शुक्ला लिखते हैं, 'जे.पी. नायक, जो स्वयं शिक्षा के क्षेत्र में एक बहुत बड़े विद्वान थे, वे भी 1961 में इस बात को स्वीकार नहीं कर पाए कि आजादी के बाद के पहले डेढ़ दशकों में शिक्षा पर ग्रामीण और शहरी मध्यम वर्ग का आधिपत्य रहा' (शुक्ला, 1997 : 1827)। वे आगे कहते हैं, 'नए राष्ट्र, भारत, के उदय के उत्साह में वे राजसत्ता की नीतियों की परोक्ष या अपरोक्ष आलोचना नहीं चाहते थे' (शुक्ला, 1997 : 1831)। जे.पी. नायक

की यह विफलता उनकी और प्रो. नुरुल्ला की पुस्तक में साफ दिखती है। अब यह विद्यार्थियों के लिए शिक्षा के इतिहास की एक मानक पाठ्य पुस्तक बन गई है (नायक और नुरुल्ला, 1963)।

औपचारिक शिक्षा के विकल्प

स्वतंत्रता-पूर्व और उसके तुरंत बाद भी औपचारिक शिक्षा की मुख्य धारा से अलग हटकर महत्वपूर्ण प्रयास हुए। उन्नीसवीं सदी में दलितों की शिक्षा, खास तौर से महिलाओं की शिक्षा को लेकर फुले के प्रयास उल्लेखनीय हैं। जहां तक समाजवादियों का प्रश्न है स्वतंत्रता-पूर्व में उनके द्वारा किए गए शैक्षणिक प्रयासों के बहुत ज्यादा उदाहरण नहीं हैं। इनके कामों का मुख्य फोकस शिक्षा न होकर मजदूरों को संगठित करना और अन्यायपूर्ण व्यवस्था को बदलने के लिए राजनीतिक संघर्ष करना था। शिक्षा के कुछ काम इन समग्र राजनीतिक संघर्षों के संदर्भ में हुए, अनौपचारिक शिक्षा के दायरे में ही माने जाएंगे। ऐसा ही एक उदाहरण है महाराष्ट्र के थाना जिले में गोदावरी पारुलेकर का काम और कम्युनिस्ट पार्टी (अखंडित) का आंध्र प्रदेश के तेलांगना क्षेत्र का काम। हालांकि तेलंगाना में काम की शुरुआत एक स्वयंसेवी समूह 'आंध्र महासभा' के द्वारा पुस्तकालय आंदोलन के रूप में हुई थी लेकिन उसका भी एक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य था। इसी कारण इस पुस्तकालय आंदोलन से तीखा जन संघर्ष उभरा। बिहार के झारखंड क्षेत्र में आजादी के पहले आदिवासियों के बीच शिक्षा का काम ईसाई मिशनों द्वारा किया गया था। झारखंड क्षेत्र में आदिवासी आंदोलनों का लंबा इतिहास है जिसकी शुरुआत बीसवीं सदी के आरंभ के साथ हो जाती है। इन विभिन्न आंदोलनों के बारे में काफी कुछ लिखा भी गया है। इसी दौरान शिक्षा के प्रसार की भी शुरुआत हुई थी। आजादी के बाद झारखंड को अलग राज्य का दर्जा दिलवाने के लिए संगठित रूप से आंदोलन चलाया गया जिसका नेतृत्व झारखंड पार्टी ने किया। इस पार्टी के आदिवासी नेतृत्व ने मिशन स्कूलों में ही शिक्षा पाई थी। परंतु पचास के दशक के अंत तक आते आते झारखंड पार्टी का प्रभाव काफी कम हो गया था। तब संथाल नेतृत्व को समझ में आया था कि इस राजनीतिक संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए आम लोगों का शिक्षित होना जरूरी है। इस समझ के तहत ही संथाल परगना में गैर-राजनीतिक संस्थान, 'सोदो-कान्हू बैसी' की शुरुआत की गई। इस संस्थान का एक प्रमुख उद्देश्य संथालों और अन्य दलित लोगों के लिए प्रौढ़ शिक्षा केंद्र, पुस्तकालय और प्राथमिक शालाएं खोलना भी था। इसके बाद झारखंड मुक्ति मोर्चा ने 'अकिल अखाड़ो' और पुस्तकालयों के माध्यम से इस काम को जारी रखा। इस प्रकार बीसवीं सदी की शुरुआत से ही झारखंड आंदोलन में मिशन द्वारा संचालित स्कूलों में शिक्षित युवाओं ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया और नेतृत्व संभाला।

पर ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं। प्रो. शुक्ला के अनुसार समाजवादी विचारधारा वाले लोग इस समय (स्वतंत्रता-पूर्व) मजदूरों, किसानों, आदिवासियों और अनुसूचित जातियों को मुख्यत: 'आधुनिक' नेतृत्व के तहत संगठित करने और जन आंदोलनों में और उससे उठने वाली समस्याओं में उलझे हुए थे। उनके पास ब्रिटिशकालीन शिक्षा से अलग शिक्षा के बारे में सोचने या शिक्षा के मुद्दों पर आंदोलन करने का न तो वक्त था, न ऊर्जा थी और न ही प्रेरणा थी। गांधी की बुनियादी शिक्षा ब्रिटिश शिक्षा के एक महत्वपूर्ण विकल्प के रूप में सामने आई थी। इसके मूल में था आत्मनिर्भरता, शारीरिक श्रम और हस्तशिल्प का महत्व, सर्वोदय—यानी एक अलग तरह का व्यक्ति बनाने के लिए शिक्षा। इसी प्रकार रवींद्रनाथ ठाकुर की शिक्षा की कल्पना में उन्होंने मस्तिष्क विकास के लिए प्रकृति से निकटता और शिक्षा को औपचारिक बंधनों से दूर ले जाने की बात की थी। रवींद्रनाथ ठाकुर के इसी दर्शन के आधार पर शांतिनिकेतन में शिक्षा होती थी। ईसाई मिशनरियों ने चर्च के माध्यम से बड़े पैमाने पर अत्यंत गरीब और पिछड़े क्षेत्रों में आदिवासियों और अछूतों के बीच शिक्षा का प्रसार किया। हालांकि इन प्रयासों का दर्शन तथा ढांचा बुनियादी रूप से ब्रिटिश शासन की शिक्षा व्यवस्था के समान ही था लेकिन गरीबों पर उनके फोकस ने उनके प्रयासों को विशिष्ट बना दिया था। स्वयं फुले और उनके समकालीन निम्न जाति के बहुत से लोग ऐसे ही मिशन स्कूलों में शिक्षा पाकर प्रगतिशील विचारों और साहित्य से परिचित हुए थे। हालांकि ईसाई मिशनरियों के प्रयास धर्म परिवर्तन और ईसाई धर्म को सर्वश्रेष्ठ बताने जैसे विचार फैलाने के कारण विवादास्पद भी रहे परंतु यह भी तथ्य है कि इनके काम का लाभ अत्यंत पिछड़े और अविकसित क्षेत्रों के पिछड़े वर्गों और जातियों के बच्चों को मिला। ऐसा भी नहीं है कि इस शिक्षा ने शिक्षित वर्ग को अपने समाज से विमुख करने में पूर्ण सफलता हासिल की हो। बल्कि इसी शिक्षा का फायदा उठाकर, खास तौर से आदिवासी समाज में शिक्षित लोगों ने अपनी संस्कृति, अस्मिता और आर्थिक शोषण के प्रश्नों को ज्यादा मजबूती से उठाया (ई.पी.डब्ल्यू., 12.4.97)।

इन सभी प्रकार के शैक्षणिक प्रयासों में से मात्र बुनियादी शिक्षा को आजाद भारत में ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था के एक विकल्प के रूप में देखा गया था। क्या बुनियादी शिक्षा के दर्शन में यह संभावना थी कि आजाद भारत में यहां की जरूरतों के अनुसार एक वैकल्पिक और समतावादी शिक्षा व्यवस्था उभरती? यदि यह संभावना थी तो किन कारणों से ऐसा नहीं हुआ? बुनियादी शिक्षा पर एक संक्षिप्त विश्लेषण के आधार पर इन महत्वपूर्ण सवालों पर आगे प्रकाश डाला गया है।

बुनियादी शिक्षा

बुनियादी शिक्षा (नई तालीम या बेसिक एजुकेशन) का विचार भारतीय समाज के सामाजिक

और आर्थिक ढांचे में परिवर्तन के गांधी के दर्शन के साथ ही उठा तथा पनपा। यह विचार शिक्षा व्यवस्था को भीतर से सुधारने के लिए नहीं था। यह अलग विचार था बल्कि अंग्रेजी शिक्षा का विकल्प था, भारत की शिक्षा व्यवस्था को गांधी के आदर्शों के अनुरूप बनाने का। 'बुनियादी शिक्षा या नई तालीम न केवल शिक्षा के पुनर्गठन का प्रयास था वरन संपूर्ण भारतीय समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिए एक बड़ा कदम था। वर्धा में इसकी रूपरेखा तैयार करते समय गांधी ने शायद इसे भविष्य की शिक्षा का एकमात्र आदर्श रूप बनाना नहीं चाहा होगा। लेकिन शीघ्र ही कतिपय प्रांतों में कांग्रेस के सत्तारूढ़ हो जाने पर उनके लिए आवश्यक हो गया कि वे देश को एक कम खर्चीली जन शिक्षा उपलब्ध करा सकें। तत्कालीन वास्तविकताओं के संदर्भ में इस वृहद समस्या का एकमात्र व्यावहारिक हल था इस आत्मनिर्भर, श्रम केंद्रित बुनियादी शिक्षा को यथासंभव लागू किया जाना। डॉ. जाकिर हुसैन और सैयदन ने इसके समर्थन में अपनी राय देकर गांधी का पक्ष मजबूत बनाया। यद्यपि उनका मुख्य उद्देश्य समाज का नवनिर्माण नहीं बल्कि शिक्षा का मानवीकरण और व्यक्तिवाद का वर्चस्व बनाना था'. (शुक्ला, 1979 : 17, अनुवाद व सारांश रा.र.ह.)।

इस प्रकार बुनियादी शिक्षा के पक्ष में तीन तरह की ताकतें काम कर रही थीं : एक आदर्श समाज की चाह, नई उभरती हुई भारतीय प्रशासनिक तंत्र की तत्कालीन आर्थिक आवश्यकताएं (बुनियादी शिक्षा का आत्मनिर्भरता वाला पहलू) तथा व्यक्ति की महत्ता बनाए रखने का आग्रह। बुनियादी शिक्षा में जोर शारीरिक श्रम और अवलोकन का प्रशिक्षण, सामाजिक परिवर्तन और ऐसे नए मूल्यों को विकसित करने पर था जो प्रजातांत्रिक समाज की स्थापना के लिए आवश्यक हैं। गांधी द्वारा शिक्षा में श्रम को केंद्रीय स्थान देने का आग्रह भी अधिक विवादास्पद नहीं बना। इन बुनियादी सिद्धांतों के कारण नई तालीम को काफी लोगों से समर्थन मिला। पर ऐसा नहीं था कि सभी लोग सभी सिद्धांतों से सहमत रहे हों। गांधीवादी और अन्य शिक्षाविदों के बीच इस बात को लेकर मतभेद था कि सीखने की प्रक्रिया में किस हद तक कर्म (शारीरिक श्रम समेत) को केंद्रीय माना जाए और काम में किस प्रौद्योगिकी का उपयोग हो। यह भी स्पष्ट था कि आत्मनिर्भरता जैसा महत्वपूर्ण मुद्दा विद्यार्थियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं को सुनिश्चित बाजार उपलब्ध कराने के लिए पूरी तरह से राजसत्ता के सहयोग पर निर्भर था।

हालांकि गांधी बाल मजदूरी के खिलाफ थे लेकिन बच्चों के काम करने के खिलाफ वे नहीं थे। बल्कि बाल श्रम या 'श्रम प्रशिक्षण' को शिक्षा का हिस्सा बनाना तो बुनियादी शिक्षा की केंद्रीय अवधारणा थी ही। पद्धति के स्तर पर बुनियादी शिक्षा का अर्थ था कि शिक्षा के सब विषय श्रम और हस्तशिल्प की गतिविधियों से निकलें। गांधी का विचार था कि प्राथमिक शिक्षा के मुफ्त सर्वव्यापीकरण के खर्च का कम से कम कुछ हिस्सा तो बच्चों के श्रम से निकलना चाहिए। गांधी को लगता था कि भारत जैसे गरीब देश में सभी बच्चों के लिए मुफ्त प्राथमिक शिक्षा देने के लिए स्रोत जुटा पाना संभव नहीं होगा, न ही

अधिकतर बच्चों के माता-पिता कभी फीस दे पाएंगे। इसलिए यह जरूरी है कि बच्चे अपनी शिक्षा की आंशिक या पूरी कीमत अपने श्रम से चुकाएं। उनका मानना था कि इससे दो मकसद पूरे होंगे। एक, बच्चे श्रम का मूल्य पहचानेंगे और दूसरा, इस प्रकार हमारे जैसे गरीब देश के लिए ऐसी शिक्षा बच्चों को ऐसा कौशल दे पाएगी जिससे वे आत्मनिर्भर बनेंगे (कृष्णा, 1996 : 25)। उनका कहना था कि सारी शिक्षा किसी हस्तशिल्प या उद्योग सिखाने के माध्यम से ही दी जानी चाहिए। *हरिजन* (30 अक्टूबर 1937) में उन्होंने लिखा था, 'मैं शिक्षक का खर्चा उसके विद्यार्थियों के श्रम के उत्पाद से निकले इसका बहुत इच्छुक हूं क्योंकि मैं आश्वस्त हूं कि हमारे करोड़ों बच्चों को शिक्षित करने का कोई और तरीका नहीं है' (कृष्णा, 1996 : 26)।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद कांग्रेस के सत्ता में आने पर शायद बुनियादी शिक्षा को कम पैसों में जन शिक्षा उपलब्ध कराने की समस्या के व्यावहारिक हल के रूप में देखा गया। इसलिए बुनियादी शिक्षा को औपचारिक शिक्षा की मुख्य धारा के साथ जोड़ने का प्रयास किया गया। पर शुक्ला के अनुसार, 'अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था के विरोध के परिणामस्वरूप इस संदर्भ में सबसे बड़े स्तर पर असफल गांधी द्वारा प्रस्तावित बुनियादी शिक्षा योजना थी' (शुक्ला, 1979 : 2)।

'बुनियादी शिक्षा को असफलताओं का सामना करना पड़ा क्योंकि छात्र उत्तरोत्तर प्रगतिशील औद्योगिक परिवेश के लिए तैयार नहीं हो पाए थे (हस्तशिल्प में दक्षता या महारत हासिल नहीं हो पाती थी); शिक्षण सामग्री और विभिन्न अभिकरणों में पारस्परिक संबंध की तकनीक विकसित नहीं हो सकी थी; सामाजिक ढांचे में जहां अंग्रेजीदां अधिकार तंत्र का वर्चस्व था वहीं बेसिक स्कूलों में छात्र इस भाषा में पर्याप्त दक्षता प्राप्त नहीं कर सके थे। इसी प्रकार श्रम केंद्रित शिक्षा का वास्तविक जीवन पद्धति से तालमेल नहीं हो सका था। बेसिक शिक्षा में समाज के अभिजात वर्ग की साहित्यिक और कलात्मक अभिरुचियां संतुष्ट नहीं हो सकती थीं' (शुक्ला, 1979 : 18, अनुवाद और सारांश रा.र.ह.)।

दो वर्ष पहले प्राथमिक शिक्षा पर तैयार रपट *सिटिजंस इनीशिएटिव* के अनुसार बुनियादी शिक्षा की असफलता के कारण थे :

- अभिजात और सत्ताधारी वर्ग ने इसे शिक्षा के मॉडल के रूप में नहीं स्वीकारा;
- आम जनता ने इसे निम्न स्तरीय या सेकेंड रेट शिक्षा, जो स्कूली शिक्षा से भिन्न है, मानकर अस्वीकार कर दिया;
- यह बड़े शहरों में सुविधाभोगी लोगों को ही उपलब्ध कराई जा सकी;
- अंग्रेजी न सिखाई जाने के कारण इसे घटिया माना गया;
- सिखाया जाने वाला हस्तशिल्प पुराना था;
- वास्तव में प्रति विद्यार्थी खर्चा ज्यादा आया और इसके लिए सरकारी पैसा उपलब्ध नहीं था (*सिटिजंस इनीशिएटिव,* 1996 : 33)।

कृष्णा के अनुसार, 'भारतीय शिक्षा व्यवस्था ने बुनियादी शिक्षा की अवधारणाओं और कर्म तथा स्कूल के वैकल्पिक रास्तों की दुनिया को नहीं अपनाया जिसकी वकालत महात्मा गांधी और जाकिर हुसैन जैसे शिक्षाविदों ने की थी। शोषण रहित उत्पादक श्रम को बच्चों की शिक्षा का मूल बनाने के गांधी के दर्शन का आधार वही आर्थिक आदर्श था जिसमें एक गांव उत्पादन की एक आत्मनिर्भर इकाई था। सीमित स्रोतों से स्कूलों के प्रसार का यह एक ऐसा क्रांतिकारी हल था जिसका कोई परीक्षण नहीं हुआ था। लेकिन आजाद भारत में जिन राजनीतिज्ञों और प्रशासकों के ऊपर दशकों के विकास के अवरोध को समाप्त करने की जिम्मेदारी आई थी उन्हें शायद ऐसे क्रांतिकारी प्रयोग पर भरोसा नहीं था। उन्हें उन रास्तों पर चलना ज्यादा सरल और सुरक्षित लगा जो अंग्रेजों के समय में स्थापित हो चुके थे। इसीलिए ढांचों में बिना कोई परिवर्तन किए सीधे शिक्षा का प्रसार कर दिया गया। पर साथ ही वे यह भी जानते थे कि गांधी के दर्शन को, उसके प्रतीकात्मक महत्व के कारण किसी तरह से राष्ट्रीय नियोजन में शामिल करना जरूरी था। इसलिए गांधी का उत्पादक कर्म का विचार सांकेतिक रूप में औपचारिक शिक्षा व्यवस्था में शामिल कर लिया गया और पचास व साठ के दशक में कोई एक हस्तशिल्प सीखना प्राथमिक शिक्षा का जरूरी हिस्सा बन गया' (कृष्णा, 1996 : 103)।

शिक्षाविद प्रो. कृष्णकुमार के अनुसार 1964 में शिक्षा पर गठित कोठारी कमीशन ने, जिसने अपनी रपट 1966 में दी, बुनियादी शिक्षा को पूरी तरह से अस्वीकार किया। कोठारी कमीशन की रपट में बुनियादी शिक्षा में बच्चों को खेती सिखाने की प्रक्रिया को अप्रभावशाली बताया गया और खेती के परंपरागत तरीकों को अवैज्ञानिक। इस रपट में खेती के आधुनिकीकरण तथा विज्ञान और तकनालाजी पर जोर दिया गया है। इस तरह से आधुनिक खेती तथा विज्ञान को एक सीमित दायरे में परिभाषित किया गया। इसका मतलब था अमरीका की रासायनिक खाद और कीटनाशक कंपनियों के लिए बाजार उपलब्ध कराना और वहां की विकसित पद्धतियों, प्रौद्योगिकी और ज्यादा उपज देने वाले संकर बीजों का भारत में अंधाधुंध उपयोग को बढ़ावा देना। प्रो. कुमार के अनुसार इस प्रकार की खेती से अन्न का उत्पादन तो बढ़ा, लेकिन इसकी काफी बड़ी कीमत भी चुकानी पड़ी। इस प्रकार की खेती से बहुत से छोटे और मध्यम किसानों की जमीनें बड़े किसानों के हाथों में पहुंचीं तथा भूमिहीन मजदूरों की संख्या बढ़ी यानी भूमि सुधार कार्यक्रम का बिलकुल उलटा हुआ। अमीरी और गरीबी की खाई बढ़ी। जमीन की उर्वरता घटी। अधिक सिंचाई से दलदलीकरण बढ़ा। दलहन फसलों का उत्पादन घटा क्योंकि जमीन दलहन फसलें उगाने के लायक नहीं रहीं। उन्नत फसलों को उगाने के लिए अधिक पानी की आवश्यकता की आपूर्ति के लिए अधिक कुएं तथा ट्यूबवेल खुदे, बड़ी मात्रा में जंगल काटे गए और बड़े बांध बनाए गए जिससे लाखों लोग विस्थापित हुए (कुमार, 1997)।

इस लेख में प्रो. कृष्णकुमार ने खेती के आधुनिकीकरण का हरित क्रांति वाले मॉडल पर एक विश्लेषणात्मक टिप्पणी की है। उनका यह भी कहना है कि इन परिवर्तनों को

लागू करने के लिए उच्च स्तरीय कृषि विश्वविद्यालय खोले गए। स्पष्ट रूप से इससे बड़े किसानों को ही लाभ पहुंचा तथा उनकी ताकत को और सुदृढ़ किया। कोठारी कमीशन की रपट के दो अत्यंत महत्वपूर्ण पहलुओं—बुनियादी शिक्षा की अवहेलना और इसके साथ ही अमरीका में विकसित हरित क्रांति के मॉडल की पैरवी—की तरफ प्रो. कृष्णकुमार ध्यान आकर्षित करते हैं। अमरीका में हरित क्रांति के दुष्परिणाम साठ के दशक तक सामने आने शुरू हो गए थे। रासायनिक खादों, कीटनाशक दवाइयों आदि बनाने वाली कंपनियों को नए बाजारों की तलाश थी और भारत को अधिक खाद्य सामग्री की। इसलिए यहां यह पैकेज आया। लेकिन क्या प्रो. कृष्णकुमार यह भी सुझा रहे हैं कि भारत की शिक्षा के लिए बुनियादी शिक्षा एक कारगर, वैकल्पिक मॉडल हो सकता था? क्या इस मॉडल में भूमिहीन और भूस्वामियों के बीच के बुनियादी टकराव, भूमि के असमान वितरण के कारण पनपते असंतोष से जूझने की कोई योजना या सुझाव थे? क्या खेती पर आधारित शिक्षा के लिए ऐसे मॉडल की आवश्यकता नहीं थी जो न केवल किसानों और मजदूरों के ज्ञान को आधार बनाए बल्कि उस समाज की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों, टकरावों, गैरबराबरी और विरोधाभासों को भी मद्देनजर रखता। बुनियादी शिक्षा का व्यावहारिक रूप वर्धा के अलावा कहां लागू हुआ और सफल हुआ यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है तथा इसकी भी पड़ताल होना आवश्यक है।

आत्मनिर्भरता बुनियादी शिक्षा के वर्धा मॉडल का एक महत्वपूर्ण पहलू था। प्रो. शुक्ला के अनुसार इसी कारण से बी.जी. खेर समिति ने 1944 में इस मॉडल को स्वीकार किया था। इस समिति को लगता था कि इस मॉडल से जन शिक्षा का उद्देश्य *कम खर्चे* में पूरा किया जा सकता है। बी.जी. खेर समिति जिसका गठन केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने 10 वर्षों में प्राथमिक शिक्षा के सर्वव्यापीकरण का प्रस्ताव तैयार करने के लिए किया था, जिसे फिर संविधान की धारा 45 में '14 वर्ष की उम्र तक शिक्षा' शीर्षक के तहत रखा गया, वह गांधी की वर्धा की बुनियादी शिक्षा की योजना के आत्मनिर्भरता वाले पहलू पर निर्भर थी और बाद में ऐसा अनुभव हुआ कि इस प्रकार शिक्षकों का वेतन और सामग्री की कीमत उगाहना संभव है, खास तौर से वरिष्ठ बुनियादी शालाओं में तथा बड़ी कक्षाओं में और भी ज्यादा (शुक्ला, 1997 : 1826)। लेकिन शुक्ला स्वयं ही बताते हैं कि बी.जी. खेर खुद बच्चों के श्रम से स्कूल का खर्चा निकालने को लेकर बहुत इच्छुक नहीं थे (शुक्ला, 1997 : 1830)।

प्रो. शुक्ला ने 1976 और 1979 में बुनियादी शिक्षा की असफलता के कारणों में औपचारिक शिक्षा जैसे ढांचों का न होना बताया था यानी कक्षाओं में लिकेज, अंग्रेजी भाषा, निश्चित पाठ्यक्रम, पाठ्य पुस्तकें, प्रशिक्षित और पूर्णकालिक शिक्षक आदि का न होना। 1997 में वे बुनियादी शिक्षा के आत्मनिर्भरता वाले पहलू से जुड़े ज्यादा बुनियादी तनावों की ओर इशारा करते हैं। हालांकि वे इसे स्पष्ट रूप से अपने पहले के विश्लेषण के संदर्भ में नहीं कहते हैं। 1998 में जब पाठकों को 1976 से 1997 तक लिखे लेख एक साथ

उपलब्ध हों तब विश्लेषण के जोर में यह अंतर स्पष्ट झलकता है। इनके अनुसार, 'परंतु इस आपसी संपूरकता और सुसंगतता के साथ हम लगातार एक तनाव भी देखते हैं। यह तनाव बच्चों के श्रम से आर्थिक उत्पादन, उससे शिक्षा की संभावनाएं, शिक्षा की कीमत—खास तौर से यह मानकर चलते हुए कि शिक्षक का वेतन कम होगा—बच्चों की शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों के बीच प्रतिस्पर्धा के बीच भी दिखता है—जैसे बौद्धिक विकास, शारीरिक और सामाजिक कुशलताएं और मूल्य तथा संस्कृति आदि के बीच दिखता है जो आजादी के बाद के दो दशकों की चर्चाओं में भी साफ दिखता था' (शुक्ला, 1997 : 1826)।

ऐतिहासिक रूप से यह समझना जरूरी है कि बुनियादी शिक्षा जो चाहे लिंकेज, गुणवत्ता या आर्थिक आत्मनिर्भरता जैसी अपेक्षाएं पूरा न कर पाने के कारण पचास के दशक में असफल रही जिसे, 'हमारे देश में शिक्षा की औपनिवेशिक विरासत दूर करने का एकमात्र महत्वपूर्ण प्रयास' (कुमार, 1996 : 2369) माना गया, वह 1960 के दशक में (कोठारी कमीशन की रिपोर्ट में) और हाशिए पर क्यों चली गई? क्या कारण मात्र वही हैं जो प्रो. कृष्णकुमार ने अपने लेख (कुमार, 1996) में बताए हैं या बुनियादी शिक्षा के दर्शन में भी कुछ निहित था जिससे उसका प्रसार और सफलता, स्वतंत्रता मिलने के पश्चात भारत की उभरती आर्थिक विकास की नीतियों के तहत संभव ही नहीं थी? बुनियादी शिक्षा की अवधारणा कई शिक्षाविदों द्वारा आज भी एक ऐसे आदर्श के रूप में प्रस्तुत होती है और उम्मीद जताई जाती है जैसे यदि इस पर उचित ध्यान दिया जाता तो शायद प्राथमिक शिक्षा की स्थिति उतनी खराब और निरर्थक न होती जितनी आज है। पर ऐसी मान्यता का ठोस आधार क्या है? क्या भारतवर्ष का अभिजात्य वर्ग अपने बच्चों के लिए बुनियादी शिक्षा की अवधारणा कभी स्वीकार करता या क्या बुनियादी शिक्षा की बात केवल जन शिक्षा के संदर्भ में थी? क्या बुनियादी शिक्षा को इलीट पब्लिक स्कूलों के साथ गरीबों के लिए दोयम दर्जे की शिक्षा के रूप में स्थापित होना था या पब्लिक और प्राइवेट स्कूलों के खत्म करने की बात थी जैसा कि शायद चीन की सांस्कृतिक क्रांति के दौरान किया गया—पुराने संस्थानों को समाप्त करके क्रांति के बाद उन्हें नए सिरे से पुनर्गठित किया गया। बुनियादी शिक्षा के संदर्भ में ऐसा कभी कोई विचार भी था, इतिहास में यह दिखता नहीं है। बल्कि प्रो. कृष्णकुमार ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक राज, *समाज और शिक्षा* के अध्याय 'शिक्षा और विषमता' में साफ लिखा है, 'आजादी के बाद भी पब्लिक स्कूलों की रीति-नीति और उनके ढांचों में कोई परिवर्तन नहीं आया। धनी परिवारों के बच्चों के अलावा वे बड़े अधिकारियों तथा मंत्रियों के बच्चों के शिक्षा के अड्डे बन गए।...सरकार ने 'पब्लिक' स्कूलों के प्रति कभी कड़ा रवैया नहीं अपनाया। सच तो यह है कि सरकारी स्तर पर 'पब्लिक' स्कूलों के संबंध में कोई गंभीर विवाद नहीं उठा' (कुमार, 1990 : 50)। प्रो. कृष्णकुमार का कहना है कि 'पब्लिक स्कूल मुख्य धारा से अलग थे। ये समाज के समृद्ध तथा पिछड़े वर्गों का अंतर पुख्ता कर रहे थे। लेकिन देश के सत्ताधारी, नौकरशाह

और राजनीतिज्ञ आम तौर पर यहीं के शिक्षार्थी थे/हैं।

एक बार एक विद्यार्थी ने प्रश्न किया था कि गांधी और माओ के शिक्षा दर्शन में क्या अंतर है? दोनों ने ही शारीरिक श्रम के महत्व की बात की है और शिक्षा और उत्पादन द्वारा यह स्थापित करने की भी। यह अंतर काफी बुनियादी स्तर का है। गांधी के दर्शन में यह निहित है कि गरीब लोगों को अपनी शिक्षा का खर्चा खुद अपने श्रम के उत्पाद से निकालना होगा। इस प्रकार विद्यार्थी न केवल श्रम का मूल्य समझेंगे बल्कि शिक्षा के बाद वे किसी हस्तशिल्प में कुशलता हासिल कर चुके होंगे। गांधी शिक्षा में जबरदस्ती के खिलाफ थे। चाहे ऐसा गांधी ने सोचा हो या नहीं, पर बुनियादी शिक्षा की अवधारणा से तीन प्रमुख बातें उभरकर आती हैं। पहली, राजसत्ता के ऊपर जन शिक्षा की प्रमुख जिम्मेदारी नहीं पड़ती। दूसरी, श्रम केंद्रित शिक्षा और श्रम का मूल्य समझाना आदि बातें मुख्यत: उन्हीं के लिए रह गई हैं जो अथक श्रम करते हैं, श्रम बेचकर ही जीवनयापन करते हैं क्योंकि स्थापित ढांचों और संस्थानों पर चोट का सवाल था ही नहीं। तीसरी, अभिजात वर्ग को उत्पादन में जुड़ना, श्रम का मूल्य जानना आदि जैसा आग्रह कहीं नहीं दिखता। माओ के दर्शन में बौद्धिक और शारीरिक श्रम में भेद मिटाने की बात है। उसके लिए माओ को पुराने ढांचों को तोड़ने तथा सख्ती करने से परहेज नहीं था जैसा कि सांस्कृतिक क्रांति के दौरान हुआ। एक और महत्वपूर्ण अंतर यह भी है कि माओ ने इन परिवर्तनों की बात चीन में जन क्रांति के बाद की जब देश के बुनियादी आर्थिक ढांचे को भी पुनर्गठित किया जा रहा था। हालांकि आजादी के बाद भारत में भी कुछ मूलभूत परिवर्तन के प्रयास हुए जैसे भूमि सुधार। पर एक तो ये शीघ्र समाप्त हो गए और दूसरा विकास तथा आर्थिक नीतियां भी आम जन के पक्ष में नहीं थीं।

सत्तर के दशक में बुनियादी शालाओं की स्थिति

बुनियादी शिक्षा के जो भी बचे-बचाए अंश इस लेखिका ने महाराष्ट्र के थाने जिले में स्व. अनुताई बाग की संस्था कोसबाड़ में, गुजरात के सूरत जिले में गांधी विद्यापीठ के आसपास के स्कूलों में या मध्य प्रदेश में सरकारी बुनियादी शालाओं में सत्तर के दशक की शुरुआत में देखी थी उससे बुनियादी शिक्षा का काफी हतोत्साहित करने वाला चित्र उभरकर आता है। हस्तशिल्प सिखाना बुनियादी शिक्षा के दर्शन का एक महत्वपूर्ण पहलू था, पर कमाई के साधन के रूप में उसकी सफलता के लिए खास तरह के आर्थिक ढांचे की आवश्यकता थी जिसमें गांव को एक स्वायत्त आर्थिक इकाई के रूप में विकसित होना जरूरी थी। क्या ऐसी अर्थव्यवस्था तीस और चालीस के दशक में भी संभव थी? जिस हस्तशिल्प में बच्चे ज्यादा पारंगत भी नहीं हो पाते थे, क्या बच्चों के उस हस्तशिल्प से उत्पादित वस्तुओं को खुले बाजार में बेचकर आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनना किसी भी समय में संभव था?

बुनियादी शिक्षा की इन आर्थिक मान्यताओं, जो एक प्रकार से रीढ़ थीं, पर चर्चा नहीं होती है।

कोसबाड़ (थाना), बारदोली, मढ़ी और वेडछी की (सभी सूरत जिले में) बुनियादी शिक्षा शालाओं में शिक्षकों से चर्चा करके समझ में आया कि उनके द्वारा गांधी के सिद्धांतों की की गई व्याख्या में शिक्षक और विद्यार्थी के बीच बराबरी तथा संवाद आधारित रिश्ते की कल्पना भी नहीं थी। शारीरिक श्रम का महत्व इतना था कि यह अनुभव किसके खेत पर, किसका काम करके हो रहा है इन मुद्दों पर ध्यान ही नहीं दिया गया। मढ़ी के स्कूल के एक शिक्षक ने बहुत गर्व से बताया कि वे शारीरिक श्रम करवाने के लिए छोटी-छोटी लड़कियों को पास के एक जमींदार के खेत में ले जाते हैं। जब उनका ध्यान इस ओर खींचा गया कि इस प्रकार बिना पैसों के बच्चों से किसी और के खेत पर काम करवाना तो बेगारी करवाना है तो वे इससे सहमत नहीं थे। उनका ध्यान इस ओर भी खींचा गया कि वे बच्चियों को जमींदार (बड़े किसान) के खेतों पर ही क्यों ले जाते हैं और इस प्रकार की शिक्षा के क्या राजनीतिक पहलू हैं। इन मुद्दों से या तो वे अनभिज्ञ लगे या वे जानते हुए भी इस चर्चा में नहीं पड़ना चाहते थे। इस प्रकार काम करवाने से लड़कियों की अपनी आत्मछवि पर क्या असर पड़ता होगा तथा समाज में अपने नीचे स्थान और ताकत तथा असमानता के समीकरणों को स्वीकारने की जो मानसिकता बनेगी (समाजीकरण) बुनियादी शिक्षा में कहीं उस पर सवाल खड़े करना भी कोई उद्देश्य था कभी?

मैं जितनी भी कक्षाओं में बैठी उसमें पूरी प्रक्रिया एकतरफा थी यानी शिक्षक बोलते थे, लगातर और विद्यार्थी सुनते थे। विद्यार्थी क्या सोच रहे हैं इसे जानने या समझने की कोई गुंजाइश नहीं थी। मैंने हर जगह विद्यार्थियों से अलग से बात की जिसे कई संस्थाओं में पसंद नहीं किया गया। विद्यार्थी सख्त अनुशासन और शिक्षक तथा विद्यार्थियों के बीच संवादहीनता के कारण काफी असंतुष्ट थे। मढ़ी का स्कूल लड़कियों का प्रसिद्ध स्कूल था। प्रसिद्धि का कारणा था उसका सख्त अनुशासन। उस स्कूल में सभी दूर-दूर के गांवों से आई लड़कियां आदिवासी थीं और छात्रावास में रहतीं थीं। इन लड़कियों को अपने स्कूल और छात्रावास के आसपास लगे पेड़ों के नीचे गिरे फल उठाकर खाने की भी अनुमति नहीं थी। सादगी और अनुशासन के नाम पर इन्हें अपने बालों में फूल या रिबन तक लगाने की छूट नहीं थी। पर वे अपने टूटे हुए बालों को इकट्ठा करके, उन्हें गूंथकर, रिबन की तरह इस्तेमाल कर सकती थीं। अनुशासन की ये परंपराएं बहुत उत्साह और गौरव से बताई जाती थीं। आज से 25 साल पहले भी मढ़ी का स्कूल देखकर लगा था कि जैसे वक्त कहीं ठहर गया है। वहां की शांति में बच्चों का स्वाभाविक शोर और खिलखिलाहट कहीं दबी-सी लगती थी। ऐसा लगा था जैसे प्रकृति के निकट रहने वाली प्राथमिक कक्षाओं की छोटी-छोटी आदिवासी लड़कियां एक साफ-सुथरे कैदखाने में आ गई थीं। उनकी बेरंग वेशभूषा मुझे हिला गई।

वेडछी में गांधी विद्यापीठ के युवा विद्यार्थियों ने बताया था कि वे सुबह एक घंटा

विद्यापीठ के खेतों में श्रमदान करते हैं हालांकि खेती मजदूरों द्वारा ही करवाई जाती है। ये युवक विद्यापीठ के छात्रावासों और कमरों में चाय पीने की मनाही से बहुत नाराज थे। वे सभी चाय पीने विद्यापीठ से करीब दो किलोमीटर दूर वालोद जाते थे। यह चोरी थी क्योंकि कायदे से चाय बाहर भी नहीं पी जा सकती थी। अनुशासन के इन मापदंडों पर विद्यार्थियों और शिक्षकों के बीच चर्चा का माहौल नहीं था। सत्तर के दशक तक शिक्षा पर मेरे विचार भी अस्पष्ट थे। फिर भी शिक्षक और विद्यार्थियों के बीच इतनी संवादहीनता, गैरबराबरी तथा लगभग तानाशाही जैसा अनुशासन और शारीरिक श्रम की औपचारिकता देखकर मैं सोचती रही हूं कि क्या यह सब गांधी की बुनियादी शिक्षा की कल्पना में निहित था या मैंने उसका एक बिगड़ा हुआ स्वरूप देखा था? या क्या गांधी की आदर्शवादी कल्पना का स्वरूप बिगड़ना उस दर्शन की निहित कमजोरी भी दरशाता है?

समीक्षा : बुनियादी शिक्षा की अवधारणा के—आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक—समस्त पहलुओं पर बहस जरूरी है। यह तो साफ है कि उस अवधारणा में जरूर कुछ ऐसे नवाचार रहे जो भारत के लिए ज्यादा अनुकूल और औपनिवेशिक शिक्षा के विकल्प दिखे थे। लेकिन अगर वह एक महत्वपूर्ण अवधारणा या दर्शन था तो उसकी सीमाओं और क्षमताओं के साथ उसे समझना शायद आज भी जरूरी है। यहां प्रस्तुत प्रश्न और समीक्षा इसी उद्देश्य से की गई है।

बुनियादी शिक्षा पर शिक्षाविदों और राजनीतिज्ञों के बीच मतैक्य कभी नहीं रहा। वर्धा सम्मेलन के बाद जाकिर हुसैन और सैयदन को ये विचार आकर्षक जरूर लगे। लेकिन जैसा पहले भी कहा गया है, गांधी और उनके उद्देश्यों में अंतर थे। 1944 में बनी खेर समिति और आजादी के बाद दस वर्षों में प्राथमिक शिक्षा का मुफ्त सर्वव्यापीकरण—दोनों ही गांधी की कल्पना से हटकर थे। छोटी कक्षाओं के खर्चे बच्चों के श्रम और उत्पादन से निकालने की बात से खेर समिति सहमत नहीं थी। उनका मत था कि यह अपेक्षा नहीं होनी चाहिए (आचार्य, 1996 : 19)। गांधी जहां सरकारी खर्चे पर प्राथमिक शिक्षा के पक्षधर नहीं थे वहां इस समिति का मत था कि शिक्षकों को प्रशिक्षित होना चाहिए। उनकी पूर्णकालिक नौकरी होनी चाहिए और स्कूल चलाने का खर्चा सार्वजनिक स्रोतों से निकलना चाहिए। जरूरी शिक्षा, जो उद्देश्य संविधान का हिस्सा बना, गांधी उसके पक्ष में नहीं थे। उन्हें लगता था कि शिक्षा में जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए (आचार्य, 1996 : 11)। जे.पी. नायक भी पूरी तरह से गांधी की बुनियादी शिक्षा के पक्ष में नहीं थे। 1956 में वैसे भी यह अवधारणा बदलकर 'सामाजिक रूप से उपयोगी काम' के रूप में परिवर्तित हो गई थी (कृष्णा, 1996 : 104; आचार्य, 1996 : 33)। और अब इसका परिमार्जित रूप 'वर्क एक्सपीरियंस फार चिल्ड्रन' (बच्चों के लिए कार्य अनुभव) के नाम से जाना जाता है (कृष्णा, 1996 : 104)। सामाजिक रूप से उपयोगी काम (एस.यू.पी.डब्ल्यू.) में परंपरागत पाठ्यक्रम में कुछ सरल और सीमित कार्य-अनुभव जोड़ दिया जाता था, पर इसका बुनियादी

शिक्षा से दूर का भी संबंध नहीं था। 1964-66 की कोठारी कमीशन की रपट में बुनियादी शिक्षा का नाम न आने पर जब इस संबंध में उनसे पूछा गया तो उन्होंने बताया कि बुनियादी शिक्षा काफी विवादास्पद अवधारणा बन गई थी। कई शिक्षाविदों जैसे आर.वी. परुलेकर और उनके साथी की हैसियत से जे.पी. नायक का भी यह मत था कि शीघ्र सर्वव्यापीकरण की दृष्टि से अ-बुनियादी शिक्षा ज्यादा तेजी से परिणाम देगी। कुछ वर्षों के अनुभव से यह भी सिद्ध हो गया था कि बुनियादी शिक्षा वास्तव में सस्ती नहीं थी (शुक्ला, 1997 : 1827)। असल में 1950 में भारत के संविधान में मुफ्त प्राथमिक शिक्षा का वादा यह स्पष्ट कर देता है कि तीस के दशक में आत्मनिर्भरता का जो आकर्षण बुनियादी शिक्षा में दिखा था पचास का दशक आते-आते वह भी खत्म-सा हो गया था। साथ ही यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि इसी दशक से भारत में पूंजीवादी विकास का दौर शुरू हुआ और आर्थिक विकास के लिए मानव प्रशिक्षण (शिक्षा) महत्वपूर्ण उद्देश्य के रूप में उभरा। यानी मानव, मानव पूंजी (ह्यूमन कैपीटल) बना और औद्योगिक विकास के लिए शिक्षा में निवेश आवश्यक शर्त बनी। यह बात अलग है कि शिक्षा और आर्थिक विकास में सीधा संबंध नहीं है। यह बाद में स्पष्ट भी हुआ। बुनियादी शिक्षा पर गहरे मतभेद हालांकि उसके हस्तशिल्प तथा शारीरिक श्रम की प्रधानता पर बल के कारण भी थे। एक तो यह बात स्पष्ट है कि बुनियादी शिक्षा और देश की आर्थिक व्यवस्था ये दो अलग बातें गांधी के दिमाग में नहीं थीं और आजादी के बाद की आर्थिक नीतियों में बुनियादी शिक्षा की परिकल्पना वैसे ही फिट नहीं थी। लेकिन इतना ही जरूरी यह बात समझना भी है कि शायद श्रम और हस्तशिल्प से शिक्षा जैसे सिद्धांत मध्यम और उच्च वर्ग के गले भी नहीं उतरे। इसमें भी प्रश्न मात्र 'कर्म से शिक्षा' संभव है या नहीं या जो शक जाहिर हुए, जिनका जिक्र शुक्ला असफलताओं के कारणों में करते हैं, वही नहीं थे। यह शारीरिक श्रम के खिलाफ वर्ग आधारित प्रतिक्रिया भी रही।

हमारे समाज में गरीब परिवारों के बच्चे तो वैसे ही शारीरिक श्रम करते हैं चाहे वे मजदूरी करें या घर की खेती-किसानी या हस्तशिल्प कारीगरों के बच्चे कारीगरी सीखें। परंतु मध्यम और उच्च वर्ग (उच्च जातियों समेत) का हाथ से काम करने को लेकर रवैया नकारात्मक ही है खास तौर पर बच्चों के लिए। इन वर्गों में शारीरिक श्रम को अभाव और कम प्रतिष्ठा का द्योतक माना जाता है। कोई विशिष्ट कौशल हासिल करना फिर भी एक अलग बात है, लेकिन शारीरिक श्रम और अपने उत्पादन से स्कूल चलाने के लिए धन अर्जित करना वास्तव में खाते-पीते घरों के लिए अपनी सामाजिक औकात गिराना जैसा होता है। इसलिए बिना अभिजात शिक्षा व्यवस्था को खत्म करे, चाहे-अनचाहे, बुनियादी शिक्षा की अवधारणा में यह निहित हो जाता है कि ऐसी सस्ती शिक्षा गरीबों के बच्चों के लिए है। लेकिन बुनियादी ढांचागत समस्याओं के कारण वह भी नहीं हुआ।

इस संबंध में दो बातें और। पिछले कुछ सालों से बुनियादी शिक्षा की उपयोगिता और सामयिकता पर फिर से चर्चाएं और बहसें शुरू हुई हैं। जाहिर है अब समय और

संदर्भ बदल गया है, इसलिए जो बातचीत है, वह भी उस संपूर्ण परिकल्पना पर आधारित नहीं है जो शायद गांधी के दिमाग में थी। मसलन प्राथमिक शिक्षा की आत्मनिर्भरता का मुद्दा गांधी के लिए महत्वपूर्ण उद्देश्य था। लेकिन वर्तमान समय में बुनियादी शिक्षा की बहस से यह विषय बाहर हो गया है। और हस्तकौशल सीखना और हस्तकौशल को केंद्रीय उद्यम बनाकर पाठ्यक्रम को उसके इर्द-गिर्द बुना जाए, इसकी अब सिर्फ बात होती है। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि स्कूली उत्पाद को बाजार में बेचकर स्कूल चलाना संभव ही नहीं हुआ। बुनियादी स्कूलों में तैयार की गई टाट पट्टियां, चाक इत्यादि भी सरकार ही खरीदती थी और पूरी तरह यह घाटे का सौदा न हो जाए, इसलिए कई बार मजदूर लगाकर भी उत्पादन का लक्ष्य पूरा किया जाता था। यहां यह मुद्दा उठाना इसलिए जरूरी लगता है क्योंकि बुनियादी शिक्षा की बहस में से आर्थिक पहलुओं को इस प्रकार अचानक अलग नहीं किया जा सकता है।

दूसरी बात बालकेंद्रित शिक्षा, बाल मजदूरी और जिम्मेदारी जैसे मुद्दों से संबंधित है। इस संदर्भ में प्रो. कृष्णकुमार के एक व्याख्यान के कुछ अंश उद्धृत करने से मदद मिलेगी। इनके अनुसार, 'खासतौर से जिस मुद्दे को लेकर सबसे ज्यादा झंझट बुनियादी शिक्षा का नाम सुनते ही शुरू हो जाता है, वह झंझट है जिम्मेदारी। खासतौर से किसी चीज को इस तरह बनाना जिसका समाज में कोई मूल्य हो, उसका कोई मूल्य समाज के अर्थतंत्र में आंका जा सके।' बाल मजदूरी की बहस के संदर्भ में आगे कहते हैं, '...इस बहस के संदर्भ में बुनियादी शिक्षा का प्रस्ताव एक ऐसा आयाम एकाएक हमारे सामने प्रस्तुत करता है जिसको देखकर आप चल रही बहस से बुनियादी शिक्षा की संगति आप एकदम नहीं बिठा सकते। बाल मजदूरी को किस तरह परिभाषित किया जाए यह एक अलग ही मुद्दा है। लेकिन फिर राष्ट्रीय एका इस बात को लेकर बना है या बन-सा गया है कि बच्चों को हर तरह के काम से मुक्त करने वाली शिक्षा देना, यह प्राथमिक शिक्षा का उद्देश्य है, बल्कि काम से बच्चों को मुक्त करना ही शिक्षा का उद्देश्य है' (कृष्णकुमार 1998 : 14)। कृष्णकुमार स्पष्ट करते हैं कि वे यहां खतरनाक शोषणमूलक कामों की बात नहीं कर रहे हैं। उनका कहना है कि ऐसे प्रस्ताव में यह निहित लगता है कि बच्चों को कोई काम या किसी काम का दायित्व न सौंपा जाए। ऐसा लगता है कि इस प्रस्ताव के अनुसार सही बचपन और शिक्षा वही है जिसमें खेती से जुड़े काम, घर में गाय-भैंस की देखभाल के काम, छोटे बच्चों के देखभाल के काम, खाना पकाने का काम, रंगाई-बुनाई आदि कामों से बच्चों को दूर रखा जाता हो। तभी उनकी शिक्षा ठीक तरह से होगी। कृष्णकुमार समाज में उभरते इस मत और बुनियादी शिक्षा के बीच तालमेल नहीं देखते। यह सही है कि 'च्वाय फार लर्निंग' और प्राथमिक शिक्षा के 'सर्वव्यापीकरण' वाली लॉबियों ने बच्चों द्वारा किए गए किसी भी प्रकार के काम और उनके द्वारा उठाई गई जिम्मेदारियों को कठघरे में खड़ा कर दिया है और प्राथमिक शिक्षा को वह दर्जा दे दिया है कि जिसके काबिल वर्तमान हालत में तो वह है नहीं। इस संदर्भ में बुनियादी शिक्षा से जुड़ी काम, जिम्मेदारी,

हस्तशिल्प और श्रम के मूल्य जैसी अवधारणाओं पर बहस होना महत्वपूर्ण है। परंतु क्या यह भी सही नहीं है कि यह बहस किन बच्चों के संदर्भ में ज्यादा जरूरी है। वर्तमान बच्चों को तो काम से मुक्ति मिलेगी नहीं ही, चाहे विभिन्न अभिजात वर्गों के नेतृत्व वाली लॉबी कुछ भी कहती रहे।

मिशन स्कूल : उन्नीसवीं सदी में फुले तथा महिला शिक्षण

अंग्रेजों के जमाने की शिक्षा के संबंध में व्यापक परिप्रेक्ष्य में चर्चा करने पर हमेशा एक मुद्दे पर ही जोर रहता है कि वह शिक्षा बाबू पैदा करने वाली शिक्षा थी और है। इसके बावजूद उसी शिक्षा के कुछ परिणाम बहुत अनपेक्षित थे। खास तौर से मिशन संस्थाओं के शैक्षणिक प्रयासों के परिणाम। यहां ऐसा ही एक उदाहरण दिया जा रहा है। प्रश्न यह है कि आजादी के बाद औपचारिक शिक्षा को सुधारने के प्रयास में ऐसे अनुभवों से क्या सीखा गया और क्या यह सीख वर्तमान कार्यक्रमों तथा नीतियों में परिलक्षित होती है?

उन्नीसवीं सदी से भारत में मिशनरियों और अंग्रेजों ने शिक्षा का प्रसार किया। मिशनरियों ने शिक्षा का प्रसार मुख्यत: ईसाई धर्म को फैलाने के लिए किया और अंग्रेजी हुकूमत ने अपने राज में बाबुओं तथा निम्न स्तरीय कर्मचारियों की कमी को पूरा करने के लिए। पर इन प्रयासों के कई अनपेक्षित परिणाम भी हुए। जैसे हजारों पढ़े-लिखे लोगों ने सरकारी नौकरियों नहीं कीं तथा वे उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में चले विभिन्न आंदोलनों में सक्रिय हुए। इसी प्रकार धर्म और शिक्षा के प्रचार के लिए ईसाई लोगों ने अत्यंत गरीब, पिछड़े और दलित लोगों के बीच काम किया। ऐसे क्षेत्रों के लोगों ने मिशन के स्कूलों से शिक्षा हासिल की और अपनी अस्मिता और राष्ट्रीयता के प्रश्नों को ज्यादा तीखे ढंग से उठाने के लिए उसका उपयोग किया (बारा, 1997 और गुप्ता)। यदि महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले का उदाहरण देखें तो यह साफ दिखता है कि शिक्षा के इस प्रकार के प्रसार से दलित लोगों के लिए शिक्षा के रास्ते खुले जिसकी संभावना उससे पहले, ऊंची जातियों, खास तौर से ब्राह्मणों के वर्चस्व वाली शिक्षा व्यवस्था में नहीं थी। फुले ने न केवल स्वयं मिशन स्कूलों से शिक्षा हासिल की, वरन उन्होंने दलितों, लड़कियों और महिलाओं के लिए स्कूल खोले और अत्यंत विषम परिस्थितियों में उनको चलाया। उन्होंने ब्राह्मणवादी वर्ण और जाति व्यवस्था को चुनौती दी जो दलितों और महिलाओं को शिक्षा तथा प्रगति के अन्य रास्तों से वंचित रखती थीं।

अंग्रेजों द्वारा प्रसारित शिक्षा भाषायी और सांस्कृतिक दृष्टि से (और इसके परिणामस्वरूप राजनीतिक ताकत के वितरण की दृष्टि से) समाज में विभाजन का भी एक महत्वपूर्ण कारण बनी। हालांकि शिक्षा के कुछ इतिहासकारों का मत यह भी रहा है कि उस समय की परिस्थितियों में अंग्रेजी भाषा ने यहां के ऊपरी जातियों के उभरते

हुए मध्यम वर्ग के लिए विश्व स्तरीय साहित्य, विज्ञान और समाजविज्ञान के ज्ञान, प्रजातांत्रिक मूल्यों के विकास और उदारवादी दृष्टिकोण पनपने के रास्ते भी खोले।

अगर दक्षिण में निजाम के राज्य का उदाहरण लें तो मालूम होता है कि एक तरफ तो निजाम ने आम लोगों की शिक्षा के लिए कुछ नहीं किया। जहां 1950 तक भी सैकड़ों गांवों वाली जागीरों में कई बार एक भी प्राइमरी स्कूल न होना आम बात थी, वहीं दूसरी तरफ मध्यम और उच्च वर्ग के लोगों के लिए उच्च शिक्षा के विशेष प्रयास किए गए। शिक्षा की भाषा अंग्रेजी, उर्दू और फारसी थी जबकि निजाम के राज्य के आम लोगों की मुख्य भाषाएं तेलुगु, मराठी, कन्नड़, और विभिन्न आदिवासी भाषाएं थीं। निजाम ने हैदराबाद और अन्य बड़े शहरों में स्कूल तथा कालेज खुलवाए। हैदराबाद में उस्मानिया विश्वविद्यालय बनवाया। उच्च तकनीकी शिक्षा के लिए होनहार विद्यार्थियों को सरकारी खर्च पर विदेश भेजा। उस्मानिया विश्वविद्यालय में विज्ञान, समाजविज्ञान और तकनालाजी की उच्च स्तरीय पुस्तकों का अंग्रेजी से उर्दू में अनुवाद छापने के लिए अलग से विभाग बनवाया।

एक तरह से फुले और निजाम शैक्षणिक प्रयासों के दो ध्रुव हैं। जहां फुले ने शिक्षा से खुले रास्तों के द्वारा समाज में दलितों और महिलाओं की परिस्थिति बदलने और जाति तथा वर्ण व्यवस्था को खत्म करने के लिए आवाज उठाई वहीं निजाम ने गरीबी, बदहाली, जनविरोधी नीतियों और अन्याय को बरकरार रखते हुए भी शासन चलाने की खातिर विशेष वर्गों के लिए विकास और शिक्षा का प्रसार किया।

ईसाई मिशन के लोगों का प्रमुख उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार, धर्म परिवर्तन और ईसाई कौम को संसार की बेहतरीन कौम का दर्जा दिलवाना तो था, साथ ही विज्ञान की शिक्षा देना भी था। मिशन के स्कूलों में भौतिकी, रसायन, गणित तथा जीवविज्ञान जैसे विषय भी पढ़ाए जाते थे। स्कूलों में जाति आधारित भेदभाव नीतिगत रूप से नहीं थे बल्कि उच्च जातियों को मिशन के स्कूलों की यह नीतियां नापसंद थीं।

स्काटिश मिशन स्कूलों का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू अछूत जातियों के बच्चों को अन्य जातियों के बच्चों की तरह मिशन स्कूलों में दाखिला दिलवाने का दृढ़ फैसला था बशर्ते अगर वे दाखिले के नियमों को पूरा करते हों। मिशनरियों के लिए ब्राह्मणवादी धार्मिक मूल्यों के खिलाफ सार्वजनिक रूप से खड़े होने के लिए यह करना आवश्यक था। इससे अकसर ब्राह्मण विद्यार्थियों के साथ टकराव पैदा हो जाते थे। ऐसा ही एक टकराव एक महार लड़के के दाखिले को लेकर 1842 में हुआ। यह कैसे हुआ इसका विवरण मिशल ने दिया :

> जिस कक्षा में उसका दाखिला हुआ था उसमें उसके बैठते ही कक्षा के लड़कों ने इस पर आपत्ति की और अन्य कक्षाओं के ब्राह्मण विद्यार्थी भी इस आपत्ति में शामिल हो गए। इन विद्यार्थियों से कहा गया कि उनकी शिकायत नहीं सुनी जा सकती क्योंकि स्कूल उन सब लोगों के लिए खुला है जो उसमें आना चाहते हैं और क्योंकि इस तरह तो वे ईसाइयों और मुसलमानों की उपस्थिति पर भी आपत्ति कर सकते हैं (ओ' हेनलान, 1985 : 109)।

हालांकि मिशल ने ही बाद में लिखा कि इस मुश्किल से वे तब निकले जब वह विद्यार्थी खुद ही स्कूल नहीं आया।

इस प्रकार मिशन स्कूलों के पिछड़े क्षेत्रों और गरीब तथा निम्न जातियों के बीच प्रसार से इन लोगों को, खास तौर से दलितों को औपचारिक शिक्षा के मौके मिले जो इससे पहले इन्हें उपलब्ध नहीं थे। ज्योतिराव फुले स्वयं एक माली परिवार के थे। 1840 में फुले पूना के एक स्कूल के विद्यार्थी थे जिसे फ्री चर्च आफ स्काटलैंड के मिशनरी चलाते थे। फुले की जाति से स्काटिश मिशन स्कूल में पढ़ने वालों के सामाजिक और जातीय अंतरों तथा विभिन्नताओं का पता चलता है। हालांकि महार और मांग जाति के बच्चे काफी कम थे लेकिन स्कूल विभिन्न खेतिहर और व्यापार करने वाली जातियों तथा परंपरागत रूप से पढ़ी-लिखी ऊंची जातियों के बच्चों को प्रवेश देता था।

हालांकि फुले ने अपने स्वयं के अनुभवों का कोई लिखित रिकार्ड नहीं छोड़ा है लेकिन उनके समय के और उनके साथ के तीन लोगों के व्यवस्थित आत्मकथा रूपी विवरणों से उस समय के नीची जाति के युवाओं में परिवर्तनों तथा परिवर्तन की आकांक्षाओं के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इन विवरणों को पढ़कर यह भी समझ में आता है कि औपनिवेशिक शिक्षा के अपने विरोधाभासों के कारण कई बार लगन से शिक्षा में जुड़े शिक्षकों ने वंचित वर्गों और जातियों के विद्यार्थियों को न केवल भौतिकी, रसायन, जीवविज्ञान जैसे विषयों से परिचय कराया बल्कि एक हद तक जातिवाद की गैरवैज्ञानिकता भी दरशाई। हालांकि, इसके साथ ही बाइबिल तथा 'सचाई ईसाई धर्म ही है' जैसे विचार भी पढ़ाए जाते थे। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी में मिशन स्कूल और कुछ हद तक सरकारी स्कूल भी नए विचार पनपने के स्थल बने।

फुले और उनके साथियों पर स्कूल के अलावा और कौन-कौन से प्रभाव पड़े जिन्होंने जातिवाद के खिलाफ परिवर्तन के लिए प्रेरित किया इसके लिए तीन लोगों के जीवन वृत्तांत और फुले द्वारा लिखी पुस्तक *गुलामगीरी* के गहरे अध्ययन की आवश्यकता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मिशन के स्कूल और सरकारी स्कूलों ने न केवल पूना और बंबई जैसे बड़े शहरों के विद्यार्थियों में बल्कि मुफसिल शहरों के विद्यार्थियों (जिनके पास बड़े केंद्रों में उपलब्ध आगे बढ़ने के मौके नहीं थे) में भी परिवर्तनवादी नींव रखी। उनके शुरुआती अनुभवों को आकार दिया। फुले और उनके साथी जिन स्कूलों और कालेजों में गए वहां से उन्होंने सामाजिक सुधार और धार्मिक परिवर्तनवाद के विचारों को आत्मसात किया। कक्षा के साथियों के बीच चर्चा/संवाद, नए विचारों पर बहस करने के लिए स्कूल में बनी समितियों, अखबार, कुछ ब्रिटिश प्रशासकों से संपर्क, उभरता हुआ प्रादेशिक भाषा प्रेस, स्कूल के घंटों के बाद रुचि रखने वाले विद्यार्थियों का शिक्षकों के साथ संवाद/चर्चा,

किताबें पढ़ना और स्कूल के अंदर जातीय विभिन्नता इन सब अनुभवों ने एक तरह से फुले और साथियों के वैचारिक कटिबद्धता और व्यक्तित्व जिंदगियों को बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। फुले और उनके कुछ मित्र 'गुप्त' रूप से भी मिलते तथा चर्चा करते थे। इन परिस्थितियों में पिछड़ी जातियों के बहुत से लोगों को ईसाई धर्म बेहतर धर्म लगने लगता था और वे धर्मपरिवर्तन करते थे। परंतु फुले और उनके निकट के कुछ मित्रों ने थामस पेने की किताब *'एज आफ रीजन'* (तर्क का युग) पढ़ी थी और ईसाई धर्म की सीमाओं और गैरतार्किकता को समझा था। इसलिए उन्होंने धर्म परिवर्तन नहीं किया। पदमांजी ने अपने समूह के बारे में विस्तार से लिखा था। उस समूह में फुले भी शामिल थे। पदमांजी के अनुसार उनके और उनके साथियों का कई अनुभवों से धर्म पर से भरोसा धीरे-धीरे उठता गया। पहले थामस पेने की पुस्तक और बाद में उनके समकालीन मार्टिन लूथर किंग के पोप तथा यूरोप में धार्मिक कट्टरवाद के खिलाफ संघर्ष से उन्हें प्रेरणा मिली। फुले की सुधारवादी परिवर्तन की दिशा 1848 के बाद ज्यादा तीखी और ब्राह्मण-विरोधी हो गई। फुले ने दलितों के पिछड़ेपन के लिए ब्राह्मणों को जिम्मेदार माना और 'सत्यशोधक समाज' (सत्य की खोज) का गठन किया। शिक्षा को उन्होंने सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन के लिए मुख्य आधार माना।

1850 के आसपास जब फुले ने पिछड़ी जातियों की लड़कियों के लिए स्कूल खोला तो उसका बहुत विरोध हुआ। उनके पिता ने भी फुले की इस गतिविधि का विरोध किया और फुले तथा उनकी पत्नी, सावित्री बाई को घर से निकाल दिया। जबकि वह खुद पिछड़ी जाति के थे और उन्होंने स्वयं अपने एक गरीब ब्राह्मण क्लर्क की परामर्श के खिलाफ फुले को पढ़ने के लिए स्काटिश मिशन स्कूल में भी भेजा था। शुरू में फुले और उनके साथियों की यह समझ बनी कि दलित लोगों के पिछड़ेपन का मुख्य कारण उनका शिक्षित न होना है और शिक्षा से यह स्थिति बदल जाएगी। हालांकि शिक्षा को फुले ने परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण रास्ता माना लेकिन उनकी समझ में यह भी बदलाव आया कि मात्र शिक्षा की कमी ही नहीं वरन दलितों को पिछड़ा बनाए रखने में ब्राह्मण जाति का स्पष्ट रूप से हाथ है। इस समझ के साथ ही उनके तेवर ज्यादा तीखे और स्पष्ट रूप से ब्राह्मण-विरोधी हुए। यह समझ उनके पढ़ाने की विषयवस्तु, पद्धति और दलित बच्चों को उनके अनुभवों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रोत्साहित करने में प्रतिबिंबित हुए। शायद इसके संभावित खतरों को देखते हुए ही उनके पिता ने उन्हें घर से निकाल दिया था।

3. अनौपचारिक शिक्षा : जन शिक्षा का विकल्प

यह कहना शायद सही होगा कि कम से कम स्वतंत्रता के बाद के एक-दो दशकों तक (वैसे आज तक भी) भारत के शिक्षा के क्षेत्र में कोई ऐसे व्यापक विकल्प नहीं उभरे थे जो भारत में ज्यादा प्रभावी हों और प्राथमिक शिक्षा के सर्वव्यापीकरण में मददगार हों तथा अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था का स्थान ले सकें। इसलिए औपनिवेशिक शैक्षिक ढांचा न केवल मजबूत होता गया वरन ऐसी धारणा को भी सुदृढ़ करता गया कि इस व्यवस्था का कोई विकल्प है ही नहीं। यह भी तथ्य है कि इस व्यवस्था में जब भी कोई फेर-बदल करने की कोशिश की गई तो शिक्षकों और पालकों की तरफ से भी विरोध हुए। यहां तक कि इस व्यवस्था के तहत ही बुनियादी शिक्षा के सीमित क्रियान्वयन का विरोध भी शिक्षकों से हुआ क्योंकि काम बढ़ता है।

लेकिन क्या इसका अर्थ है कि किसी भी प्रकार के विकल्प थे ही नहीं? प्रो. शुक्ला के अनुसार, 'हमारे देश के कई किसान और मजदूर आंदोलन और उनका अलिखित इतिहास जरूर ऐसे (जैसे गोदावरी और आर.वी. पारुलेकर का थाने जिले का काम) ढेरों शैक्षणिक गतिविधियों से भरा होगा। ये प्रयास स्पष्ट रूप से औपचारिक शिक्षा के प्रोटोटाइप (प्रारूप) से अलग हटकर रहे होंगे। शायद ये वैकल्पिक भविष्य के लिए बहुत ठोस शैक्षणिक तत्व प्रदान करें जिसमें अनौपचारिक और जीवन भर चलने वाली शिक्षा और साथ ही जीवन से सीखने जैसे महत्वपूर्ण तत्व हो सकते हों' (शुक्ला, 1979) परंतु ऐसे अनुभवों से कभी राष्ट्रीय शिक्षा का कोई विकल्प नहीं उभरा, न ही इनके अंश इसके महत्वपूर्ण हिस्से ही बने। इस संदर्भ में शुक्ला राजनीतिक आंदोलनों की कमजोरियों का जिक्र जरूर करते हैं लेकिन उनके महत्व से इनकार नहीं करते। 'किसान और मजदूर शिक्षा की विषयवस्तु बदलने में क्या योगदान दे सकते थे यह उनके आंदोलनों से सही तरह से अभिव्यक्त नहीं हुआ। इसलिए यदि पश्चिम या पूर्वी एशिया, कोरिया, जापान और चीन में घटी ऐसी प्रक्रियाओं से तुलना की जाए तो हमारी शिक्षा नीतियों और कार्यक्रमों पर इनका कोई असर नहीं दिखता' (शुक्ला, 1997 : 1830)। भारत में भी ट्रेड यूनियन आंदोलन का लंबा इतिहास है। इनसे मजदूरों के पक्ष में हुई विभिन्न प्रकार की आर्थिक तथा कानूनी उपलब्धियां गिनवाई जा सकती हैं। पिछले तीन दशकों में महिला आंदोलनों ने भी महिला स्वास्थ्य, समाज मजदूरी, महिला विरोधी परिवार नियोजन नीतियों, पारिवारिक हिंसा जैसे विभिन्न महत्वपूर्ण मुद्दों और पितृसत्ता जैसे गंभीर विषयों पर संघर्ष और बहस को आगे बढ़ाया

है और कानून भी बनवाए हैं। लेकिन शिक्षा की मुख्य धारा में इन उपलब्धियों के न तो अंश दिखते हैं, न वैकल्पिक ढांचे या प्रक्रिया उभरने की प्रक्रिया ही दिखती है। भारत में पिछले पचास वर्षों में बहुत से गैर-सरकारी संस्थान भी उभरे हैं जो राजनीतिक संगठनों से अलग हैं और जो समाज के अल्प-सुविधाप्राप्त लोगों के बीच विभिन्न प्रकार के शैक्षणिक कार्यक्रम चला रहे हैं। लेकिन सरकारी मान्यता औपनिवेशिक ढांचों को ही मिलती है यानी इन संस्थानों में पढ़े हुए विद्यार्थियों को भी स्कूलों में बड़ी कक्षाओं में या कालेजों में दाखिले के लिए विभिन्न परीक्षा बोर्डों द्वारा संचालित परीक्षाएं पास करना आवश्यक होता है। इसका अर्थ है कि सरकार द्वारा नियंत्रित और संचालित मुख्य धारा ही मान्यता प्राप्त है। इसमें आने के लिए वैकल्पिक आधारों, विषयवस्तु, भाषा, पद्धति, शैलियों का कोई मूल्य नहीं है और न ही अलग प्रकार के कौशलों और क्षमताओं का कोई अर्थ रह जाता है। वैकल्पिक व्यवस्थाओं के उभरने, पनपने, सशक्त होने में ये सभी पहलू, जो औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था के पूरी अवसंरचना का हिस्सा हैं, स्वाभाविक रूप से बाधक रहे हैं।

विकल्प की तलाश के ऐसे प्रयासों और औपचारिक शिक्षा के जड़ (रिजिड) ढांचों के बाहर आने वाले सभी तरह के कार्यक्रमों को 'अनौपचारिक शिक्षा' का नाम दिया गया है। हालांकि यह एक प्रकार से, 'अनौपचारिक शिक्षा' की एक व्यापक अवधारणा की बहुत संकीर्ण और सरकारी व्याख्या है। ऐतिहासिक रूप से अनौपचारिक शिक्षा की अवधारणा और जरूरत अलग-अलग देशों तथा समाजों में अलग-अलग कारणों से उभरी। जाहिर है कि इसके उभरने की जड़ में औपचारिक व्यवस्था से निराशा, असंतोष, उसकी असफलता और सक्रिय विरोध जैसे तत्व थे। कुछ प्रमुख कारण निम्नानुसार थे :

(1) औपचारिक व्यवस्था का ज्यादा विस्तृत, परिष्कृत और महंगी होना (यह विकसित और विकासशील दोनों तरह के देशों के लिए सही है)। इसके अलावा इसकी पहुंच का सीमित होना।

(2) ऐसे बच्चे जो अति संपन्न घरों के होते हैं वे बहुत कुछ स्कूली व्यवस्था के बाहर भी सीखते हैं। इनके परिवारों द्वारा आम बच्चों और आम स्कूलों से अलग उनके लिए सीखने की व्यवस्था करने की जरूरत महसूस करना।

(3) यूरोप और अमरीका में औपचारिक शिक्षा से निराशा। यूरोप में औद्योगिक संस्कृति से अलगाव, निराशा और असंतोष ने वैकल्पिक संस्कृति की तलाश की जरूरत को जन्म दिया था। अमरीका में इन कारणों के अलावा वियतनाम युद्ध के समय पढ़े-लिखे लोगों को जबरदस्ती फौज में भरती करने के कारण भी असंतोष भड़का। इन्हीं कारणों से साठ और सत्तर के दशक में इवान इलीच की पुस्तक *डीस्कूलिंग सोसाइटी* बहुत पढ़ी गई, सराही गई और औपचारिक व्यवस्था के विकल्प खोजने की जरूरत महसूस हुई। यूरोप और अमरीका में स्कूलों के अनुशासन, बच्चों पर औपचारिक शिक्षा के बढ़ते दबाव तथा उसके नकारात्मक असरों पर भी बहसें छिड़ीं जिसके असर भारत में भी दिखे। पर 'डीस्कूलिंग' का युग भी आया और गया तथा जो संस्था टिकी वह है 'स्कूल'।

(4) क्रांतिकारी परिवर्तनों के लिए जूझ रहे रूस, क्यूबा, चीन, वियतनाम, निकारागुआ आदि देशों में संघर्ष के दौरान अनौपचारिक शिक्षा की जरूरत महसूस की गई और इन क्रांति के लिए सक्रिय पार्टियों ने ही कार्यान्वित किया। ऐसी परिस्थितियों में शिक्षा का उद्देश्य समाज परिवर्तन था और शिक्षा का माध्यम राजनीतिक संघर्ष था। लेकिन इन समाजों में भी अनौपचारिक शिक्षा को स्थिर, विकल्प के रूप में नहीं माना गया।

(5) जिन समाजों में क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हो रहे थे वहां प्रौढ़ शिक्षा और अनौपचारिक शिक्षा की जरूरत आर्थिक विकास के लिए महसूस की गई। मुख्य उद्देश्य आर्थिक समृद्धि के लिए आम लोगों में कौशलों (लिखना, पढ़ना और गणित) का विकास करना था। यह एक कम महंगे तथा बिना भवन और अन्य संरचना के खर्च वाली जन शिक्षा के विकल्प के रूप में सोची गई।

हालांकि भारत जैसे देश में बावजूद सारी कमजोरियों, गड़बड़ियों, स्रोतों की सीमाओं के शिक्षा के सर्वव्यापीकरण के लिए इसी औपचारिक ढांचे के प्रसार की पैरवी (मांग) समाजशास्त्री, राजनीतिज्ञ, शिक्षाशास्त्री सभी कर रहे हैं। पिछले दो दशकों में औपचारिक शिक्षा के प्रसार को (चाहे वह कैसी भी हो) विकास, सामाजिक न्याय, गरीबी हटाने, जनसंख्या नियंत्रण आदि सभी व्यथाओं के लिए अचूक दवाई के रूप में प्रस्तुत किया गया है और शिक्षा के सर्वव्यापीकरण में अनौपचारिक शिक्षा की कोई भी भूमिका अभिव्यक्त नहीं हुई है। अनौपचारिक शिक्षा एक अस्थिर व्यवस्था की तरह मानी गई है जो वस्तुत: दूसरे दर्जे की, कम खर्चीली जन शिक्षा है। इसका उद्देश्य इन विद्यार्थियों को भी, चाहे वे स्कूलों तक न पहुंचें, बोर्ड आदि की सामान्य परीक्षा के माध्यम से मुख्य धारा में प्रवेश करवाना है। अनौपचारिक शिक्षा इस हद तक बंधन रहित है कि उसमें समय और स्थान का निर्धारण शिक्षक कर सकता है। पर एक न्यूनतम मानदेय पर शिक्षक का काम चंद घंटों के लिए बिना भवन, बिना अन्य किसी सुविधा या प्रशिक्षण के बच्चों को परीक्षा के लिए तैयार करना होता है। काम की सफलता का एकमात्र मापदंड भी यही औपचारिक व्यवस्था की परीक्षाएं हैं। वयस्कों की शिक्षा अब मात्र साक्षरता के नाम से जानी जाती है। उसके खर्च को और भी कम करने के लिए इसे मुफ्त के शिक्षकों से सीमित समयावधि में पूरा करने का प्रचार इस दावे के साथ किया गया कि नई पद्धति से लोगों को छह महीने में साक्षर किया जा सकता है।

जैसा पहले कहा गया कि यह अनौपचारिक ढांचा बुनियादी रूप से औपचारिक व्यवस्था से बिलकुल फर्क नहीं है सिवा कुछ व्यावहारिक पहलुओं को लचीला करने के—जैसे दिन की जगह कक्षाएं रात को लगाना, आंशिक समय में कम शैक्षणिक योग्यता वाले अप्रशिक्षित लोगों के द्वारा न्यूनतम पैसों में बिना विशेष अवसंरचना की जिम्मेदारियों के स्कूल व्यवस्था से छूटे बच्चों को पढ़ाने की जिम्मेदारी डालना। यह लगभग वैसी व्यवस्था है जिसमें 'जागरूक' गृहस्वामी अपने बच्चे को 'बढ़िया' स्कूल में भेजता है और घरेलू नौकर को गृहस्वामिनी अपने खाली वक्त में पढ़ाती है। कुल मिलाकर ये क्रांतिकारी समाजों

की जरूरतों और उद्देश्यों से एकदम फर्क, अनौपचारिकता के बैनर तले, औपचारिक शिक्षा से भी बदतर, न्यूनतम स्रोतों में गरीबों के लिए उपलब्ध कराई गई शिक्षा का नाम करने की व्यवस्था है।

अनौपचारिक शिक्षा के संदर्भ में आजादी से पहले भी वयस्कों और युवाओं की शिक्षा के भी कुछ प्रयास हुए थे। ये प्रयास ब्रिटिश शासकों और राजाओं द्वारा किए गए थे। ये कार्यक्रम तेलंगाना में आंध्र महासभा और बाद में कम्युनिस्ट पार्टी और थाना में कम्युनिस्ट पार्टी के काम से, या फिर उससे पहले उन्नीसवीं सदी में फुले द्वारा किए गए दलितों की शिक्षा के काम से या बीसवीं सदी में अंबेडकर द्वारा किए प्रयासों से फर्क थे। उपरोक्त प्रयासों में व्यवस्था या व्यवस्था के कुछ पहलुओं को चुनौती देने और बदलने का उद्देश्य था। जबकि ब्रिटिश शासकों और राजाओं द्वारा किए गए प्रयासों का यह उद्देश्य नहीं था। अंग्रेज प्रशासकों द्वारा उन्नीसवीं सदी में बंबई और मद्रास प्रेसीडेंसी के कई क्षेत्रों में औद्योगिक मजदूरों के लिए रात्रि शालाएं चलाई जाती थीं। इस सदी की शुरुआत में भी मैसूर और बड़ौदा की रियासतों में बहुत प्रभावशाली वयस्क शिक्षा कार्यक्रम चलाए गए। इनकी खासियत यह थी कि यहां साक्षरता कक्षाओं के साथ-साथ सार्वजनिक पुस्तकालय भी चलाए गए। नवसाक्षरों के लिए पत्रिकाएं भी प्रकाशित की गईं। 1937 में कई प्रांतों में कांग्रेस सरकार के गठन के साथ-साथ ही बिहार, बंबई, मैसूर तथा पंजाब में साक्षरता अभियान शुरू किए गए (बोर्दिया, 1980)। कांग्रेस सरकार द्वारा 'हर एक, एक को पढ़ाए' (ईच वन टीच वन) यह अभियान भी शुरू किया गया था, लेकिन यह अभियान ज्यादा सफल नहीं रहा।

आजादी के एकदम बाद सामुदायिक कार्यक्रम (कम्युनिटी डेवलपमेंट कार्यक्रम) और भूमि सुधार कानूनों के साथ-साथ सामाजिक शिक्षा कार्यक्रम भी शुरू किया गया। सामाजिक शिक्षा कार्यक्रम के संदर्भ में उस समय के केंद्रीय शिक्षा मंत्री श्री मौलाना अबुल कलाम आजाद ने कहा था, 'हम कह सकते हैं कि वयस्क शिक्षा के तीन पहलू हैं : (क) अनपढ़ प्रौढ़ों को लिखना-पढ़ना सिखाना, (ख) साक्षरता शिक्षा की अनुपस्थिति में आम जन में वैज्ञानिक मानसिकता विकसित करना, तथा (ग) नागरिक कर्तव्यों और अधिकारों की समझ पैदा करना' (बोर्दिया, 1950 : 59)। आजाद ने कहा था कि नागरिक शिक्षा, जन स्वास्थ्य, जानकारी उपलब्ध कराने (जिससे लोगों को अपनी आर्थिक हैसियत सुधारने में मदद मिले) आदि पर ध्यान देना चाहिए।

अनौपचारिक शिक्षा के परिप्रेक्ष्य

भारत के अनौपचारिक, साक्षरता और प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों को दो अलग-अलग परिप्रेक्ष्यों के तहत समझा जा सकता है।

पहला, क्रियात्मक (कार्यात्मक) परिप्रेक्ष्य यानी लोगों को लिखना-पढ़ना और गणित सिखाना (इसे अंग्रेजी में हमेशा 'थ्री आर' यानी 'रीडिंग, राइटिंग और रिथमेटिक' लिखा जाता रहा है) तथा कुछ विशेष कौशलों के लिए प्रशिक्षित करना। आम तौर पर सभी अनौपचारिक और विशेषत: सरकारी अनौपचारिक कार्यक्रम का जोर क्रियात्मक परिप्रेक्ष्य तक ही सीमित होता है चाहे उनके कथनों, प्रपत्रों, नीतिगत दस्तावेजों आदि में कितनी ही प्रगतिशील और आमूल परिवर्तनवादी बातें क्यों न कही गई हों।

दूसरा परिप्रेक्ष्य सामाजिक-राजनीतिक है जहां कौशलों के विकास के साथ ही शिक्षा के संदर्भ में सामाजिक परिवर्तन का मुद्दा भी उतना ही महत्वपूर्ण होता है। कई बार इस परिप्रेक्ष्य में शिक्षा का काम सामाजिक-राजनीतिक संघर्षों के साथ-साथ होता है। इस परिप्रेक्ष्य में शिक्षा का काम गैर-सरकारी स्वायत्त समूहों और संस्थानों, ट्रेड यूनियनों और किसान तथा खेतिहर मजदूरों के संगठनों द्वारा किया जाता है। स्वाभाविक है कि ऐसे अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रमों के रूप, ढांचे और विषयवस्तु में फर्क होता है। इसे औपचारिक शिक्षा व्यवस्था में न तो बराबरी का दर्जा मिलता है और न उनमें इनकी कोई मान्यता ही होती है और न ही इन प्रयासों के अनुभवों से सीखकर औपचारिक शिक्षा की विषयवस्तु को समृद्ध करने की कोई इच्छा ही दिखती है। ऐसे बहुत से समृद्ध अनुभव तो पहचाने ही नहीं जाते और मान्यता प्राप्त मुख्य धारा से अलग-थलग रह जाते हैं।

विश्व भर में विभिन्न राष्ट्रीय सरकारों और अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों के लिए जन शिक्षा चिंता का विषय रहा है। विभिन्न सत्ताधारी सरकारों (राजसत्ता) का वर्गाधार, राजनीतिक इच्छा, प्रतिबद्धता, विचारधारा और वैधता के संकट की गंभीरता के अनुरूप और किसी हद तक अंतर्राष्ट्रीय हस्तक्षेप पर आधारित होकर ये चिंताएं अलग-अलग रूप तथा आकार लेती हैं। हमारे देश में, सत्ताधारी सरकार किसी भी पार्टी की रही हो, सत्ता में वर्चस्व ऊपरी वर्ग और उच्च जातियों का ही रहा है। इसलिए जन शिक्षा को लेकर राजसत्ता की चिंताएं कितनी अंतर्राष्ट्रीय दबावों और सरकार की अपनी वैधता स्थापित करने के कारण रही हैं तथा कितनी आम जनता की शिक्षा को लेकर वास्तविक चिंता के कारण, यह मुद्दा हमेशा बहुत विवादास्पद रहा है।

सोवियत रूस, चीन और बाद में क्यूबा, गिनी बिसाऊ और निकारागुआ जैसे देशों ने समाजवादी क्रांति के पश्चात शिक्षा के अपने स्वायत्त मॉडल विकसित किए, अपनी नीतियां बनाईं और शिक्षा की ऐसी विषयवस्तु और ढांचा बनाया जो उनकी प्राथमिकताओं और जरूरतों के अनुरूप था। परंतु औपनिवेशिक सत्ता से विरासत में मिली विषम आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के कारण चुनाव के ये अवसर उन राष्ट्रों को उपलब्ध नहीं थे जो वर्षों के औपनिवेशिक शासन के बाद स्वतंत्र हुए थे या वे देश जो स्वतंत्र राजतंत्रों के कब्जे में थे। एशिया महाद्वीप में जापान एक ऐसा अपवाद है जिसने जन शिक्षा और कुछ हद तक उच्च स्तरीय शिक्षा का अपना स्वदेशी आधार बनाया। इसके लिए उसने अपनी भाषा, अर्थव्यवस्था और सांस्कृतिक परंपराओं का उपयोग किया। साथ ही अपने परंपरागत

स्वरूप (प्रतिरूपों) और सत्ता के ढांचों को बनाए रखते हुए विकसित औद्योगिक समाजों की कुछ चुनिंदा प्रथाएं अपनाईं (शुक्ला, 1996)।

जैसा कि पहले भी कहा गया है कि स्वतंत्रता के बाद भारत में शिक्षा का जो ढांचा बनाया गया वह बुनियादी रूप से अंग्रेजों द्वारा बनाए गए शैक्षणिक ढांचे पर ही आधारित था या यह भी कह सकते हैं कि जो उसका भारतीय रूप था, उस ढांचे में भी कोई अंतर नहीं था। प्राथमिक शिक्षा समेत जन शिक्षा भी इस पश्चिमी प्रभाव से मुक्त नहीं था। प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में भी अन्य कई जटिलताएं थीं। जैसे अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों ने तीसरी दुनिया यानी एशिया, अफ्रीका और लातिनी अमरीका के देशों में व्याप्त निरक्षरता को लेकर गहरी चिंता जाहिर की थी और इसे तीसरी दुनिया के अविकास और पिछड़ेपन का कारण बताया (बर्गिन और बर्गिन, 1975)। इस परिप्रेष्य में आधुनिकीकरण और विकास को पश्चिमीकरण या पश्चिम के विकास के तुल्य ठहराया गया। इसीलिए शिक्षा के पश्चिमी ढांचे को विकास का आदर्श रास्ता माना गया और इसके परिणामस्वरूप शिक्षा की राष्ट्रीय अवधारणा अवरुद्ध हुई (अविकसित रही)।

अनौपचारिक शिक्षा में नीतिगत परिवर्तन : पिछले पचास वर्षों से जन शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, साक्षरता, अनौपचारिक शिक्षा और प्राथमिक शिक्षा के सर्वव्यापीकरण जैसे मुद्दों की तरफ ज्यादा-से-ज्यादा राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय ध्यान आकर्षित हुआ है। बदलती अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय परिस्थितियों तथा 'विकास के लिए शिक्षा' जैसी अवधारणाओं की तीसरी दुनिया में सीमित सफलता के कारण शिक्षा के जोर देने के बिंदुओं, उद्देश्यों और नीतियों में लगातार बदलाव आता रहा है। चालीस और पचास के दशक में शिक्षा तथा आर्थिक विकास में सीधा संबंध देखने के कारण नारा दिया गया 'विकास के लिए शिक्षा' तो साठ के दशक में एशिया महाद्वीप की बढ़ती हुई आबादी अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चिंता का विषय बनी। तब शिक्षा और जनसंख्या नियंत्रण का सीधा संबंध देखा गया और नारा बना 'गर्भनिरोध के लिए शिक्षा'। पर सत्तर के दशक तक आते-आते परिवर्तनवादी खेमों में पाओले फ्रेरे की धूम मच चुकी थी और भारत की राजसत्ता की विश्वसनीयता (साख) बहुत गिर चुकी थी। ऐसी स्थिति में सरकारी कार्यक्रमों ने नया गारा गढ़ा 'शिक्षा द्वारा चेतना जागरण' या 'चेतना जागरण के लिए शिक्षा'। अस्सी-नब्बे के दशक में सरकारी कार्यक्रमों में जोर बालिका शिक्षा और नारी के सशक्तिकरण पर रहा। वैसे तो बालिका शिक्षा पर जोर सरकार का महिलाओं और लड़कियों के प्रति संवेदनशीलता का भ्रम पैदा कर सकती है लेकिन 1992 में दिल्ली में 'नौ सबसे अधिक जनसंख्या वाले देशों में प्राथमिक शिक्षा' पर हुए सम्मेलन में लड़कियों की शिक्षा का असली मकसद—जनसंख्या नियंत्रण का प्रभावी तरीका—खुलकर सामने आया। वैसे प्रश्न यह हो सकता है कि यदि शिक्षित होने से जनसंख्या नियंत्रण में मदद मिलती है तो इसमें आपत्ति क्या है? मुश्किल और आपत्तिजनक बात यह है कि जिस प्रकार महिलाओं का स्वास्थ्य का मतलब मात्र प्रजनन स्वास्थ्य तक

सीमित हो जाता है उसी प्रकार महिलाओं और लड़कियों की शिक्षा का उद्देश्य जनसंख्या नियंत्रण पर आकर टिक जाता है। भारत में यह परिवर्तन शिक्षा के ढांचे, विषयवस्तु और आशय में नहीं, वरन मात्र अभिव्यक्ति में रहा है। पचास के दशक की शुरुआत में सामाजिक शिक्षा का जोर नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों पर था। वहां से लेकर दूसरी पंचवर्षीय योजना में प्रौढ़ शिक्षा पर घटते जोर (1956-61) और साठ के दशक में किसानों को हरित क्रांति की तनकीकें सिखाने के लिए क्रियात्मक साक्षरता पर पुनः जोर से लेकर सत्तर के दशक में चेतना जागरण के लिए प्रौढ़ शिक्षा से अस्सी-नब्बे के दशकों में सशक्तिकरण के लिए पूर्ण साक्षरता अभियान यह विभिन्न दशकों में हुई अभिव्यक्ति की एक बानगी है। असल में महिलाओं की शिक्षा के द्वारा जनसंख्या जैसा फोकस लगभग इस पूरे दौरान बना ही रहा।

सत्तर के दशक से सरकारी नीतियों की भाषा और शब्दावली में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। उसकी भाषा क्रियात्मक परिप्रेक्ष्य से सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन यानी परिवर्तनवादी परिप्रेक्ष्य में परिवर्तित हो गई। गरीबों की चेतना जागरण के लिए शिक्षा और पाओले फ्रेरे का नाम और काम का जिक्र सरकारी नीतियों में भी लिया जाने लगा। नब्बे के दशक में सशक्तिकरण और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना जैसे जुमले भी नीति दस्तावेजों का हिस्सा बने। यह जरूर है कि इस प्रकार की प्रगतिशीलता मात्र प्रौढ़ शिक्षा के संदर्भ में रही। बच्चों की अनौपचारिक शिक्षा का उद्देश्य उन्हें मुख्य धारा में लाने के लिए तैयार करना ही रहा। इस तरह परिवर्तनवादी आडंबरी भाषा गहराई से नीति प्रपत्रों में जगह बना पाई है और संवाद तथा संचार की भाषा का हिस्सा बन गई है। विडंबना यह है कि इन कार्यक्रमों की एक के बाद एक असफलताओं के बावजूद कारणों को खोजने की कोई गहरी प्रक्रिया या ढांचागत अवरोधों पर कोई जानकारी आधारित बहस शुरू नहीं हुई है। जो हुआ है वह परिवर्तनवादी भाषा का सरकारी प्रपत्रों में समाहित हो जाना है और सतही क्रियाओं की गहमागहमी भर है जिससे ऐसा भ्रम पैदा होता है कि सरकार जन शिक्षा में प्रगतिशील काम कर रही है। यानी इस तरह एक तरफ तो राजसत्ता अपनी वैधता और साख बढ़ाने, अपना जन विरोधी चरित्र छिपाने तथा गरीबों के प्रति संवेदनशील होने की छवि बनाने में सफल हुई है तो दूसरी तरफ प्रगतिशील लोग भी भटक गए हैं। वे सरकारी कार्यक्रमों के संदर्भ में परिवर्तन के मौके खोजना ('स्पेस' बनाना) अपना काम मान बैठे हैं।

समतावादी समाज बनाने के लिए जुझारू राजनीतिक संघर्ष की जरूरत को समझने के बजाए ये सरकार का मुंह देखने लगे हैं। नब्बे के दशक से भारतीय राजसत्ता और अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों ने परिवर्तनवादी शिक्षा के क्षेत्र में मात्र प्रगतिशील तेवर दिखाने या भाषा को नीति प्रपत्रों में समाहित कर लेने से ज्यादा गंभीर प्रयास किए हैं। ऐसा लगता है कि ये सरकारी प्रयास गैर-सरकारी संस्थाओं और उनके नेटवर्क और सरकार द्वारा चलाए गए कार्यक्रमों तथा शुरू की गई संस्थाओं के माध्यम से शिक्षा कार्यक्रमों के स्वरूप और

विषयवस्तु को निश्चित दिशा दे रहे हैं। केंद्रीय सरकार द्वारा राजस्थान में चलाया गया महिला विकास कार्यक्रम ऐसा ही एक उदाहरण है।

महिला विकास कार्यक्रम—एक नई दिशा : विस्तार से इस कार्यक्रम पर चर्चा हम अलग से एक अध्याय में करेंगे। यहां एक संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) के नीतिगत दिशा निर्देशों के आधार पर राजस्थान सरकार ने महिला विकास का नीतिगत ढांचा तय करने के लिए विचार-विमर्श किया। राजस्थान का महिला विकास कार्यक्रम राज्य सरकार की इसी कार्यवाही का नतीजा था। महिला विकास कार्यक्रम का प्रमुख उद्देश्य, शिक्षा, प्रशिक्षण और सूचनाओं के संप्रेषण के माध्यम से औरतों का शक्तिकरण करना है (सहेली, 1991 : 5)। यूनीसेफ के आर्थिक सहयोग से 1984 में इस कार्यक्रम की शुरुआत की गई थी। सूचना विकास और स्रोत एजेंसी (इनफार्मेशन डेवलपमेंट एंड रिसोर्स एजेंसी, इदारा) नामक स्वायत्त संस्था के माध्यम से इस कार्यक्रम को राजस्थान के कुछ जिलों में लागू किया गया था।

इसी प्रकार राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) (जिसे नई शिक्षा नीति के नाम से जाना जाता है) भी सरकारी अनुदान से राज्य तथा जिला स्तरीय स्वायत्त समूहों द्वारा महिला शिक्षण पर जोर देती है। प्रोग्राम आफ एक्शन (1986) महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए 'सामूहिक विश्लेषण (विवेचना) और निर्णय लेने की प्रक्रिया' पर जोर देती है। सशक्तिकरण के अर्थ को ज्यादा व्यापक करके उसमें सकारात्मक आत्म छवि बनाना, आलोचनात्मक चिंतन की क्षमता विकसित करना, सामूहिक भावना और इकट्ठे फैसला लेने की क्षमता विकसित करना और ऐसे काम करना जो सामाजिक परिवर्तन को शुरू कर दें, आदि भी शामिल कर लिया गया था (संधान, 1996)। इस नीति के परिणामस्वरूप उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, बिहार और गुजरात राज्यों के कुछ चुने हुए जिलों में महिला समाख्या कार्यक्रम (समता की मांग) की शुरुआत की गई। ये कार्यक्रम, बेहतर योजना बनाकर सघन रूप से कुछ ही क्षेत्रों में चले और शुरू के वर्षों में इनके विस्तार को लेकर कोई विशेष दबाव भी राज्य सरकारों से नहीं था। हर जिला स्तरीय संयोजिका को अन्य सरकारी कार्यक्रमों की तुलना में ज्यादा स्वायत्तता रही।

महिलाओं की शिक्षा पर ज्यादा ध्यान केंद्रित करने के लिए, महिला समाख्याओं के अंतर्गत ही पिछले चार-पांच वर्षों में कुछ महिला शिक्षण केंद्रों की शुरुआत की गई है। हालांकि इन कार्यक्रमों पर सरकारी नियंत्रण कम है, लेकिन राजसत्ता द्वारा आर्थिक समर्थन से चलाए जा रहे ऐसे 'प्रगतिशील' कार्यक्रमों के राजनीतिक उद्देश्यों को समझने के लिए गहरी छानबीन करने की जरूरत है। यह इसलिए भी क्योंकि ऐसे कार्यक्रमों में महिला विकास कार्यक्रम सबसे पुराना कार्यक्रम है और इसके द्वारा महिलाओं का सशक्तिकरण हुआ पर साथ ही राजसत्ता से टकराव भी हुआ।

राजसत्ता से टकराव की स्थिति तब बनी जब राजसत्ता ने महिला विकास कार्यक्रम

की महिलाओं, जिनकी चेतना जागरण का काम महिला विकास कार्यक्रम के कार्यकर्ताओं ने किया था, से महिला विरोधी जन्म नियंत्रण कार्यक्रम को लागू करने का दबाव डाला (शाहनी, 1995)। इसी तरह यहां यह बताना भी जरूरी है कि महबूबनगर और मेंडक जिले के महिला शिक्षण केंद्रों की लड़कियां यह सीख रही हैं कि वे गरीब इसलिए हैं क्योंकि उनके परिवार बड़े हैं, क्योंकि वे और उनके मां-बाप अनपढ़ हैं। महिला शिक्षण केंद्र में आने से पहले ये लड़कियां मजदूरी करती थीं। इन्हें कपास के खेतों में आठ से दस घंटों तक काम करने पर सात से दस रुपए तक मजदूरी और देसी शराब का एक पैकेट मिलता था। शक्तिकरण की प्रक्रिया से इनकी चेतना में यह प्रश्न नहीं उठ रहा था कि इन्हें और इनके मां-बाप को इतनी कम मजदूरी क्यों मिलती है या क्या इनकी गरीबी और कम मजदूरी के बीच कुछ रिश्ता है? वर्ग चेतना के बिना लिंग चेतना, राजसत्ता के वर्चस्व के तहत ऐसी ही गड़बड़ आत्म छवि बनाती है जो राजसत्ता भी चाहती है (दिगे आदि, 1996)। न्यूनतम मजदूरी जैसे कानून लागू हों और मजदूरों को कम से कम न्यूनतम मजदूरी तो मिले, यह सुनिश्चित करना सरकार की जिम्मेदारी है। इस प्रकार अपनी परिस्थिति के लिए स्वयं लोगों को ही जिम्मेदार ठहराकर सत्ता इस जिम्मेदारी से भी छूट (मुक्त हो) जाती है। और सरकारी सशक्तिकरण की प्रक्रिया बहुत खूबी से राजसत्ता की जिम्मेदारी से ध्यान हटाकर आर्थिक शोषण जैसे मुद्दे से पैदा हो सकने वाले द्वंद्व और टकराव को टाल देती है।

भाग दो

शैक्षिक सिद्धांतों की समीक्षा

भूमिका : *भारत के विभिन्न जन शिक्षा कार्यक्रमों के इतिहास को समझने के साथ-**साथ** यह समझ बनाना भी जरूरी है कि ये काम शिक्षा के किन बुनियादी— सूक्ष्म और व्यापक— सैद्धांतिक दायरों में आते हैं। साथ ही यह जानना भी आवश्यक है कि क्या सैद्धांतीकरण इतना संपूर्ण है कि शिक्षा के गैर-सरकारी प्रयासों और उसके विचलन को इन सैद्धांतिक ढांचों के तहत समझा जा सके? इन मुद्दों पर समझ बनाने के लिए प्रमुख शैक्षिक सिद्धांतों को कम से कम एक मोटे रूप में जानना और उसकी संभावनाओं और सीमाओं को पहचानना जरूरी है। इस अध्याय में पिछले छह-सात दशकों में उभरे विभिन्न सिद्धांतों से परिचय और उनका संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।*

4. सामाजिक संदर्भों में शैक्षिक सिद्धांतों का पुनरावलोकन

एक सैद्धांतिक कमी

आमतौर पर शिक्षा कार्यक्रमों की असफलता की व्याख्या एक-आयामी और अद्वंद्वात्मक (द्वंद्व रहित) तरीके से होती है। इस प्रकार शिक्षा कार्यक्रमों को सक्रियता से असफल करने या अस्वीकार करने या उनका प्रतिरोध करने में आम जनता की भूमिका को स्वीकारा या पहचाना नहीं जाता। यह इसलिए होता है क्योंकि आम जनों को सक्रिय कर्ता के रूप में नहीं देखा जाता है। वंचित लोगों के बीच शिक्षा के काम के दौरान उभरे अवज्ञा और प्रतिरोध कर्म का वर्तमान शैक्षिक सिद्धांतों में शामिल न होना इन सिद्धांतों की सीमाएं ही दरशाता है। इस सीमा का मूल कारण इन सिद्धांतों की जड़ में आम जनों को निष्क्रिय माध्यम मानना है।

यह कमी सभी शैक्षिक सिद्धांतों में दिखती है चाहे क्रियात्मक शिक्षा सिद्धांत हो या मानव पूंजी सिद्धांत या आमूल परिवर्तनवादी द्वंद्व सिद्धांत या सामाजिक और सांस्कृतिक पुनरुत्पादन सिद्धांत। इसलिए कम से कम सत्तर के दशक के अंत तक अभावग्रस्त लोगों के बीच चले शैक्षणिक कार्यक्रमों (हस्तक्षेपों) के परिणामस्वरूप उभरे सामाजिक और आर्थिक आंदोलनों को शिक्षा के मान्य सैद्धांतिक ढांचों के परिप्रेक्ष्य में समझना मुश्किल था। अस्सी के दशक में उभरी सैद्धांतिक समझ नव-मार्क्सवादी समझ कहलाई। इस सैद्धांतिक समझ के तहत विभिन्न जन आंदोलनों को शिक्षा के संदर्भ में देखा और स्वीकारा गया। शिक्षा के मौजूदा स्वरूप के प्रति राजनीतिक विद्रोह को शायद इसी के संदर्भ में समझा जा सकता है।

सिद्धांत में एक दरार : आमूल परिवर्तनवादी शैक्षिक सिद्धांतों में स्कूल को विभिन्न वर्गों, जातियों, अल्पसंख्यकों और लिंगों के बीच द्वंद्व और विवाद का स्थल माना जाता है। इन शैक्षिक सिद्धांतों में इसीलिए परंपरागत क्रियात्मक सैद्धांतिक पथ से हटने की गुंजाइश होती है। फिर भी इनके अंतर्गत जब द्वंद्वों से संघर्ष का जन्म होता है तो इसे किस शैक्षिक सिद्धांत के तहत समझा जाए। ऐसे में बात शैक्षिक सिद्धांतों के बाहर हो जाती है। इसके बारे में

साफ तौर पर कुछ कहा नहीं जाता। द्वंद्वों से संघर्ष पैदा होने को सैद्धांतिक स्तर पर न समझा पाने के कारण शिक्षा के सिद्धांतों में यह दरार बनती है। यह इस तथ्य को नकारती है कि इनसानों का शिक्षा व्यवस्था से द्वंद्वात्मक रिश्ता है। जनता मात्र स्वीकार करने वाला निष्क्रिय माध्यम नहीं है वरन वह अस्वीकार, विरोध और विद्रोह का माद्दा भी रखती है। यह माद्दा विकास तथा शिक्षा कार्यक्रमों के तहत भी अभिव्यक्त होता है। जनता न केवल शिक्षा, विकास, स्वास्थ्य, परिवार नियोजन जैसे कार्यक्रमों को असफल बनाती और अस्वीकार करती है, वरन कई बार सक्रियतापूर्वक हस्तक्षेप करके सामूहिक रूप से जन विरोधी नीतियों और कार्यक्रमों का प्रतिरोध तथा विरोध भी करती है। भारत तथा अन्य विकासशील देशों में लागू हुए किसान की साक्षरता, क्रियात्मक साक्षरता, प्रौढ़ और अनौपचारिक शिक्षा के कार्यक्रमों की बड़े स्तर पर असफलता का कारण आम जनता में जागरूकता की कमी मात्र नहीं हो सकता। क्या ऐसी असफलताएं जनता की सक्रिय अस्वीकृति या विरोध नहीं दरशातीं जो वास्तव में राजनीतिक विद्रोह हैं और शिक्षा की 'तीन आर'—लिखना, पढ़ना और गणित ('रीडिंग, राइटिंग और रिथमेटिक')—वाली मासूम क्रियात्मक समझ से बिलकुल फर्क?

हालांकि, खास तौर से भारत में शिक्षा में अधिकतर शोध सरकार द्वारा उपलब्ध कराए गए अनुदानों से होता है और उपलब्धियों, असफलताओं, भरती दर, साक्षरता दर आदि जैसे संख्यात्मक मूल्यांकन तक ही सीमित होता है लेकिन समाज वैज्ञानिकों की भागीदारी के कारण ऐस अध्ययनों को बहुत महत्व और वैधता मिलती है। इस प्रकार का परिमाणात्मक शोध राजसत्ता की शैक्षिक नीतियों और कार्यक्रम बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। ऐसे मात्रात्मक विश्लेषणों का व्यापक प्रकाशन और प्रसार करके राजसत्ता ज्यादा बुनियादी और ढांचागत मुद्दों से ध्यान हटाकर आंकड़ों के मकड़जाल में उलझा देने में सफल हो जाती है। सारी चर्चा ज्यादा शालाएं, ज्यादा शिक्षक, स्रोतों की कमी, भर्ती दर आदि जैसे मुद्दों पर आकर टिक जाती है। यह सब अत्यंत महत्वपूर्ण है और शिक्षा के लिए राजसत्ता द्वारा समुचित आर्थिक स्रोतों का प्रावधान न करने जैसे बुनियादी मुद्दे की ओर ध्यान आकर्षित करता है। लेकिन जो 50 प्रतिशत बच्चे आठवीं कक्षा तक पहुंचने के पहले ही स्कूल छोड़ देते हैं, उसके कारण क्या मात्र स्रोतों की कमी है? जरूरत यह है कि शिक्षा की पहुंच के बाहर रह गए लोगों की समझ और परिस्थितियों को ज्यादा गहराई से समझा और पहचाना जाए। कुछ प्रगतिशील और आमूल परिवर्तनवादी शोधकर्ता और सक्रिय कार्यकर्ता उत्पीड़ितों को दोषी करार ठहराने वाली व्याख्या का दबी आवाज में विरोध जरूर करते हैं लेकिन वे भी जनता की तयशुदा अस्वीकृति या प्रतिरोध की अभिव्यक्ति को नहीं पहचान पाते। इन प्रगतिशील सिद्धांतकारों का विश्लेषण चाहे कितना भी वैध, उपयोगी अंतर्दृष्टा, गहरा, जनपक्षीय और सही विचारधारा पर आधारित क्यों न हो फिर भी यह व्याख्या जन प्रतिरोध को पहचानने और उसका विश्लेषण करने की संभावनाओं के लिए गुंजाइश नहीं छोड़ती है। इससे ऐसा आभास होता है कि शिक्षा पर शक्तिशाली वर्गों का पूरा-पूरा वर्चस्व

है। अभावग्रस्त वर्गों के लोग असहाय हैं और उस वर्चस्व को स्वीकारने के अलावा उनके पास कोई चारा नहीं है।

इस दिशा में शोध क्या शैक्षिक सिद्धांतों और शिक्षा समाजशास्त्र में एक निरंतरता स्थापित कर पाने में कुछ योगदान दे पाएगी जो शैक्षणिक प्रयासों तथा उससे उभरे जन आंदोलनों, दोनों की व्याख्या कर पाए?

भारत के संदर्भ में शिक्षा समाजविज्ञान

अध्याय के इस हिस्से में पिछले पांच दशकों में उभरे मुख्य शैक्षिक सिद्धांतों पर एक सरसरी निगाह डालने का प्रयास किया गया है। भारत में शिक्षा समाजविज्ञान विषय के विकास के संदर्भ में दो महत्वपूर्ण बातों को ध्यान में रखना जरूरी है :

(1) शिक्षा समाजविज्ञान भारत और अन्य विकासशील और अविकसित देशों में एक कम विकसित विषय है।

(2) पश्चिमी देशों में भी इस विषय का विकास मूलत: स्कूली शिक्षा के संदर्भ में हुआ है लेकिन वहां विकसित शिक्षा सिद्धांतों और बहसों का प्रभाव भारत के शिक्षा जगत, औपचारिक तथा अनौपचारिक, दोनों पर पड़ा। पश्चिमी देशों में भी दूसरे विश्वयुद्ध के बाद ही शिक्षा को समाजविज्ञान की एक शाखा के रूप में मान्यता मिली थी। वर्तमान शती की शुरुआत में ही एमिल दरखाइम जैसे समाजविज्ञानी की शिक्षा की शानदार व्याख्या और मार्क्स तथा वेबर के काम से प्राप्त प्रेरणा के बावजूद 1950 से पहले इस विषय ने कोई विशेष उपलब्धि हासिल नहीं की थी (कराबल तथा हेल्सी, 1977 : 2)।

भारत में शिक्षा समाजशास्त्र विषय की शुरुआत और भी बाद में हुई और अभी तक इस विषय का विकास बहुत थोड़ा है (शुक्ला और कुमार, 1985 : 5)। इस संदर्भ में प्रो. शुक्ला का कथन है, 'हम यह भी देख सकते हैं कि ऐतिहासिकता या ऐतिहासिक जागरूकता की यह कमी और शैक्षणिक नीतियों तथा प्रक्रियाओं में राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक आयामों को नजरअंदाज करना शैक्षणिक अध्ययनों की रूपरेखा के निर्माण में भी प्रतिबिंबित होता है। शिक्षा का इतिहास या तो उपेक्षित विषय है या इसका अध्ययन नीरस, औपचारिक, संवैधानिक शब्दावली के तहत ही होता है। हमारे देश में शिक्षा समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र का विकास बहुत देर से हुआ और जब हुआ तब भी अविश्लेषणात्मक स्वरूपों के तहत ही जो सत्ता के मौजूदा ढांचों पर प्रश्न खड़े नहीं करते' (शुक्ला, 1997 : 1827)। यहां भारत में शिक्षा समाजशास्त्र के क्षेत्र में प्रगति की गति इतनी धीमी रही और प्राथमिकता इतनी कम रही कि शिक्षा समाजशास्त्र से संबंधित विभिन्न अभिमतों की गहरी

और सामान्य समझ बनाने के लिए यूरोप, ब्रिटेन और अमरीका में विकसित शैक्षिक ज्ञान और सिद्धांतों पर निर्भर होना पड़ता है बावजूद इस तथ्य के कि भारतीय परिस्थिति कहीं ज्यादा जटिल है। 'पश्चिमी समाजों की तुलना में हमारे जैसे अ-पश्चिमी समाजों में वर्ग और अन्य प्रकार के विभाजनों के अलावा असमानताओं तथा विभिन्नताओं की कहीं ज्यादा तहें हैं। इसके साथ ही साम्राज्यिक और औपनिवेशिक रिश्तों के कारण अर्थव्यवस्था, संस्कृति और राजनीति में कई और आयाम जुड़ जाते हैं' (शुक्ला और कुमार, 1985 : 5)।

जहां इन सिद्धांतों का विकास हुआ वहां का आर्थिक और सामाजिक संदर्भ उद्योगीकरण तथा पूंजीवाद था जबकि भारत की परिस्थिति में आज भी बहुत फर्क है। भारत के कई हिस्सों में आम जनता अभी भी सामंती उत्पीड़न का शिकार है और ऐसी व्यवस्था को बदलने के लिए संघर्षरत है। विकास की प्रक्रिया से पनपी गैर-बराबरी और विषमता ने कई प्रकार के अंतर्क्षेत्रीय द्वंद्वों और विरोधाभासों को जन्म दिया है। पश्चिम में विकसित शिक्षा के समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का सहारा लेते हुए भारत की परिस्थिति को समझने के आधार को शायद कराबल तथा हेल्सी के इस कथन से थोड़ा बल मिले, 'आमूल परिवर्तनवादी शोधकर्ताओं का अधिकतर विश्लेषण समाजवादी समाजों पर भी लगभग उतना ही लागू होता है जितना पूंजीवादी समाजों पर जिनको (पूंजीवादी समाजों को) ध्यान में रखकर यह विश्लेषण किया गया है' (कराबल और हेल्सी, 1977 : 40)। लेकिन भारत की परिस्थिति समाजवादी समाजों से भी अलग है। लंबे अरसे तक औपनिवेशिक अधीनता में रहने के बाद एक राष्ट्र के रूप में इसका उदय ही बीसवीं सदी के मध्य में हुआ था। इसलिए किस हद तक यह विश्लेषण भारत जैसे देशों पर लागू होता है यह ज्यादा गौर से परखना और समझना पड़ेगा।

शैक्षिक समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का वर्गीकरण

'प्राचीन समाजों में सभी धार्मिक ग्रंथों और शास्त्रों में शिक्षा को संविधान का एक पहलू माना गया जिसका काम समाज को बचाने और बनाए रखने का है और शैक्षिक प्रक्रियाएं भौतिक समाज के पुनरुत्पादन का जरिया मानी गईं' (शुक्ला और कुमार, 1985 : 1)। आधुनिक समय में, ऐतिहासिक घटनाक्रम में परिवर्तन के साथ-साथ इस अभिमत में बुनियादी फर्क आया है। इतिहास की दिशा में परिवर्तन, इंगलैंड और यूरोप में उद्योगीकरण और इससे भी स्पष्ट रूप से दूसरे विश्वयुद्ध के अंत के समय से पहचाना जा सकता है। एक तरफ तो पूंजीवाद के उदय से कुशल व्यक्तियों और वैज्ञानिक शिक्षा की मांग बढ़ी तो दूसरी तरफ यूरोप और ब्रिटेन में सशक्त मजदूर आंदोलनों से समतावाद, समानता तथा प्रभुत्व के मुद्दे उभरे। इसके साथ ही जर्मनी में नाजी के शासन ने दुनिया के लोगों को शिक्षा

की दमनकारी और अमानवीय, पर कार्यक्षम (कुशल) क्षमता भी दरशा दी।

इस प्रकार, दूसरे विश्वयुद्ध के बाद सत्तर के दशक के अंत और अस्सी के दशक के शुरुआती दौर तक की शिक्षा की प्रमुख समाजशास्त्रीय धाराओं को निम्नलिखित वर्गों में बांटा जा सकता है :

(1) शैक्षिक क्रियात्मकता का सिद्धांत,
(2) मानव पूंजी से संबंधित आर्थिक सिद्धांत,
(3) असमानता और उदारवादी बहस,
(4) शिक्षा में द्वंद्व का सिद्धांत,
(5) पुनरुत्पादन का सिद्धांत,
(6) शिक्षा नव-समाज विज्ञान का सिद्धांत।

ये वर्गीकरण सामाजिक वास्तविकता का सरलीकरण लग सकता है, लेकिन प्रमुख सैद्धांतिक धाराओं को समझने और समग्र चित्र बनाने के लिए यह जरूरी भी है। यहां विभिन्न अभिमतों, उनके इतिहास और आलोचनाओं को संक्षेप में, उन सामाजिक संदर्भों में जिनमें वे विकसित हुई थीं, प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

क्रियात्मकता का सिद्धांत : 1950 तक शिक्षा समाजशास्त्र में प्रचलित सिद्धांत संरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) क्रियात्मकतावाद (फंक्शनल) था जिसे शिक्षा के रूढ़िवादी या परंपरागत सिद्धांत भी कहा जाता है। इसके तहत स्कूली शिक्षा के संदर्भ में पचास के दशक में पारसन्स के मत का जोर था। उसके अनुसार स्कूलों को निष्पक्ष संस्थान माना गया और स्कूलों का काम विद्यार्थियों को वह ज्ञान और कौशल उपलब्ध कराना था जिसकी जरूरत उन्हें उद्योगीकरण के दौर से गुजरने वाले समाज में काम करने के लिए थी।

इसके साथ ही शिक्षा का उद्देश्य समाज में संतुलन और सामाजिक ढांचों को बनाए रखना माना गया। पारसन्स जो बीसवीं सदी के मध्य के एक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली क्रियात्मकतावादी थे, उन्होंने उस समय के समाज की परिस्थिति को, उसके एकीकरण और विभेदीकरण को और समाज हमेशा से ऐसा ही है—स्थिर है, यह माना। साथ ही विभाजनों और विभेदों को सही भी माना और शैक्षिक प्रक्रियाओं के माध्यम से समाज को समझने का प्रयास किया। वेल्श ने लिखा है, 'शिक्षा के अंतर्गत तालकोट पारसन्स, उस जमाने के क्रियात्मक समाज विज्ञान के ऊंचे पंडित थे। वे विश्लेषण के ऐसे तरीके विकसित कर रहे थे कि जिसने 'वर्ग' की अवधारणा को कक्षा के कमरे से बाहर कर दिया था। उनके लिए विद्यार्थियों की अकादमिक उपलब्धियां उनके बीच भेद करने की प्रमुख आधार थीं और अंततः स्कूली व्यवस्था में प्राप्त होने वाला स्थान मात्र शिक्षक द्वारा दिए गए काम कितनी दक्षता से किए जाते हैं उस पर निर्भर करता था' (वेल्श, 1993 : 17)।

हेनरी जीरो छिपे हुए पाठ्यक्रम की राजनीति पर चर्चा करते हुए परंपरागत क्रियात्मक

तरीके के संदर्भ में कहते हैं, 'स्कूली शिक्षा की परंपरागत पद्धति और छिपा हुआ पाठ्यक्रम अपने मुख्य सरोकार के तहत एक सवाल मुख्य रूप से उठाते हैं : वर्तमान समाज को क्या संभव बनाता है? इस प्रश्न के पीछे मूल मान्यता यह है कि वर्तमान समाज को ऐसा का ऐसा बनाए रखने में (अनुरक्षण) शिक्षा की बुनियादी भूमिका है। आम राय, साहचर्य (समरूपता) और स्थिरता के सिद्धांतों को मानकर और अपने तरीके को संस्कृति संप्रेषण, समाजीकरण की भूमिका तथा मूल्य हासिल करने जैसे मुद्दों पर आधारित करके परंपरागत शैक्षिक सिद्धांत आज की शालाओं और समाज के बीच के रिश्तों को बिना आलोचना के स्वीकार करते हैं।' जीरो आगे कहते हैं, 'मतैक्य और स्थिरता की उनकी बुनियादी चिंता के चलते ये पद्धतियां प्रबल सामाजिक मूल्यों तथा नियमों के वर्चस्व को स्वीकारती हैं और उनकी प्राथमिक रुचि यही होती है कि इन्हें वास्तव में स्कूलों के माध्यम से कैसे पढ़ाया जा रहा है' (जीरो, 1983 : 48)। अंत में द्वंद्व और विचारधारा की आवधारणाएं ही इस परिप्रेक्ष्य में गायब हो जाती हैं तथा एकल के बाहर और भीतर सत्ता के दुरुपयोग और लापरवाही जैसे प्रश्न व्यापक समाज के स्थिर और मूर्त चित्र की आड़ में भाप बनकर उड़ जाते हैं (जीरो 1989 : 49)।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद 'शीत युद्ध' में भिड़े रूस और अमरीका के बीच उत्पादन और मानव संसाधन के संरक्षण को लेकर बढ़ती चिंता और होड़ से एक खास तरह की तकनीकी कौशल बढ़ाने वाली क्रियात्मकता बढ़ी। रूस में नाभिकीय हथियारों के विकास ने प्रभावशाली रूप से यह दिखा दिया था कि तकनीकी श्रेष्ठता को सैन्य प्रभुत्व में बदला जा सकता है। इसलिए इन दोनों देशों ने अपनी-अपनी शिक्षा व्यवस्था को पर्याप्त वैज्ञानिक और इंजीनियर पैदा करने के अनुकूल बनाया। इनकी मुख्य चिंता विशेषज्ञों का समाज बनाने की थी जैसे कि क्लार्क ने घोषणा की थी, 'हमारे युग की मांग है कुशल तकनीशियनों और पेशेवर विशेषज्ञों की फौज पर फौज खड़ी करना' (कराबल और हेल्सी, 1977 : 9)।

हालांकि 'दूसरे विश्वयुद्ध से पहले और बाद में, दोनों समय, यूरोप महाद्वीप में समाजवादी और काफी हद तक मार्क्सवाद से प्रेरित मजदूर आंदोलनों का उदय हुआ और इन आंदोलनों में मूलतः सत्ता द्वारा प्रभुत्व जमाने की प्रक्रियाओं से जुड़े सवाल उठाए गए' (शुक्ला और कुमार, 1985 : 4)। मजदूर आंदोलनों और समाजवादी प्रभावों के कारण दूसरे विश्वयुद्ध के पहले और बाद में ब्रिटेन में भी शिक्षा में समानता तथा बराबरी जैसे मुद्दों की आवाज उठी। हालांकि ब्रिटेन की समानता की भावना शिक्षा के क्रियात्मक सरोकारों—संभावित प्रतिभाओं को प्रशिक्षित करना, शिक्षा और दक्षता, मानव संसाधन का संरक्षण—आदि से भी जुड़ी थी।

सत्तर के दशक की शुरुआत तक आते-आते क्रियात्मक सिद्धांत की काफी बदनामी और व्यापक रूप से आलोचना होने लगी थी। इसकी आलोचना तकनालाजी की भूमिका को बढ़ाने-चढ़ाने और सामाजिक एकीकरण, मतैक्यता, व्यक्तियों को समाज में संतुलन बनाए रखने के लिए प्रेरित करने तथा साथ ही शिक्षा में द्वंद्व और विचारधारा के महत्व

को कम आंकने जैसे कारणों से की गई। क्रियात्मक सिद्धांत की आलोचना इसलिए भी हुई क्योंकि चुनाव और तकनीकी प्रशिक्षण पर इसके जोर के कारण शिक्षा का विषयवस्तु का मुद्दा उपेक्षित रह गया था। इन आलोचनाओं के बावजूद अपने अधिकतम प्रभाव वाले युग में क्रियात्मक परिप्रेक्ष्य ने शिक्षा पर बल देकर और अर्थव्यवस्था तथा राजनीति से इसके रिश्ते जोड़कर निस्संदेह शिक्षा समाजविज्ञान के अनुभव को आगे बढ़ाया था।

मानव पूंजी सिद्धांत : इस सिद्धांत में शिक्षा के प्रसार को 'मानव पूंजी में निवेश' के रूप में देखा जाता है। थियोडर शुल्ट्ज ने 1960 में इस बात को इस प्रकार व्यक्त किया था, '...न केवल एक व्यक्ति की उत्पादकता बढ़ाना होगा बल्कि ऐसा करते हुए, त्वरित आर्थिक सफलता हेतु जिस प्रकार के मजदूरों की फौज चाहिए उसके लिए तकनीकी आधार की नींव रखनी होगी' (कराबल और हेल्सी, 1977 : 72)। मानव पूंजी का सिद्धांत तकनीकी क्रियात्मकता के सिद्धांत से मेल खाता है। इन दोनों सैद्धांतिक धाराओं ने शिक्षा के तकनीकी उद्देश्य पर जोर दिया है और मानव संसाधन के दक्षता से इस्तेमाल को महत्वपूर्ण बताया है।

विकासशील दुनिया के देशों पर भी मानव पूंजी के सिद्धांत का प्रभाव पड़ा। पश्चिमी देशों की तरह तीसरी दुनिया के देश भी आर्थिक वृद्धि को बढ़ावा देने के लिए अपने शिक्षा तंत्र को व्यवस्थित करने की चिंता में पड़ गए थे। 'शोध की इस अत्यधिक असरदार दिशा (आधुनिकीकरण का सिद्धांत) से ही अधिकतर व्याख्याएं निकलीं कि कैसे तीसरी दुनिया के देश (जिन्हें बहुत बार 'अविकसित' देश कहा जाता है) उच्च वृद्धि दर हासिल करके विकसित औद्योगिक देशों की कतार में शामिल हो सकते हैं' (वेल्श, 1993 : 17)।

भारत में इसके असर को पंचवर्षीय योजनाओं पर हुए प्रभावों से आंका जा सकता है। 'उदाहरणार्थ, तीसरी पंचवर्षीय योजना के दस्तावेज में (1961-62) भारतीय योजना आयोग, तेजी से आर्थिक विकास, तकनीकी प्रगति और ऐसी समाजव्यवस्था बनाने के लिए जिसकी नींव स्वतंत्रता के मूल्य, सामाजिक न्याय और अवसर की समानता पर आधारित हो, शिक्षा को एकमात्र महत्वपूर्ण कारक मानता है' (कामत, 1985 : 167)।

शिक्षा के मानव पूंजी सिद्धांत के कारण साठ के दशक में तीसरी दुनिया के देशों पर आर्थिक वृद्धि बढ़ाने के लिए अपनी जनता को साक्षर करने का दबाव बढ़ गया था। संयुक्त राष्ट्र संघ की सिफारिशों पर 1961 में यूनेस्को ने दुनिया में असाक्षर लोगों की संख्या जानने के लिए एक व्यापक सर्वेक्षण करवाया था। इस सर्वेक्षण की समाप्ति पर 1970 में यूनेस्को ने पाया था कि अफ्रीका, एशिया, अरब और लातिनी अमरीका के देशों में ही लगभग 80 करोड़ असाक्षर लोग निवास करते हैं। इस सर्वेक्षण के परिणामस्वरूप यूनेस्को ने 'क्रियात्मक साक्षरता' जैसा विशेष साक्षरता कार्यक्रम 'प्रायोगिक विश्व साक्षरता कार्यक्रम (एक्सपेरीमेंटल वर्ल्ड लिटरेसी प्रोग्राम)' के नाम से शुरू किया था। 1971 तक इस कार्यक्रम के तहत दुनिया के 12 देशों में महत्वपूर्ण साक्षरता कार्यक्रम शुरू किए गए। इस कार्यक्रम में भारत

भी शामिल था। असाक्षरता को क्योंकि आर्थिक वृद्धि में बाधा और विकासशील देशों के पिछड़ेपन के लिए व्यापक रूप से जिम्मेदार ठहराया गया था इसलिए इस कार्यक्रम में व्यावसायिक और बैंकों समेत अन्य आर्थिक क्षेत्रों ने भी गहरी रुचि दिखाई थी। इस संदर्भ में यूनेस्को के महानिदेशक (डायरेक्टर जनरल) ने दुनिया के विभिन्न हिस्सों के व्यवसायियों, बैंकरों और अर्थशास्त्रियों की एक गोष्ठी 1971 में रोम में आयोजित की थी (बर्गरिन और बर्गरिन, 1975)। इस मीटिंग में एक मत से यह सिफारिश की गई, '...कि आधुनिक उद्यमी स्रोतों, औद्योगिक और कृषि क्षेत्र, और बैंकों समेत विभिन्न प्रकार के और विशेष ऋण देने वाली राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं आदि सभी का योगदान मजदूरों और किसानों को साक्षर करने में लेना चाहिए' (बर्गरिन और बर्गरिन, 1975 : 11)।

यूनेस्को की इस 12 देशों की महत्वाकांक्षी योजना के परिणाम उस समय तक प्रकाशित नहीं हुए थे जब तक कैरल बर्गरिन और लार्स बर्गरिन की पुस्तक *दि लिटरेसी प्रोसेस* प्रकाशित हुई थी। लेकिन उन्होंने लिखा, '...विभिन्न स्रोतों से जो अपूर्ण जानकारी मिल सकी है उससे कोई आशा नहीं बंधती है' (बर्गरिन और बर्गरिन, 1975 : 8)। यहां यह कह देना महत्वपूर्ण होगा कि भारत में क्रियात्मक साक्षरता कार्यक्रम किसान साक्षरता कार्यक्रम (फार्मर्स लिटरेसी प्रोग्राम) के रूप में लागू हुआ था। इस कार्यक्रम का फोकस भूमिहीन मजदूर न होकर किसान और अकसर बड़े किसान थे। भूमिहीन खेतिहर मजदूर स्वाभाविक रूप से इस कार्यक्रम के बाहर रहे और इस प्रकार भूमिहीनता जैसा संवेदनशील राजनीतिक मुद्दा और खेतिहर मजदूरों के हितों से जुड़ा साक्षरता के एजेंडा के बाहर ही छूट गया।

विश्व बैंक औ फोर्ड फाउंडेशन जैसी ताकतवर संस्थाओं ने भी शिक्षा अर्थशास्त्रियों को मानव पूंजी का संदेश एशिया, अफ्रीका, अरब और लातिनी अमरीका के देशों में फैलाने के लिए अनुदान दिए। हालांकि तीसरी दुनिया के देश स्वयं भी अपने देशों की आर्थिक वृद्धि को लेकर चिंतित थे लेकिन अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक आदि पूंजीवादी संस्थानों की अपील के कारणों में और तीसरी दुनिया के देशों की चिंता में बुनियादी फर्क था। 'मानव पूंजी सिद्धांत के अनुसार तीसरी दुनिया के देशों की गरीबी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक रिश्तों जैसे ढांचागत कारणों से नहीं, बल्कि उनके अंदरूनी कारणों—सबसे महत्वपूर्ण मानव पूंजी की कमी—के चलते है' (कराबल और हेल्सी, 1977 : 15)। इसलिए, जैसा कि भूमिहीनों के बजाए कृषकों पर फोकस से स्पष्ट है, भारत में क्रियात्मक साक्षरता कार्यक्रम का मानव पूंजी सिद्धांत के तहत ध्यान ढांचागत कारणों से हटाकर व्यक्ति आधारित कारकों पर फोकस कर दिया गया।

मानव पूंजी सिद्धांत का एक और अवधारणात्मक पहलू है। इस पहलू पर ध्यान देना जरूरी है। यह सिद्धांत सीधे पूंजीवादी विचारधारा के पक्ष में भावनात्मक अपील के संदर्भ में है। यह अपील इस सिद्धांत की इस हठधर्मिता पर आधारित है कि मजदूर अपने हुनरों और ज्ञान के रूप में पूंजी का धारक होता है और उसमें निवेश करने की क्षमता होती है। इसलिए इस सैद्धांतिक ढांचे के तहत मजदूरी करने वाला एक मजदूर, जिसके पास न तो

कोई जायदाद होती है, न वह उत्पादन के साधनों का मालिक ही होता है और न ही उसका अपने श्रम को बेचने की प्रक्रिया या उत्पाद पर कोई नियंत्रण होता है, वह भी एक छोटे पूंजीपति में परिवर्तित हो जाता है।

मानव पूंजी और शिक्षा के माध्यम से इसके विकास के इस सिद्धांत के उभरने के बाद भारत में शिक्षा और संस्कृति मंत्रालय का नाम बदलकर मानव संसाधान विकास मंत्रालय कर दिया गया। मंत्रालय का नाम इस प्रकार बदलना निश्चित रूप से एक मासूम परिवर्तन नहीं था। इस संबंध में प्रो. शुक्ला लिखते हैं, '...इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा को एक माध्यम यानी *साधन या औजार का दर्जा दिया गया*। उसे ध्येय या शिक्षा के अंतर्निहित मूल्य का दर्जा नहीं दिया गया। इससे भी कम स्वीकार्य बात इस संभावना में है—जिसके समर्थन में परिस्थिति और वास्तविक अनुभवजन्य जबरदस्त साक्ष्य मौजूद हैं—कि जो शिक्षित हो गए हैं वे राष्ट्रीय या विकसित देशों के अभिजात वर्ग की या बहुराष्ट्रीय कंपनियों की अपने हुनरों और मूल्यों से सेवा करते हैं। संबंधित सरकारी मंत्रालय का नाम बदलकर मानव संसाधन मंत्रालय रखने की औपचारिक घोषणा अपने आप में (जैसे, पहले नाम शिक्षा, संस्कृति और कल्याण था और जैसे कल्याण तथा मानव संसाधन विकास को अलग-अलग करना) सरकारी लोगों का प्रबंधन शब्दावली से लगाव का एक आकस्मिक परिणाम कहा जा सकता है। लेकिन यह भी स्पष्ट दिखता है कि देश की शिक्षा व्यवस्था और शायद इसकी सूचना और संस्कृति व्यवस्था, स्वास्थ्य और पोषण प्रावधानों की व्यवस्था आदि के लिए न केवल एक मशीनी या साधक की बल्कि जोड़-तोड़ वाली छलयुक्त भूमिका भी सोची जा रही है। यह या तो देश के अभिजात वर्ग के पक्ष में या इससे भी ज्यादा ताकतवर अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक और राजनीतिक ताकतों के स्वार्थ के लिए किया जा रहा है' (शुक्ला, 1991 : 233)। नब्बे के दशक से भारत के शिक्षा, स्वास्थ्य और सांस्कृतिक क्षेत्रों में जिस तरह के परिवर्तन तेजी से हो रहे हैं यानी निजीकरण, उच्च शिक्षा और स्वास्थ्य के बजट में सरकारी प्रावधानों में कटौती, परिवार नियोजन पर जोर इत्यादि, यह दिखाता है, परिवर्तन मात्र शब्दावली की बात नहीं है। उद्देश्य ज्यादा घातक हैं और अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के हिस्से हैं।

हालांकि सत्तर के दशक से ही मानव पूंजी विकास सिद्धांत पर काफी सवाल उठने लगे थे लेकिन विकासशील देशों को विकसित दुनिया द्वारा शिक्षा से विकास (मूलत: आर्थिक विकास) का पाठ अभी भी पढ़ाया जाता है। उदारीकरण के साथ-साथ भारत में प्राथमिक शिक्षा का जोर भी बहुत बढ़ा है। साथ ही इसके लिए बड़ी मात्रा में अंतर्राष्ट्रीय अनुदान तथा ऋण भी उपलब्ध कराया जा रहा है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, सत्तर का दशक आते-आते मानव पूंजी के सिद्धांतों की कमियां और अपर्याप्तताएं सामने आने लगी थीं। अमरीका में गरीबी खत्म करने की लड़ाई और तीसरी दुनिया में विकास, दोनों में शिक्षा नीतियों की असफलताओं के कारण इन सिद्धांतों की विश्वसनीयता समाप्त हो चली थी। इस सिद्धांत से शिक्षा और अर्थव्यवस्था

के संबंध समझने के लिए पर्याप्त रूपरेखा भी नहीं उभरी थी। इन सिद्धांतों की सीमा के बारे में अंदाज समान मौकों और शिक्षा द्वारा समानता के संदर्भ में हुई विभिन्न बहसों से लगाया जा सकता है।

असमानता की बहस : शिक्षा में असमानता, चाहे बात असमान अवसरों की हो या उपलब्धियों की, दोनों ही शिक्षाविदों, खास तौर से यूरोप और इंगलैंड के शिक्षाविदों के बीच चिंता का विषय रहे हैं। यह बहस पहले वर्गों और अब लिंग और नस्ल के बीच राजनीतिक द्वंद्व के संदर्भ में केंद्र में रही है। भारत में असामनता की बहस में लिंग और जाति (चिटनीस, 1971; कुमार, 1985; स्माक, 1985) और पारिवारिक पृष्ठभूमि (राव, 1985) के सवाल बहसों का हिस्सा बने। बहसों में यह भी सामने आया कि पारिवारिक पृष्ठभूमि एक अपरिभाषित परिकल्पना है क्योंकि यह वर्ग विभाजन को छिपा देती है और वास्तव में सवाल वर्ग, जाति और लिंग आधारित भेदभावों का है।

खास तौर से दूसरे विश्वयुद्ध के बाद से मजदूर आंदोलनों के साथ-साथ समतावादी विचारधाराओं के प्रचार से शिक्षा के समान अवसरों की जन मांग बहुत तेज हो गई थी। समाज में असमानताएं बनाने वाले ढांचों को कायम रखने या चुनौती देने में शिक्षा की भूमिका को समझने के लिए किए गए अध्ययन और शोध मुख्यत: अनुभवजन्य और संख्यात्मक (परिमाणात्मक) रहे हैं। इस तरह के शोध न तो शिक्षा की विषयवस्तु और न ही स्कूलों के आंतरिक क्रियाकलापों पर कोई प्रकाश डालते हैं और न ही असमानता के मुद्दे का समाज की ढांचागत समस्याओं से कोई संबंध देखने का प्रयास ही करते हैं। हालांकि शोध के लिए मिले अनुदान के स्रोत भारत में जो अधिकतर सरकारी स्रोत ही होते हैं शोध के प्रश्नों और समस्याओं से लेकर तरीके आदि सभी को प्रभावित करते हैं। इस सीमा और अधिकतर शोधों की प्रकृति मात्रात्मक होने के बावजूद इनसे कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण परिणाम सामने आए हैं।

(1) शिक्षा के समान मौकों से कोई जरूरी नहीं है कि समान उपलब्धियां भी हासिल हों। इस संदर्भ में एक बहुत महत्वपूर्ण सर्वेक्षण अमरीका में 1966 में जेम्स कोलमैन के द्वारा किया गया था। कांग्रेसियों ने इस सर्वेक्षण के लिए नियुक्ति की थी। कांग्रेसियों को यह शक था कि काले लोगों के लिए बने 'घंटों' स्कूलों की स्थिति कम पैसों और अन्य सुविधाओं की कमी के कारण खराब थी। इन्हें उम्मीद थी कि कोलमैन के अध्ययन के परिणाम काले और गोरों के स्कूलों के बीच चौकाने वाली असमानताएं दिखाएंगे तथा नस्लों के बीच अलग-अलग शैक्षिक उपलब्धि के स्तरों को काफी हद तक इन स्रोतों की असमानताओं के आधार पर समझा जा सकेगा। लेकिन कोलमैन के अध्ययन ने यह दरशाया कि कालों और गोरों के स्कूलों के गुणधर्म आश्चर्यजनक रूप से समान हैं और यह कि स्कूलों की सुविधाओं का विद्यार्थियों की उपलब्धि के स्तर पर बहुत कम प्रभाव है। कोलमैन ने स्कूलों के काम करने के आंतरिक क्रियाकलापों पर जानकारी इकट्ठी नहीं की थी क्योंकि

यह मुद्दा शोध का हिस्सा नहीं था। और क्योंकि, '...स्कूलों में क्या होता है इसके मूल में तभी जाया जा सकता है जब शिक्षा की विषयवस्तु और प्रक्रिया का सावधानीपूर्वक अवलोकन किया जाए और इस पर कोलमैन के पास खास कुछ कहने को था नहीं' (कराबल और हेल्सी, 1977 : 21)। इसलिए जहां तक शैक्षिक उपलब्धियों में अंतर का प्रश्न है, इस अध्ययन से कुछ खास नहीं निकला था। लेकिन इस अध्ययन से यह जरूर स्थापित हो गया था कि प्रश्न मात्र समान अवसरों और सुविधाओं का नहीं है। स्कूली व्यवस्था की अंदरूनी प्रक्रियाओं की भूमिका को समझे बगैर कोई समझ बनाना संभव नहीं है।

(2) इसी प्रकार इस अध्ययन से इस धारणा की भी धज्जियां उड़ गईं कि शिक्षा में बराबरी से न तो समान अवसर पैदा होते हैं और न ही शिक्षा समाज में समानता हासिल करने का संपूर्ण साधन हो सकती है। कराबल और हेल्सी के अनुसार इस संदर्भ में एक अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान क्रिस्टोफर जेंक्स के असमानता पर किए गए अध्ययन से हुआ था जो 1971 में प्रकाशित हुआ। इस अध्ययन के आंकड़ों की व्याख्या में समस्याएं थीं और स्कूल की आंतरिक प्रक्रियाओं को लेकर भी प्रश्न थे। इनपुट-आउटपुट के मशीनी माडल को लेकर भी समस्याएं थीं। एक अन्य अत्यंत गंभीर समस्या यह थी कि हालांकि इस अध्ययन ने अमरीका में चली आ रही इस धारणा को तोड़ दिया था कि स्कूल ज्यादा बुनियादी सामाजिक परिवर्तन की जगह ले सकते हैं, पर साथ ही इसका स्थान शायद एक उतने ही विनाशकारी मिथक ने ले लिया था कि सामाजिक समानता हासिल करने के लिए स्कूली व्यवस्था को नजरअंदाज किया जा सकता है (कराबल और हेल्सी, 1977)।

अमरीका, जहां पाद्धतिक अनुभवजन्यवाद (अनुभवजन्य जानकारी पर आधारित पद्धति, मेथोडिकल इंपीरिसिज्म) की परंपरा समान अवसरों जैसी उदार अवधारणा की सैद्धांतिक और राजनीतिक बहस को ढो रही थी इसके विपरीत वहीं ब्रिटेन में 1950 में समानता की समाजवादी अवधारणा की बहस बहुत आगे बढ़ चुकी थी और शिक्षा समाजशास्त्र का अधिकतर हिस्सा इसी बहस को समर्पित था। इस काम ने समान अवसरों से समान परिणामों वाली उदार परंपरा को चुनौती दी थी। कोलमैन और जेंक्स के अध्ययन समान अवसरों और उपलब्धियों में अंतर की चर्चा करते हुए विद्यार्थियों की पारिवारिक पृष्ठभूमि की ओर इशारा करते हैं और स्कूलों की आंतरिक कार्य प्रणाली को गैर-बराबरी का संभावित कारण तो बताते हैं पर इन अध्ययनों ने भी समाज के वर्गाधारित ढांचे से जुड़े प्रश्नों को छुआ तक नहीं था। ब्रिटेन में (1950) समानता की समाजवादी अवधारणा ने समाज के वर्गाधारित ढांचों के प्रश्नों को भी उठाया। इसी समयावधि में इसी प्रकार का काम फ्रांस और यूरोप में कई अन्य जगहों पर भी उठाया गया।

भारत में शैक्षिक असमानता की बहस में सुविधाओं और अवसरों की असमानता और असमान उपलब्धियां, दोनों मुद्दे महत्वपूर्ण रहे हैं। स्कूलों में भवन, श्यामपट, पेशाबघर, पीने का पानी, चाक, डस्टर, आदि जैसे न्यूनतम सुविधाओं से जुड़े सवाल पिछले 50 वर्षों

से लगातार उठते रहे हैं। इन कमियों की आपूर्ति के लिए ढेरों योजनाएं बनीं और बिना विशेष सफलता के खत्म भी हुईं। नई शिक्षा नीति, 1986, के तहत स्कूल भवनों और पुस्तकालयों के लिए 'आपरेशन ब्लैकबोर्ड' नामक योजना लागू की गई थी। अब जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम के तहत कुछ स्कूल भवन बनाने का प्रावधान रखा गया है। लेकिन अन्य सुविधाओं की भयंकर कमी रही है। ये स्थिति या तो अनुदान की कमी के कारण बनी या खराब प्रबंधन और भ्रष्टाचार के कारण। इसलिए भारत में शिक्षा में असमान उपलब्धियों का स्रोतों की अपर्याप्तता (कमी) से भी गहरा संबंध है। स्कूलों की आंतरिक व्यवस्था और विषयवस्तु तो इस बहस की जटिलता में और तहें जोड़ते ही हैं। स्कूली व्यवस्था असफलता को आत्मसात करवाकर सामाजिक गैर-बराबरी को भी वैध ठहराने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है।

स्कूलों में सुविधाओं की कमी के साथ ही शैक्षिक उपलब्धि का निम्न स्तर भारत में शिक्षा के क्षेत्र से जुड़े कुछ लोगों के लिए लगातार चिंता का विषय रहे हैं। खास तौर से वंचित पृष्ठभूमि के बच्चों में यह असफलता किस तरह की कुंठाओं को जन्म देती है या असामनता को लाजिमी ठहराने वाले तर्कों को और दृढ़ करती है यह शोध का विषय है। शैक्षिक उपलब्धि के निम्न स्तर के कई कारण पहचाने गए हैं। इनमें सुविधाओं की कमी से ज्यादा महत्वपूर्ण कारण हैं स्कूलों की पढ़ाई का अत्यंत निम्न स्तर, खराब शिक्षक प्रशिक्षण, खराब पुस्तकें और अन्य पाठ्य सामग्री, शिक्षकों की पढ़ाने में कम रुचि, वंचित (दलित, गरीब और आदिवासी) पृष्ठभूमि के बच्चों को घर से कोई सहयोग न मिलना, शिक्षकों और पूरी शिक्षा व्यवस्था द्वारा इनके प्रति उपेक्षा का रवैया आदि। असल में पिछड़े वर्गों, जातियों और आदिवासी समुदायों के अधिकतर बच्चे तो शिक्षा व्यवस्था के बाहर ही छूट जाते हैं या बहुत जल्दी ही स्कूल छोड़ देते हैं। ऐसे बच्चों के लिए जो समानांतर व्यवस्थाएं की जाती रही हैं (अनौपचारिक और औपचारिकेतर शिक्षा के नाम पर) उनका स्तर तो और भी खराब रहा है। भारत में स्कूली शिक्षा की बहस दो खेमों में बंटी है। एक खेमे के लोगों का मानना है कि जो भी बच्चे औपचारिक स्कूली व्यवस्था के बाहर हैं, उन बच्चों को स्कूलों में लाना सबसे बड़ी प्राथमिकता है स्कूली शिक्षा की गुणवत्ता चाहे जैसी भी हो। इनका मानना है कि जो बच्चे स्कूल नहीं जाते वे बाल मजदूरी करने के लिए बाध्य होते हैं। गुणवत्ता सुधारने का काम भी होना चाहिए, ऐसा यह भी मानते हैं। लेकिन बाल मजदूरी का होना या शिक्षा का सर्वव्यापीकरण न हो पाना मुख्यत: सामाजिक और आर्थिक ढांचागत कारणों से है, ऐसा यह समूह स्पष्टता से नहीं कहता। जबकि दूसरे मत के लोगों का मानना है कि स्कूली व्यवस्था का सर्वव्यापीकरण आज की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति में संभव ही नहीं है। शिक्षा का प्रसार होना जरूरी है, गुणवत्ता का सुधार होना भी जरूरी है, पर स्कूली व्यवस्था की सांस्कृतिक और आर्थिक पुनरुत्पादन भूमिका को भी अनदेखा या नकारा नहीं जा सकता। आज गैर-बराबरी बनाए रखने वाले ढांचों को चुनौती देने वाली शिक्षा की जरूरत ज्यादा है, बजाए उन्हें सशक्त

करने वाली शिक्षा के।

इस प्रकार भारत जैसे देश में शिक्षा के समान अवसरों और समान उपलब्धियों की बहस स्कूल की आंतरिक प्रक्रियाओं और विद्यार्थियों की वर्ग, जाति, लिंग जैसी पृष्ठभूमि की चर्चा किए बिना संभव ही नहीं है।

मानवतावादी उदार परंपरा : शिक्षा में समान अवसरों के लिए अधिकतम चिंता उदार परंपराओं के परिणामस्वरूप उभरी। उदार सिद्धांतवादियों और इतिहासकारों के अनुसार जन शिक्षा व्यक्ति के विकास और अल्प-सुविधाप्राप्त लोगों के लिए राजनीतिक और आर्थिक ताकत प्राप्त करने की संभावनाएं पैदा करती है। अनुभवजन्य अध्ययन हालांकि इन दावों को गलत सिद्ध करते हैं।

'उदार मानवतावादी शिक्षा के माध्यम से न केवल नए ज्ञान और कौशलों को फैलाना चाहते थे बल्कि उदार मानववाद (जो प्रगतिशील ब्रिटिश बुर्जुआ सोच रहे हैं) व्यक्तिगत स्वतंत्रता के मूल्य, समानता, तार्किकता, धर्मनिरपेक्षता और प्रजातंत्र को भी फैलाना चाहते थे' (शुक्ला और कुमार, 1985 : 182)। परंतु जीरो के अनुसार उदारवादी परंपराएं हालांकि किसी भी राजनीतिक प्रतिबद्धता या आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्यों के प्रति समर्पित नहीं होतीं। ये वर्ग, नस्ल और लिंग से जुड़े सब ढांचागत सवालों को एक तरफ कर पूरी तरह से नजरअंदाज या अनदेखा कर देती हैं (जीरो : 1983)।

द्वंद्व का सिद्धांत : इस सिद्धांत की गहरी जड़ें मार्क्स और वेबर के काम में हैं, लेकिन इसकी वर्तमान शाखाएं काफी उलझी हुई हैं। कराबल और हेल्सी के अनुसार, 'समाजविज्ञान पर इस विषय के विकास की आंतरिक तार्किकता के बजाए सामाजिक संदर्भ का प्रभाव ज्यादा रहा है।' वे आगे लिखते हैं, 'जिस प्रकार तकनीकी क्रियात्मकता के सिद्धांत 1950 की सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित थे, वहीं द्वंद्व के सिद्धांत 1960 की परिस्थितियों में ज्यादा प्रमुखता से सामने आए। क्योंकि यदि 1950 में सामाजिक स्थिरता की बात प्रमुख थी तो परिवर्तन और क्रांति 1960 की आत्मा और जोश था। अमरीका में आइजनहावर की राजनीतिक दुनिया, मैकमिलन की इंगलैंड में और एडीनार की पश्चिम जर्मनी में और हम जिस दशक में लिख रहे हैं उससे एक दशक पहले की दुनिया में बहुत अंतर था। 1960 के दशक में वर्गों, नस्लों और देशों के बीच प्रतिद्वंद्व तीखा हुआ था। उससे ऐसा लगता है कि एक नई पीढ़ी उभरी जिसके सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोण में काफी फर्क था' (कराबल और हेल्सी, 1977 : 28-29)।

भारत में भी साठ का दशक बहुत उठा-पटक और स्वतंत्रता के बाद पचास के दशक की उम्मीदों और व्यवस्था में भरोसे के टूटने का दशक था। हालांकि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चल रही शिक्षा की बहसों का उस समय भारत की शिक्षा व्यवस्था पर क्या-क्या महत्वपूर्ण असर हुए, खास तौर से शैक्षिक सिद्धांतों और विषयवस्तु पर यह समझना अपने आपमें

एक संपूर्ण विषय है। इसे समझने के लिए गहराई से छानबीन और विश्लेषण करने की जरूरत है।

प्रमाणवादी परिप्रेक्ष्य (पाज़िटिविस्ट पैराडाइम) में काम करने वाले समाज वैज्ञानिक, जो अपनी विश्वसनीयता वैज्ञानिक शोधकर्ता की और समाजविज्ञान को वैज्ञानिक प्रमाणवादी और वस्तुनिष्ठ विषय के रूप में स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे, उन्होंने इस अंतर्निहित विचार का विरोध किया कि समाजविज्ञान के सिद्धांत सामाजिक संदर्भ के साथ बदलते हैं। हालांकि फ्रेडरिक और गोल्डनर जैसे वैज्ञानिकों ने कहा था कि समाजविज्ञान में शोध के दो-स्तरीय परिप्रेक्ष्य (पैराडाइम) होते हैं। और परंपरागत वैज्ञानिक स्तरों के गुणधर्म वास्तव में एक ज्यादा प्राथमिक स्तर से भी गौण हैं। 'समाजविज्ञान परिप्रेक्ष्यों के इस ज्यादा बुनियादी स्तर में शोधकर्ता, उसकी गतिविधियां और उसकी आत्मछवि विषयवस्तु के रूप में शामिल होती हैं' (कराबल और हेल्सी, 1974 : 30)। इसलिए, इस संदर्भ में देखने पर क्रियात्मक परिप्रेक्ष्य ऐसे मूल्यों के प्रति पूर्व प्रतिबद्धता से उभरता है जिसमें समाज वैज्ञानिक की निष्पक्ष आत्मछवि होती है जबकि द्वंद्व के सिद्धांत के तहत शोधकर्ता स्वयं भी अपने आपको निष्पक्ष नहीं मानता।

ऐसा लगता है कि साठ के दशक में द्वंद्व के सिद्धांत के उभरने से शिक्षा, जो पचास के दशक के अंत तक निष्पक्ष (उदासीन और मूल्यों से स्वतंत्र). मात्र उत्पादन और कार्यक्षमता बढ़ाने और समाज में यथास्थिति बनाए रखने का जरिया मानी जाती थी, वह विवाद के दायरों में आ गई थी यानी शिक्षा का माहौल गरमाने लगा था। इस सैद्धांतिक समझ में 'स्कूलों पर चढ़ा राजनीतिक मासूमियत और निष्पक्षता का जामा उतर गया था' (आरोनीविट्ज और जीरो, 1986 : 70)। लातिनी अमरीकी देशों की शिक्षा व्यवस्थाओं पर काम करने वाले कारनाय न केवल शिक्षा को निष्पक्ष बताए जाने से असहमत थे, बल्कि शिक्षा में 'राज' और 'सत्ता' जैसी अवधारणाओं की अनुपस्थिति के भी आलोचक थे।

'कारनाय शैक्षिक विश्लेषणों में राजसत्ता के सिद्धांत की अनुपस्थिति के आलोचक हैं। वे इसके लिए प्रबल ऐंग्लो-अमरीकी विद्वत्ता के दृष्टिकोण को जिम्मेदार ठहराते हैं जिसके अनुसार राजसत्ता अपने सदस्यों (जनता) के सामूहिक मतैक्य की भावना का प्रतिनिधित्व करती है...' (वेल्श, 1993 : 14)।

हालांकि चालीस और पचास के दशक में ब्रिटेन और यूरोप ने सशक्त मजदूर आंदोलनों के कारण बने दबावों की वजह से शिक्षा के संदर्भ में असमानता के मुद्दे को उठाने में नेतृत्व की भूमिका अदा की थी। लेकिन वियतनाम युद्ध और साठ के दशक में बढ़ते विरोधाभासों और गैर-बराबरी के कारण अमरीका में सशक्त विद्यार्थी आंदोलन के कारण अमरीकी समाज में खलबली की स्थिति उभरी थी। यही वह समय था जब शिक्षा में नव-वामपंथी समाजशास्त्रीय सिद्धांत उभर रहे थे और जिनसे द्वंद्व के सिद्धांत के विकास में और बल मिला।

'तकनीकी क्रियात्मकता' के सिद्धांतों का जो रूप 1950 के दशक में शिक्षा के शोध

पर हावी था वह खास तौर से उन नव-वामपंथी समाजशास्त्रियों को आकर्षित करने में नाकाम रहा जिन्हें अपनी पदानुक्रमविरुद्ध (ऐंटी-हाइरारकिकल) प्रेरणा के कारण शैक्षिक और सामाजिक स्तरीकरण की आवश्यकता बताने वाले 'तकनीकी' स्पष्टीकरणों पर शक था। और 'क्रियात्मकता के सिद्धांत में द्वंद्व की अनुपस्थिति न तो नव-वामपंथियों की व्यक्तिगत जिंदगियों और न ही उनके आसपास के समाज में घटने वाली घटनाओं से मेल खाती थी। इसलिए पद्धति अनुभवजन्यवाद, कार्यपद्धति, जो कल्याणकारी राजसत्ता की नीति निर्धारण प्रक्रिया से निकटता से संबंधित मानी गई, वे उसे भी स्वीकार कर सकें' (कराबल और हेल्सी, 1974 : 30)। जो लोग समाजशास्त्र पढ़ाने गए उन्होंने निष्पक्षता और दूर रहने की परंपरागत सलाह को ठुकराकर सक्रिय रूप से पक्षधर होने की पैरवी की। सत्तर के दशक के तत्कालीन मार्क्सवादी रहे बाउल्स और गिनटिस ने शिक्षा के द्वंद्व के सिद्धांतों को आगे बढ़ाया। उन्होंने अपने काम के आधार पर यह दिखाया कि श्रम का विभाजन अपने आप भी पूंजीवादी वर्ग के वर्चस्व को प्रतिबिंबित करता है; उसे सशक्त करने और पुनरुत्पादित करने में शिक्षा एक महत्वपूर्ण अवयव है। हालांकि इन्होंने यह भी दिखाया, 'पूंजीवादी वर्ग का प्रभुत्व हालांकि बिना चुनौती के नहीं रहा और असमान व्यवस्था, जो पूंजीवादी स्वार्थों के पक्ष में है, उसे पुनरुत्पादित करने में शिक्षा व्यवस्था की केंद्रीय भूमिका ने शाला को वर्ग टकराव का अखाड़ा बना दिया' (कराबल और हेल्सी, 1974 : 33)।

द्वंद्व के सिद्धांत ने स्कूली व्यवस्था के उदारवादी सिद्धांत के दृष्टिकोण की बहस के लिए एक गंभीर चुनौती खड़ी कर दी थी। इसके फलस्वरूप स्कूलों की राजनीतिक मासूमियत और निष्पक्षता, जिससे शिक्षा को आमूल परिवर्तनवादी (रेडिकल) सिद्धांत उभरने से पहले जोड़ा जाता था, खत्म हो गई।

'परिणामस्वरूप स्कूल को तीन प्रकार से पुनरुत्पादन करने वाली संस्था के रूप में दिखाया गया। पहला, स्कूलों ने विभिन्न वर्गों और सामाजिक समूहों को वह ज्ञान और कौशल उपलब्ध कराए जिनकी उन्हें एक मजदूर दल में जो वर्ग, नस्ल और लिंग में बंटा हुआ है क्रमशः अपने-अपने स्थान बनाए रखने के लिए जरूरत थी। दूसरा, स्कूल सांस्कृतिक दृष्टि से भी पुनरुत्पादन माने गए जो प्रबल संस्कृति और स्वार्थों को बनाने वाले ज्ञान, मूल्यों, भाषा और शैलियों का वितरण करने और वैधता दिलाने का काम करते थे। तीसरा, स्कूलों को राजसत्ता के एक उपकरण के रूप में देखा गया जिनका काम वे आर्थिक और वैचारिक परिस्थितियां पैदा करना तथा उन्हें वैधता दिलवाना है जो शासन की राजनीतिक सत्ता का आधार है' (आरोनीविट्ज और जीरो, 1986 : 70)

क्रियात्मक और द्वंद्व शैक्षिक सिद्धांतों के बीच विचलन के बुनियादी बिंदु निम्नानुसार हैं :

- क्रियात्मकतावादी यह मानकर चलते हैं कि ऊंची कमाई का कारण बेहतर

तकनीकी ज्ञान होता है जबकि द्वंद्व सिद्धांतवादी यह नतीजा निकालते हैं कि संज्ञानात्मक अंतर (सीखने की क्षमताओं के अंतर) जैसे कारण समाज में कुछ लोगों के बेहतर स्थान और स्थिति का मात्र आंशिक स्पष्टीकरण ही देते हैं।

- क्रियात्मकतावादी समाजीकरण की प्रक्रिया को ऐसे सामान्य मूल्यों के रूप में देखते हैं जो समाज को एक साथ बांधकर रखते हैं, जबकि द्वंद्व सिद्धांत उन निहित स्वार्थों की पड़ताल करते हैं जो इन मूल्यों में अंतर्निहित हैं।
- अंत में, क्रियात्मकतावादी आमतौर पर शिक्षा व्यवस्था को व्यक्तियों के लिए समाज में आगे बढ़ने के मौके के रूप में देखते हैं जबकि द्वंद्व सिद्धांतवादियों ने प्राय: शिक्षा की ढांचागत सामाजिक गैर-बराबरी बनाए रखने की भूमिका पर जोर दिया है।

द्वंद्व सिद्धांत की आलोचना यह है कि शिक्षा की सामाजिक गैर-बराबरी बनाए रखने की भूमिका दिखाने के प्रयास में द्वंद्व सिद्धांतवादी एक ऐसा सैद्धांतिक ढांचा प्रस्तावित करते हैं, जो स्कूलों और अन्य सामाजिक संस्थानों का एक-दूसरे में 'बिलकुल फिट' हो जाने की परिस्थिति दिखाता है। ऐसे में शिक्षा व्यवस्था संघर्ष और राजनीति का अखाड़ा नहीं बनती जिससे परिवर्तन की शुरुआत होती है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रभुत्ववादी और गैर-बराबरी चलाते रहने की प्रक्रिया इतनी निर्विघ्नता से चलती मालूम होती है कि आश्चर्य होता है कि शैक्षिक परिवर्तन आखिर हो कैसे पाते हैं? पुनरुत्पादन का चक्र आखिर टूटता कैसे है?

एक ठोस मार्क्सवादी धारणा कि एक दिया हुआ शैक्षिक ढांचा विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच राजनीतिक तथा वैचारिक संघर्ष का परिणाम होता है, शैक्षणिक परिवर्तनों के लिए कुछ गुंजाइश बनाती है पर फिर सवाल उठता है कि कैसे और किन परिस्थितियों में एक शिक्षा व्यवस्था जो अन्यथा तटस्थ, निष्पक्ष और अराजनीतिक मानी जाती है, वह द्वंद्व और चुनौतियों के अखाड़े में तबदील हो जाती है?

नव-मार्क्सवादी पुनरुत्पादन और अनुरूपता के साथ विरोधाभास की अवधारणा को जोड़कर एक स्पष्टीकरण उपलब्ध कराते हैं। वे तर्क करते हैं कि अनुरूपता तथा विरोधाभास विश्लेषण करने के साधन और विचारधारात्मक अवधारणाएं दोनों हैं। उदाहरण के लिए जैसे, अनुरूपता की अवधारणा न केवल यह समझने के लिए विश्लेषण का एक साधन है कि कैसे अर्थव्यवस्था और शिक्षाव्यवस्था के बीच का रिश्ता सामाजिक ढांचे का पुनरुत्पादन और उसे जारी रखने का काम करता है बल्कि यह एक वैचारिक अवधारणा भी है जिसका उपयोग पूंजीवादी स्कूलों पर धावा बोलने के लिए यह दिखाकर किया जा सकता है कि ये स्कूल उस अर्थव्यवस्था का हिस्सा हैं जो गंभीर असमानताएं बनाए रखने का काम करती हैं। इसी तरह, विरोधाभास की अवधारणा स्कूलों और अर्थव्यवस्था के बीच की दरारों को दिखाकर परिवर्तन की प्रक्रिया पर प्रकाश डाल सकती है। इसका

इस्तेमाल परिवर्तनवादियों को यह भरोसा दिलाने के लिए किया जा सकता है कि वह कुशल प्रक्रिया अपरिवर्तनीय नहीं है जिससे शिक्षा व्यवस्था सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक रिश्तों का पुनरुत्पादन करती है (कराबल और हेल्सी, 1977 : 41)।

शिक्षा की राजनीति के सिद्धांत के और आगे विकास के लिए यह जरूरी हो गया था कि बहस स्कूली व्यवस्था को नियंत्रित करने के तरीकों और शैक्षिक ढांचों से आगे बढ़कर शैक्षिक संस्थाओं की रोजमर्रा के जीवन, जो वृहत ढांचागत परिवर्तनों से ही निर्धारित होता है, पर ध्यान दिया जाए। उसकी जांच की जाए। वेबर ने कहा था कि प्रबल समूह की सत्ता का आधार उनकी अपनी संस्कृति और शैक्षिक आदर्श स्कूलों पर थोप पाने की क्षमता में है। ये आदर्श, क्या पढ़ाया जा रहा है और कैसे पढ़ाया जा रहा है, इन दोनों बातों में दिखते हैं क्योंकि शिक्षा का उद्देश्य दिमाग और व्यक्तित्व दोनों को आकार देना है। इसलिए, किसे ज्ञान कहा जाए और यह ज्ञान किस प्रकार लोगों तक पहुंचता है, ये दोनों ही गहरे राजनीतिक प्रश्न हैं। प्रत्यक्ष टकराव की अनुपस्थिति में भी इनका महत्व घटता नहीं है। इसलिए, शैक्षिक परिवर्तन के सिद्धांतों के पर्याप्त विकास के लिए यह जरूरी है कि स्कूलों के ढांचों और उनके अंदर घटने वाली प्रक्रियाओं यानी विषयवस्तु आदि की पड़ताल की जाए जिसे 'काले बक्से' के भीतर झांकने के रूप में अभिव्यक्त किया गया था।

शिक्षा का नव-समाजशास्त्र : वृहत समाजशास्त्रीय शैक्षिक सिद्धांतकारों, मार्क्सवादियों ने भी मौजूदा सामाजिक ढांचे को मिला हुआ माना और इन सभी ने ऐसे समाज में जड़ी हुई शिक्षा व्यवस्था का विश्लेषण किया। शिक्षा व्यवस्था वर्चस्व तथा अधीनता के ढांचों का पुनरुत्पादन करने, वैधता बनाने और उनको मजबूत करने में महत्वपूर्ण योगदान देती है। इस विश्लेषण के बावजूद यह साफ दिखता है कि इतनी महत्वपूर्ण भूमिका के बाद भी शिक्षा गरीबों तक नहीं पहुंच पाती। इन्हें शिक्षित करने की समस्या जहां की तहां ही बनी हुई है। शैक्षणिक उपलब्धियों और सामाजिक वर्गों के बीच सीधे संबंध के लिए वंशानुगत और सांस्कृतिक अभावों जैसी व्याख्याओं को अस्वीकार करके हालांकि द्वंद्व सिद्धांतकारों ने स्कूलों को समस्या की जड़ के रूप में पहचाना। फिर भी वे यह नहीं बता पाए कि स्कूलों में ऐसा क्या विशेष है जो अभावग्रस्त लोगों तक शिक्षा न पहुंच पाने के लिए जिम्मेदार है। इन व्याख्याओं से सिद्धांतकारों ने अपना ध्यान विषयवस्तु, पद्धति तथा स्कूलों की आंतरिक कार्य पद्धति को छोड़कर मात्र ढांचागत पहलुओं पर केंद्रित किया। ये शैक्षिक सिद्धांत विभिन्न वर्गों के विद्यार्थियों की अलग-अलग उपलब्धियों के कारणों का स्पष्टीकरण नहीं दे पाए।

साठ के दशक के दौरान घटने वाली राजनीतिक घटनाओं, पश्चिम में शैक्षिक सुधारों के लिए बढ़ते संघर्षों, दबावों और मांगों समेत तथा बुद्धिमत्ता से जुड़े नस्लवादी वंशानुगत सिद्धांतों के उभरने के कारण उपलब्धियों के अलग-अलग स्तरों का स्पष्टीकरण ढूंढ़ना

अत्यावश्क हो गया था। इस सबने समाजशास्त्रियों को विश्लेषण के नए आयाम ढूंढ़ने के लिए बाध्य किया यानी ज्ञान बनने के सामाजिक पहलुओं और इस ज्ञान को शिक्षा व्यवस्था के माध्यम से लोगों तक पहुंचाने की प्रक्रिया में ज्यादा गहराई से पैठना।

उस समय इंगलैंड में बर्न्सटाइन और फ्रांस में बोर्दुआ के प्रयासों पर प्रमुख भरोसा था। इस प्रयास में वे शिक्षित करने की समस्या को सामाजिक रूप से नियंत्रित सांस्कृतिक संचार से जोड़कर देखने की कोशिश कर रहे थे। लंदन इंस्टीट्यूट आफ एजूकेशन में 1963 में बर्न्सटाइन का आना शिक्षा सिद्धांत की दिशा बदलने वाली एक महत्वपूर्ण घटना थी। उन्होंने एक नए तरीके के उभरने की प्रक्रिया को तेज करने में प्रमुख भूमिका निभाई। इस तरीके का सीधा फोकस शिक्षा की विषयवस्तु और स्कूल के भीतर घटने वाली क्रियाओं पर था। यही बाद में शिक्षा के 'नए' समाजशास्त्र के रूप में जानी जाने लगी (कराबल और हेल्सी, 1974)।

हालांकि साठ के दशक की शुरुआत तक भी शिक्षा का 'नव'-समाजशास्त्र मूलत: यूरोप और इंगलैंड की ही घटना रही। अमरीका में इसका अस्तित्व ही नहीं था। इस दशक के दौरान अमरीका काफी उथल-पुथल के दौर से गुजर रहा था। विद्यार्थी आंदोलन, वियतनाम युद्ध, नस्ली दंगों आदि के कारण अमरीका में विरोध का एक ज्यादा प्रखर राजनीतिक स्वरूप उभरा। इसका असर शिक्षा समाजशास्त्र पर भी पड़ा। इंगलैंड में सशक्त मजदूर आंदोलनों के कारण उथल-पुथल के दौर से पहले यानी तीस, चालीस और पचास के दशक से गुजरा था जब शिक्षा में समानता और समान मौकों की बहस छिड़ी थी। इस पर पहले ही चर्चा की जा चुकी है। हालांकि साठ तथा सत्तर के दशक में भी सामाजिक दबाव बढ़ने, वर्ग टकराव और औद्योगिक संघर्ष परंपरागत रूप से तीखे होने के बावजूद ब्रिटेन में राजनीतिक संकट उतना गहन नहीं हुआ जितना अमरीका में था। इस तरह की राजनीतिक खलबली का शिक्षा समाजशास्त्रीय सिद्धांतों पर न के बराबर असर पड़ा और शिक्षा से संबंधित कुछ ही मुद्दे इस दौरान इंगलैंड में उठे। इसलिए संक्षेप में इंगलैंड का शिक्षा के 'नए समाजशास्त्र' में रुचि और अमरीका की शिक्षा के वृहत समाजशास्त्र में निरंतर रुचि के फिलहाल कारण यह हैं कि इंगलैंड का राजनीतिक और सांस्कृतिक माहौल अमरीका के माहौल की तुलना में वृहत समाजशास्त्रीय सामाजिक द्वंद्व के पहलुओं के अध्ययन के लिए कम सहायक था।

साठ और सत्तर के दशक के शिक्षा सिद्धांतों की आलोचनाओं ने जिनके तहत स्कूलों को 'काले बक्सों' के रूप में देखा गया था, अस्सी के दशक में जोर दिया कि 'काले बक्से' के परिप्रेक्ष्य ने शैक्षिक शोधकर्ताओं को व्यापक ढांचागत विश्लेषण की तुलना में (जो मुख्यत: स्कूल में उपलब्धियों और सामाजिक वितरण से संबंधित इनपुट-आउटपुट अध्ययनों से सरोकार रखता है) विद्यार्थियों और शिक्षकों के ठोस अनुभवों को नजरअंदाज करने का मौका दिया (जीरो, 1983 : 45)। स्कूलों की विषयवस्तु और आंतरिक क्रियाकलापों की आलोचना के परिणामस्वरूप स्कूलों को समाजीकरण की एजेंसियों और

दोहरे पाठ्यक्रम के सामाजिक स्थल—एक प्रत्यक्ष और औपचारिक और दूसरा छिपा हुआ तथा अनौपचारिक—के रूप में देखा जाने लगा।

हालांकि इस छिपे हुए पाठ्यक्रम की अवधारणा से संबंधित समस्त साहित्य में से छूटा हुआ एक महत्वपूर्ण सैद्धांतिक पहलू यह भी है कि स्कूल प्रभुत्व और चुनौती, दोनों के स्थल हैं। अधिकतर विवरणों में विरोधाभासों और सामाजिक गुंजाइशों की थोड़ी सी भी समझ नहीं दिखती और जिससे विरोध की प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलने की संभावना होती है तथा इस प्रकार समाजीकरण की प्रक्रिया एक एक-आयामी प्रक्रिया के रूप में उभरती है।

प्रतिरोध के सिद्धांत

इस सिद्धांत की चर्चा करने से पहले ही यह समझ लेना जरूरी है कि शिक्षा समाजशास्त्र के क्षेत्र में यह विकास भी पश्चिम में बढ़ते हुए पूंजीवाद के संदर्भ में हुआ। इसीलिए बहसों का केंद्रबिंदु औपचारिक शिक्षा यानी स्कूली व्यवस्था तक सीमित रहा। विकसित देशों की परिभाषा के अनुसार विकासशील और अविकसित देशों, खास तौर से भारत की शिक्षा व्यवस्था का विश्लेषण करने के दौरान साफ तौर पर यह समझ में आता है, यहां की शिक्षा की परिस्थिति में कुछ समानताएं और ढेरों विभिन्नताएं हैं।

जैसा कि पहले भी चर्चा हो चुकी है भारत में प्राथमिक स्तर की शिक्षा भी अधिकतर बच्चों की पहुंच के बाहर है। अधिकतर बच्चे मुख्यत: आर्थिक और निरर्थक विषयवस्तु जैसे कारणों से स्कूली व्यवस्था के बाहर रह जाते हैं। लड़कियां आम तौर पर आर्थिक और सामाजिक दोनों कारणों से औपचारिक शिक्षा व्यवस्था के बाहर रह जाती हैं। 1991 की जनगणना के अनुसार भारत की साक्षरता दर 52.1 प्रतिशत है जिसमें पुरुष साक्षरता दर 64 प्रतिशत तथा महिला साक्षरता दर मात्र 39 प्रतिशत है (ड्रेज और सेन, 1995 : 2)। राज्य स्तरीय असमानताओं के बावजूद राष्ट्र स्तरीय साक्षरता के आंकड़े इस बात की ओर संकेत करते हैं कि एक पीढ़ी पहले भी शिक्षा किस हद तक आम लोगों की पहुंच के बाहर थी। भारत में शिक्षा की औपचारिक व्यवस्था के बाहर रह गए इन लोगों को शिक्षा के दायरों में लाने का काम सरकारी अनौपचारिक, प्रौढ़ और साक्षरता शिक्षा कार्यक्रमों पर पड़ा। पश्चिम की परिस्थिति से यह बुनियादी फर्क होने के बावजूद गैर-बराबरी बनाए रखने और सुदृढ़ करने में शिक्षा की भूमिका में कोई अंतर नहीं है। यह इस तथ्य के बावजूद कि भारत की आर्थिक-सामाजिक परिस्थिति विकसित देशों से एकदम अलग है। यदि परिणामों में कोई फर्क है भी तो वह असमानता को और भी ज्यादा गंभीर स्तर तक पहुंचाने में है। परिस्थिति ज्यादा गंभीर है जिसके कारण न केवल वर्गाधारित हैं, बल्कि जाति तथा लिंग भेद भी हैं। यहां पश्चिमी परिस्थिति से फर्क स्कूलों के अलावा द्वंद्व और चुनौती के

स्थल अनौपचारिक तथा प्रौढ़ शिक्षा केंद्र भी हैं।

एक पूंजीवादी व्यवस्था में शिक्षा व्यवस्था पूंजीवादी रिश्तों को मजबूत करती है और श्रम के विभाजन को पुनरुत्पादित करती है। लेकिन जब हम भारत की स्थिति का विश्लेषण करते हैं तो जटिलता की कई तहें खुलती हैं क्योंकि यहां विकास की प्रक्रिया से भी असमानताएं पैदा हुई हैं तथा जमीन के असमान वितरण ने भी, खास तौर से उत्तरी राज्यों में, गहरी विषमताओं को जन्म दिया है। भारत जैसे अर्धसामंती और अर्धपूंजीवादी व्यवस्था वाले समाज में गंभीर गरीबी और असहायता की परिस्थितियों में कभी-कभी सरकारी कार्यक्रमों के माध्यम से ही सांस लेने की गुंजाइश पैदा हो जाती है चाहे यह गुंजाइश बहुत छोटे से वक्त के लिए ही क्यों न हो। अमरीका के संदर्भ में, मसीडे का यह मत रहा है कि अमरीकी समाज के एक बड़े समूह को शिक्षा देने की शासकों की मंशा ही नहीं रही है, ताकि यह तबका प्रमुख राजनीतिक और आर्थिक प्रक्रियाओं से बाहर ही रहे (मसीडे, 1993)। यह भारतीयों के लिए भी सही हो सकता है। हालांकि, भारत की परिस्थिति में प्रौढ़ शिक्षा और अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम भी विरोध के स्थल बने।

शिक्षा में शोध या तो न के बराबर है या पश्चिम और तीसरी दुनिया की तरह मुख्यतः प्रत्यक्षवादी परिप्रेक्ष्य में अनुभवजन्य है, व्यवहारवादी यानी सिद्धांतवादी नहीं (बोर्दिया, 1996)। इसलिए विश्वविद्यालयों के शिक्षा विभाग मुख्यतः आंकड़े इकट्ठे करने और संकीर्ण क्रियात्मक ढांचे में उनकी व्याख्या करने में जुटे रहते हैं। इस मुख्य धारा के फोकस के बावजूद मार्क्सवादी और नव-मार्क्सवादी प्रवृत्तियां रही हैं जो उन्हीं आंकड़ों की व्याख्या अलग रूपरेखा (फ्रेमवर्क) में करते हैं। इससे शिक्षा के उद्देश्यों, परिणामों और भूमिका की बिलकुल अलग छवि उभरती है। हालांकि अस्सी के दशक के बाद इन रेडिकल सिद्धांतों से भी शिक्षा समाजशास्त्रियों के बीच, नव-शिक्षा समाजशास्त्र और छिपे हुए पाठ्यक्रम के सिद्धांत की बात करने वाले शिक्षा समाजशास्त्रियों समेत, एक तरह की बेचैनी और व्याकुलता पैदा होने लगी। पालसन्स के अनुसार 'आरोनोविट्ज ने एक ऐसा तर्क पेश किया जिसका प्रतिरोध नहीं किया जा सकता। हालांकि आलोचनात्मक सिद्धांतों के विभिन्न रूपों ने प्रत्यक्षवादी और क्रियात्मक सिद्धांतों के महत्वपूर्ण विकल्प प्रस्तुत किए थे, पर आज ये भी संकट में है और नए सिरे से सोचने की आवश्यकता है। इनका दृष्टिकोण एक-आयामी, नकारात्मक, संभ्रांत या अभिजात्यवादी तथा रोजमर्रा की दुनिया से दूर होता चला गया है' (पालसन्स, 1994 : 568)।

इस तरह की बेचैनी और व्याकुलता के बीज शायद हमेशा से ही उपस्थित थे। शायद उद्योगीकरण और इसके साथ ही ब्रिटेन में मजदूर आंदोलन के उदय से ही, पाओलो फ्रेरे के ब्राजील तथा गिनी बिसाउ के काम के दौरान से तथा क्रांति के बाद लातिनी अमरीकी देशों, खास तौर से क्यूबा और निकारागुआ में हुए साक्षरता के अभियानों के समय भी। इस तरह के सभी अनुभवों ने स्थिर रेडिकल (परिवर्तनवादी) सिद्धांतों को चुनौती दी जो मात्र इस रहस्य को खोलते हैं कि शिक्षा मासूम, अविवादास्पद और ज्ञान बांटने और कौशलों

का विकास करने वाला 'भला-सा' क्षेत्र नहीं है। सिद्धांत के स्तर पर यह परिवर्तनवादी ढांचा किसी एक शिक्षा व्यवस्था के सक्रिय प्रतिरोध या विरोध या उसे पूरी तरह से असफल करके नए रूप (फार्म) तथा विषयवस्तु के लिए दबाव बनाने की सक्रिय जन प्रतिक्रिया को पहचानने में पूरी तरह से विफल रहा। विकल्पों का निर्माण करना भी एक वैचारिक प्रश्न है। शायद मौजूदा शिक्षा व्यवस्था के विश्लेषण से कहीं ज्यादा जटिल। जो बात यहां कहने का प्रयास है, वह यह कि शिक्षा व्यवस्था के विरोध के तहत ही विकल्प की छवियां सामने आती हैं पर यह तभी संभव है जब विरोध को पहचानने की राजनीतिक इच्छा और प्रतिबद्धता हो। मौजूदा शिक्षा सिद्धांतों के अंतर्गत गरीब लोगों द्वारा शिक्षा प्रक्रिया के सक्रिय विरोध को पहचानने, स्वीकारने और सराहने की विफलता को समझने के लिए मौजूदा वृहत और नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांतों को साथ लेते हुए, उनसे आगे बढ़ने की आवश्यकता है।

प्रतिरोध द्वंद्व सिद्धांत के बाद एक नई सैद्धांतिक अवधारणा है जो अस्सी के दशक में उभरी। क्रियात्मक और मानव पूंजी के सिद्धांत वस्तुनिष्ठता, निष्पक्षता और तार्किकता जैसे व्यवहारवादी परिप्रेक्ष्य में उभरे थे। संक्षेप में, ये सिद्धांत कौशल प्रशिक्षण और ज्ञान बांटने जैसे कामों को शिक्षा की प्राथमिक भूमिका मानते हैं। ये समाज के सोपानात्मक पदानुक्रम ढांचों को (स्कूल के बाहर और अंदर दोनों जगह), स्वाभाविक, वैध, प्रदत्त तथा अपरिहार्य मानते हैं। छिपे हुए पाठ्यक्रम से संबंधित परंपरागत सिद्धांत, जहां फोकस शिक्षा के गैर-अकादमिक और गैर-संज्ञानात्मक पहलुओं पर है, इस बात पर बल देते हैं कि स्कूल व्यवस्था व्यापक समाज में स्थायित्व और बांधकर रखने का काम करती है।

उदारवादी सिद्धांत के तहत शिक्षा को मूल्यों से मुक्त और स्कूलों को सांस्कृतिक उत्कृष्टता और समीक्षात्मक चिंतन के विकास के लिए निष्पक्ष स्थल माना है। हालांकि, इस सिद्धांत में शिक्षा में समान मौकों को लेकर चिंता है परंतु फिर भी ये सिद्धांत वर्गाधारित ढांचों, लिंगाधारित भेदभावों, वर्चस्व, द्वंद्व, विरोधाभास और संघर्ष जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों पर चुप हैं। परिवर्तनवादी द्वंद्व सिद्धांतों में मतैक्य जैसे परंपरागत फोकस बदलकर सामाजिक और सांस्कृतिक पुनरुत्पादन, द्वंद्व और वृहत ढांचागत स्तर पर चुनौती या विवाद हो गया है। और स्कूल के स्तर पर, स्कूल स्थल और स्कूली पाठ्यक्रम को निष्पक्ष नहीं माना जाता और ज्ञान के वितरण तथा ज्ञान को रचने की सामाजिक प्रक्रिया पर फोकस है।

हालांकि शिक्षा के 'नए समाजशास्त्र' ने छिपे हुए पाठ्यक्रम की भूमिका, स्कूलों में वर्चस्व जमाने के रोजमर्रा के तरीके और उनके सामाजिक तथा शैक्षिक परिणाम पर जोर देकर एक महत्वपूर्ण योगदान किया। फिर भी यह शिक्षकों और विद्यार्थियों द्वारा किए जा सकने वाले प्रतिरोध की संभावना की चर्चा नहीं करता। ये सिद्धांत भी अंततः ऐसे परिप्रेक्ष्य सामने रखते हैं जो एक आयामी और अद्वंद्वात्मक हैं। जैसा कि जीरो ने कहा है, 'स्कूली शिक्षा और छिपे हुए पाठ्यक्रम पर उपलब्ध साहित्य की एक जबरदस्त कमजोरी यह है कि शिक्षा को एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में समझने के लिए यह द्वंद्वात्मक अवधारणा

का ढांचा विकसित नहीं कर पाया' (जीरो, 1983 : 61)।

इसी तरह, हालांकि वृहत समाजशास्त्रीय परिवर्तनवादी (मार्क्सवादी) परिप्रेक्ष्य स्कूली शिक्षा की राजनीतिक भूमिका को वर्ग टकराव, वर्चस्व और स्कूलों की समाजीकरण की भूमिका आदि जैसी अवधारणाओं के संदर्भ में समझाने में मददगार हुए हैं लेकिन यह स्पष्टीकरण भी अंत में आगे नहीं बढ़ता। 'मार्क्सवादी शैक्षिक सिद्धांत और समीक्षा में भी, कहीं भी वर्चस्व विरोध जैसी एक श्रेणी पर चर्चा नहीं मिलती जो विद्यार्थी, पालकों तथा शिक्षकों के लिए स्कूलों के भीतर राजनीतिक संघर्ष करने में सहायक हों' (आरोनोविट्ज और जीरो, 1986 : 6)।

जीरो के अनुसार यह मात्र इसलिए नहीं है क्योंकि ऐसे विरोधाभासों और सामाजिक गुंजाइशों की समझ कम है जो विरोधी प्रवृत्तियों और व्यवहारों को बढ़ावा देती हैं, बल्कि इसलिए भी है कि क्योंकि समाजीकरण की प्रक्रिया की समझ भी एक-आयामी है। इसी तरह, सामाजिक और सांस्कृतिक पुनरुत्पादन के सिद्धांतों में भी लोगों की विरोध और अस्वीकार करने की क्षमता की समझ पूरी तरह से अनुपस्थित है। यह स्कूली व्यवस्था के माध्यम से सामाजिक विभाजन और प्रबल संस्कृति के पुनरुत्पादन की निरंतर प्रक्रिया का एक अत्यंत मनहूस चित्र पेश करते हैं। जीरो ने कहा है, 'वर्तमान के पुनरुत्पादन के सिद्धांतों में कुछ गंभीर कमियां हैं। इसमें सबसे महत्वपूर्ण कमी यह है कि यह समीक्षा के एक ऐसे रूप को नहीं मानते जो वर्चस्व विरोध के संघर्षों के सैद्धांतिक और व्यावहारिक महत्व को दरशाते हैं' (जीरो, 1983 : 77)। इस सैद्धांतिक रचना से वह अपनी पीड़ा और खिन्नता इन शब्दों में व्यक्त करते हैं, '...पुनरुत्पादन के सिद्धांत प्रभुत्व के ऐसे मॉडल सामने रखते हैं जो इतने अडिग दिखते हैं कि प्रतिरोध और सामाजिक परिवर्तन की बातें पागलपने में कही गई क्षीण आवाजें लगती हैं' (जीरो, 1983 : 7)।

इस तरह का विश्लेषण एक 'पूर्ण फिट' या वायुरोधी जैसे परिप्रेक्ष्य पर आधारित है। इसका मतलब है कि एक शिक्षा व्यवस्था आसानी से और बिना रुके (अंतहीन तरीके से) असमानता, आज्ञापर्यायणता (विनेयता), दमन, समाजीकरण और प्रबल सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों का पुनरुत्पादन निरंतर जारी रख सकती है। इस तरह के अवसाद मनहूसियत और विनाश के नाटकीय चित्र में एक गहरा निराशावाद झलकता है जो व्यवस्था के भीतरी तनावों तथा जनता और प्रभुत्व के ढाचों के बीच के द्वंद्वात्मक रिश्ते को या तो कम आंकता है या देख ही नहीं पाता। ये जनता की ऐतिहासिक चेतना और आलोचनात्मक चिंतन क्षमता को पूरी तरह से नकारता है, जैसे सामाजीकरण पूर्ण है और सृजनात्मक और रचनात्मक हस्तक्षेप या जन प्रतिरोध की गुंजाइश ही नहीं है।

अंत में, 'ये परिप्रेक्ष्य अत्यंत निराशावादी हैं। प्रभुत्व की वायुरोधी धारणा और उतनी ही सरलीकृत समाजीकरण की धारणा पेश करके आमूल परिवर्तनवादी विवरण भी सामाजिक परिवर्तन या स्कूलों के भीतर ही विरोधी शिक्षण की संभावना की बहुत कम उम्मीद देखते हैं' (जीरो, 1983 : 59)।

हालांकि अस्सी के दशक में उभरे शिक्षा के नव-मार्क्सवादी सिद्धांत भी 'वायुरोधी' मॉडल की धारणा को चुनौती देते हैं और शिक्षा की तकलीफदेह, थका देने वाली और शक्तिहीन करने वाली बहस को संभावनाओं तथा उम्मीदों के नए धरातल पर ले जाने की कोशिश करते हैं। ये 'स्कूलों जैसे सामाजिक स्थलों पर मौजूद दरारों और तनावों के महत्व को बल देते हैं' (जीरो, 1983 : 10)। ये सिद्धांत दिखाते हैं कि सामाजिक और सांस्कृतिक पुनरुत्पादन के साधन कभी पूर्ण नहीं होते। इन्हें हमेशा प्रतिरोधी तत्वों का सामना करना पड़ता है। ये यह भी दरशाते हैं कि अपनी मुक्ति और स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे जन प्रतिरोध की क्षणिक छवियां भी जनता द्वारा कर्म के संकेत हैं। इनको सैद्धांतिक मॉडलों की सीमाओं के कारण (जो प्रगतिशील शिक्षाविदों के दिमाग भी बंद कर देते हैं) पहचाना या स्वीकारा नहीं गया या महत्व नहीं दिया गया।

प्रतिरोध एक मूल्यवान सैद्धांतिक और वैचारिक संरचना (बनावट) है जो स्कूलों, शिक्षा व्यवस्था तथा व्यापक समाज के विश्लेषण के लिए महत्वपूर्ण फोकस प्रदान करता है। इससे ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि यह वे जटिल तरीकों को समझने के लिए, जिनके कारण अभावग्रस्त समूह शैक्षणिक असफलताओं का सामना करते हैं, एक नई सैद्धांतिक समझ भी देता है। इसके अतिरिक्त शिक्षण पद्धति को बदलने के लिए नए तरीकों से सोचने की तरफ ध्यानाकर्षित करता है। इसके अलावा, 'प्रतिरोध की यह अवधारणा शिक्षा के प्रति विरोधी व्यवहारों और आवाजों के अर्थ और कारणों को ये तर्क देकर पुन: परिभाषित करती है कि इसका भटकाव, व्यक्तिगत विकृति, असहायता का अहसास (और हां, वंशानुगत स्पष्टीकरण) जैसे कारणों से कुछ लेना-देना नहीं है, बल्कि इसका लेना-देना, हालांकि पूरी तरह से नहीं, नैतिक और राजनीतिक अपमान से है' (जीरो, 1983 : 107)।

प्रतिरोध का यह सिद्धांत कुछ प्रमुख मान्यताओं पर आधारित है। पहली मान्यता मानव हस्तक्षेप की द्वंद्वात्मक धारणा प्रस्तुत करती है जो कभी भी प्रभुत्व को न तो स्थायी और न ही संपूर्ण प्रक्रिया के रूप में दिखाती है। उत्पीड़ितों को प्रभुत्व निष्क्रियता से स्वीकार करने वालों के रूप में नहीं देखा जाता है। यह अवधारणा उन जटिल तरीकों को समझने की जरूरत पर बल देती है जिन्हें लोग अपने जीवंत अनुभवों, प्रभुत्व और बाध्य करने वाले ढांचों के अंतरापृष्ठ (इंटरफेज) पर हस्तक्षेप करने तथा प्रत्युत्तर देने के लिए अपनाते हैं। दूसरा, यहां इस बात को रेखांकित किया गया है कि सत्ता कभी भी एक-आयामी नहीं होती। इसका इस्तेमाल न केवल प्रभुत्व जमाने के लिए होता है बल्कि प्रतिरोध दरशाने या प्रभुत्व बल से अलग सांस्कृतिक और सामाजिक उत्पादन की सृजनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में भी होता है।

यह ज्यादा स्पष्ट होता जा रहा है कि सामाजिक आंदोलन शिक्षा से अलग-थलग नहीं रह सकते। यह भी कि शैक्षिक समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्यों को भी सामाजिक आंदोलनों पर ध्यान देना पड़ेगा। शिक्षा की मांग को न केवल अल्पसंख्यकों, महिलाओं, बालिकाओं तथा पितृसत्ता के संदर्भ में देखना होगा बल्कि मजदूरों के अधिकारों, जनतांत्रिक अधिकारों

और मानव अधिकारों के संदर्भ में भी देखना होगा (सक्सेना, 1995)।

'दुनिया भर में सामाजिक आंदोलन सत्ता के मौजूदा ढांचों को चुनौती दे रहे हैं इसलिए आंशिक सफलता की पड़ताल करना भी महत्वपूर्ण है। यह इसलिए भी जरूरी है, क्योंकि हो सकता है कि शायद ये आंदोलन विषम सामाजिक समस्याओं को सुलझाने की एकमात्र उम्मीद हों। तकनीकी तार्किकता में बहुत कम मदद मिलती है। अगर इससे मदद मिलती होती तब हमें यह उम्मीद करनी चाहिए कि, उदाहरणार्थ, सभी स्कूली बच्चों को एक पाठ्य पुस्तक मिलेगी या प्राथमिक शिक्षा का सर्वव्यापीकरण हो जाएगा। इसके बजाए एक बेहतरीन विकल्प ढूंढ़ने की आड़ में सामाजिक परिवर्तन का विज्ञान आधारित तकनीकी मॉडल विशिष्ट अधिकार बचाए रखने का एक रास्ता बन गया है। ज्ञान की कमी हमारी गंभीरतम सामाजिक समस्याओं की जड़ नहीं है। बुनियादी रूप से हमें मालूम है कि क्या करना है और कैसे करना है।...राजसत्ता पर प्रगतिशील सामाजिक परिवर्तन लाने का दबाव विकसित करने के लिए आवश्यक ताकत पाने का एकमात्र जरिया सामाजिक आंदोलन ही है' (डेवीस और क्लीस, 1995 : 99)।

आर्थिक विकास के लिए शिक्षा सिद्धांत का पुनः उदय

भारतीय परिस्थिति में सामाजिक आंदोलनों से जन शिक्षा का सशक्त होना और जन शिक्षा से सामाजिक आंदोलनों का समृद्ध होना जैसी परंपराएं नगण्य-सी ही हैं। जैसा कि पहले भी कहा गया है, साठ का दशक भारत में भी अत्यंत उथल-पुथल और खलबली का दशक था। इसके परिणामस्वरूप जन शिक्षा पर सरकारी जोर विशेषकर सरकारी क्रियात्मक साक्षरता, अनौपचारिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा तथा युवा कार्यक्रमों के रूप में देखे जा सकते हैं। अस्सी तथा नब्बे के दशक में प्राथमिक शिक्षा पर जोर एक बार फिर बढ़ा है। नब्बे के दशक से आर्थिक उदारीकरण के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक जैसी संस्थाओं ने भी सेफ्टी नेट के तहत प्राथमिक शिक्षा के लिए न्यूनतम ब्याज पर ऋण देना शुरू किया है। इसके अतिरिक्त कई अन्य अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं भी प्राथमिक शिक्षा के लिए बड़े पैमाने पर अनुदान और ऋण दे रही हैं। इन सभी प्रयासों का केंद्र प्राथमिक शिक्षा की गुणवत्ता बढ़ाना है जिसे अंतर्राष्ट्रीय भाषा में क्षमताएं बढ़ाना (केपिसिटी बिल्डिंग) कहा जाता है। भारत में समाज वैज्ञानिक दृष्टिकोण से शिक्षा के क्षेत्र में सैद्धांतिक शोध वैसे ही काफी पिछड़ा हुआ है। 'सबके लिए शिक्षा' और प्राथमिक शिक्षा के सर्वव्यापीकरण पर जोर ने सत्तर और अस्सी के दशक में उभरी सैद्धांतिक समझ एक बार फिर पृष्ठभूमि में चली गई है जिसमें शाला के भीतर के क्रियाकलाप, छिपा हुआ पाठ्यक्रम तथा सामाजिक और आर्थिक पुनरुत्पादन वाली शिक्षा के प्रति जन प्रतिरोध और विकल्प की तलाश के मुद्दे उठे थे। मानव पूंजी के विकास के लिए शिक्षा जैसी सैद्धांतिक परंपराएं फिर हावी

होने लगी हैं।

वैश्वीकरण के साथ ही उच्च शिक्षा के निजीकरण और व्यवसायीकरण के कारण भी शिक्षा में निवेश में बाजार और आर्थिक लाभ का पहलू सबसे महत्वपूर्ण हो गया है। एक तरफ तो निजीकरण के कारण विश्वविद्यालय अनुदान आयोग जैसी संस्थाएं आर्थिक कटौती के दौर से गुजर रही हैं और महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों पर अपनी-अपनी संस्थाओं के लिए निजी स्रोतों से अनुदान जुटाने का दबाव बढ़ गया है जिसके लिए उच्च शिक्षा संस्थानों को उद्योगपतियों के आगे हाथ पसारने पड़ रहे हैं, तो वहीं दूसरी तरफ पेशेवर कोर्सों, डॉक्टरी, अभियांत्रिकी आदि के ढेरों प्राइवेट महाविद्यालय खुल रहे हैं। महाविद्यालय, होटल प्रबंधन, बिजनेस मैनेजमेंट, एम.बी.ए., पर्यटन, कंप्यूटर, सूचना तकनालाजी आदि जैसे डिप्लोमा और डिग्री कोर्स शुरू करने के लिए बाध्य हो रहे हैं। इस संबंध में प्रो. शुक्ला कहते हैं, 'कुल मिलाकर हम जल्दी ही ऐसी स्थिति में पहुंचने वाले हैं जहां शिक्षा पूरी तरह स्वतंत्र उद्यम होगी तथा बाजारी ताकतें उस पर पूरी तरह से हावी होंगी, जैसा फिलीपींस में हुआ' (शुक्ला, 1995 : 95)।

आरोनोविट्ज और जीरो के अनुसार सत्तर से अस्सी के दशक तक रूढ़िवादी (कनजर्वेटिव), उदार और परिवर्तनवादी, सभी ने शिक्षा की आलोचना की और स्कूली शिक्षा को आम लोगों के लिए निरर्थक करार दिया और मांग की कि स्कूली ज्ञान विद्यार्थियों के जीवन के लिए उपयोगी होना चाहिए। लेकिन अनुदार और उदारवादी आलोचनाओं में बुनियादी अंतर था। ये लिखते हैं कि 'शिक्षक' और 'मैनेजर' की अवधारणा समानार्थी हो गई है। आरोनोविट्ज और जीरो के अनुसार, 'व्यावसायिक मूल्य आज शिक्षा में सब तरफ घुस चुके हैं कि बहुत से लोग व्यावसायिक स्कूल पार्टनरशिप की बात बिना झिझक के करते हैं। परिणामस्वरूप, पुराने उदारवादी जिन्होंने व्यापार और शिक्षा की पार्टनरशिप को स्वीकारा नहीं है वे हताश हैं और परिवर्तनवादी आलोचना की भाषा में उलझे हुए हैं क्योंकि उन्हें संभावनाएं नहीं दिख रहीं।' ये आगे बताते हैं, 'रूढ़िवादी सिद्धांतवादियों ने भी इस मांग के साथ सुर में सुर मिलाया है कि स्कूली ज्ञान विद्यार्थियों के जीवन के लिए सार्थक होना चाहिए। परंतु वे शैक्षिक प्राथमिकताओं को कारपोरेट हुकूमत के अधीन चाहते हैं और यह इस आधार पर कि ज्ञान का यही सार्थक सामाजिक और आर्थिक असर है।...' (आरोनोविट्ज और जीरो, 1986 : X)।

हेल्सी अपनी पुस्तक *पावर एंड आइडियोलाजी इन एजूकेशन* (1977) का हवाला देते हुए नए संकलन *एजूकेशन— कल्चर, इकानामी सोसायटी* में शिक्षा के इन सैद्धांतिक परिवर्तनों, जटिलताओं और तनावों के बारे में लिखते हैं, 'हमारी 1970 में लिखी दूसरी किताब के बाद से शिक्षा में जबरदस्त परिवर्तन हुए हैं। विद्यार्थियों में आमूल परिवर्तनवाद पहले ही खत्म हो रहा था—एक ऐसी घटना जिस पर अब कभी-कभार ही टिप्पणी होती है। इसकी जगह अब आर्थिक विकास में शिक्षा के महत्व की बात पुनः हो रही है। इसने सत्तर के दशक की हताशा का स्थान ले लिया है, जिसका संबंध मौकों की समानता के

उदारवादी सुधार कार्यक्रम से था। अधिकतर विकसित देशों में परिणाम बहुत विरोधाभासी हैं। हर स्तर पर शिक्षा का प्रसार सचमुच जबरदस्त रहा, जिससे महिलाओं और अल्पसंख्यकों को ज्यादा मौके मिले हैं। पर यह एक उप-उत्पाद है : मुख्य जोर तो मजदूर बल की गुणवत्ता बढ़ाना और साथ ही राजसत्ता का शिक्षा पर खर्च को कम से कम करवाना है। इसलिए लगभग हर जगह शिक्षा के बजट संकट में हैं और शिक्षा के पुराने परंपरागत मुद्दे छंटनी, कक्षा का आकार, चुनाव और विविधता फिर से गंभीर विवाद बन गए हैं' (हेल्सी आदि, 1997 : vi)।

माइकल एपल इस संदर्भ में लिखते हैं, 'शिक्षा किस मकसद के लिए है यह ही बदल रहा है' (एपल, 1993)। अब शिक्षा को सामाजिक साहचर्य के रूप में नहीं देखा जा रहा है। उसमें कई अल्पसंख्यक समूहों, महिलाओं, शिक्षकों, सामुदायिक कार्यकर्ताओं, प्रगतिशील विधायकों और सरकारी अधिकारियों आदि एक साथ मिलकर शालाओं की सामाजिक प्रजातांत्रिक नीतियां प्रस्तावित करने का काम कर रहे थे (उदाहरणार्थ : शिक्षा के मौकों का प्रसार, शिक्षा के परिणामों में समानता लाने के सीमित प्रयास, बहु-सांस्कृतिक और द्वि-भाषी विशेष कार्यक्रमों का विकास, आदि)। एक नया साहचर्य (मैत्री) बना है, जिसके पास शैक्षिक और सामाजिक नीतियां बनाने की ताकत है। यह ताकत व्यापार को नव-अनुदार बुद्धिजीवियों से जोड़ती है। महिलाओं, काले लोगों और मजदूरों के लिए मौके बढ़ाने में इनकी रुचि नहीं है। बल्कि इनके ध्येय ऐसी शैक्षिक परिस्थितियां बनाना है जो अंतर्राष्ट्रीय प्रतिद्वंद्विता और लाभ बढ़ाने के लिए जरूरी है (एपल, 1997 : 596)। शिक्षा में अस्सी-नब्बे के दशक से उभरे नव-दक्षिणपंथ (न्यू राइट) और रूढ़िवाद के बारे में लिखते हुए हेल्सी बताते हैं कि पिछले दशक में पश्चिमी समाजों में शिक्षा की संरचना में बुनियादी परिवर्तन हुए हैं। उनका मानना है कि अंग्रेजी भाषी समाजों में शिक्षा के इन परिवर्तनों के लिए अस्सी के दशक की आर्थिक और सामाजिक नीतियां जिम्मेदार हैं। नव-दक्षिणपंथी विचारधारा नव-उदारवादी विचारधारा के व्यक्तिगत स्वतंत्रता और मुक्त बाजार 'सद्गुणों' और परंपरागत रूढ़िवादी सोच का नतीजा है जिसमें माना जाता है कि राजनीतिक और नैतिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए सशक्त राजसत्ता जरूरी है। यह सोच इन दोनों को साथ-साथ लेकर चलती है।

शिक्षाशास्त्री माइकल एपल का विचार है कि अमरीका और ब्रिटेन दोनों जगह चार प्रवृत्तियां रूढ़िवादी परंपराओं का पुनर्स्थापन दरशाती हैं : निजीकरण, केंद्रीकरण, व्यवसायीकरण और विभेदीकरण। वास्तव में ये नव-उदारवाद और नव-रूढ़िवाद के तनावपूर्ण साहचर्य के परिणाम हैं (हेल्सी तथा अन्य, 1997 : 597) नव-उदारवाद और नव-रूढ़िवाद के तनावपूर्ण साहचर्य के बारे में वे आगे कहते हैं कि 'नव-उदारवाद के दर्शन में राजसत्ता कमजोर पड़ती दिखाई देती है। इनमें जो समाज मुक्त बाजार के अदृश्य हाथ को अपनी पारस्परिक सामाजिक क्रियाओं के सभी पहलुओं का मार्ग दर्शक बनने देता है, वही समाज कार्यक्षम और लोकतांत्रिक माना जाता है। दूसरी तरफ कुछ क्षेत्रों,

खासतौर से लिंग, शरीर और नस्लवादी रिश्तों की राजनीति, मानकों, मूल्यों और व्यवहारों, और अगली पीढ़ियों को कौन सा ज्ञान देना है, इस सबके लिए नव-रूढ़िवादी ताकतवर राजसत्ता को मानता है'' (हेल्सी और अन्य 1997 : 597)। इसलिए उनका कहना है कि नव-दक्षिणपंथी आंदोलन विरोधाभासी है। इस विरोधाभास को 'रूढ़िवादी आधुनिकीकरण' कह कर कम जटिल करने या समझने का प्रयास किया गया है।

शैक्षिक संरचना और विचारधारा में इन परिवर्तनों के विषय में स्पष्ट रूप से पश्चिम के समाजों के विषय में ही लिखा गया है और विकासशील देशों की परिस्थितियों को सैद्धांतिक रूप से समझने का प्रयास न के बराबर ही हुआ है। भारत जैसे देश में भी अस्सी के दशक से बुनियादी आर्थिक परिवर्तन लाने की तैयारियां शुरू हो गई थीं। आर्थिक व्यवस्था के साथ-साथ शैक्षिक व्यवस्था भी इन्हीं दबावों के तहत परिवर्तित की जा रही है। लेकिन कर्म की प्राथमिकता ने या यूं कहें कि नव-उदारवादी आकर्षणों ने इन परिवर्तनों के राजनीतिक प्रभावों के प्रति एक तरह का अंधापन पैदा किया है।

भाग तीन

जन शिक्षा : विकल्प और परिणाम

भूमिका : *इस भाग में जन शिक्षा के चार कार्यक्रमों पर चर्चा की गई है। ये चारों कार्यक्रम अलग-अलग परिस्थितियों और क्षेत्रों में लागू हुए थे। इनमें से दो कार्यक्रम गैर-सरकारी संगठनों ने लागू किए तथा दो कार्यक्रम सरकारी पहल होने के बावजूद स्थानीय परिस्थितियों और नेतृत्व की राजनीतिक प्रतिबद्धता के कारण विकल्प के रूप में ही विकसित हुए।*

शिक्षा और पुस्तकालय अभियान जैसे कार्यक्रम आम तौर पर संशोधनवादी गतिविधियों के दायरों में माने जाते हैं। इसलिए बुनियादी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों के लिए जूझने वाले क्रांतिकारी समूह इन पर विशेष गौर नहीं करते हैं। यहां पर प्रस्तुत चारों कार्यक्रमों की दो विशेषताएं हैं। एक तो यह कि इन कार्यक्रमों के माध्यम से वास्तव में समाज के सबसे वंचित और अभावग्रस्त जनों तक पहुंचा गया तथा दूसरा, इन लोगों निष्क्रियता के कारण न तो इन कार्यक्रमों को अस्वीकार किया, न स्वीकार ही किया बल्कि इनके माध्यम से पैदा हुई गुंजाइश का फायदा उठाकर अपने जीवन के ज्यादा बुनियादी मुद्दों को भी उठाने का दबाव बनाया। एक तरह से शिक्षा और पुस्तकालय के कामों के साथ ही इनमें जुझारू संघर्षों के लिए भी स्थान बनाया।

पहला कार्यक्रम तेलंगाना में निजाम रियासत का पुस्तकालय आंदोलन है। यह काम मूलत: 1930 से 1948 के बीच हुआ था। इस कार्यक्रम के पूरे घटनाक्रम को साक्षात्कारों और उपलब्ध लिखित दस्तावेजों के आधार पर समझने का प्रयास किया गया है। यह संभव है कि निजाम के जमाने की शिक्षा की परिस्थिति पर इस अध्याय में शामिल जानकारी के अलावा भी काफी और जानकारियां भी उपलब्ध होंगी। लेकिन अतिरिक्त जानकारी प्रस्तुत बुनियादी परिकल्पना को सशक्त ही करेगी कि उदारवादी शैक्षिक गतिविधियां उत्पीड़न की परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन के लिए संघर्ष की संभावनाएं पैदा करती हैं और उत्पीड़ित जन सक्रियता से भागीदारी करके शिक्षण स्थलों को संघर्ष स्थल बनाते हैं। जब शिक्षा के काम में यह गुंजाइश बना ली जाती है कि केवल लोगों को सिखाने नहीं, वरन उनसे सीखने और उनकी परिस्थितियों से जूझने भी जा रहे हैं तो शीघ्र राजसत्ता और जनता के बीच के विरोधाभास उभर आते हैं। इन विरोधाभासों को आम तौर पर दबाने का प्रयास होता। लेकिन यह न केवल तेलंगाना में हुआ बल्कि यहां चर्चित अन्य तीनों कार्यक्रमों में भी ऐसा नहीं हो पाया और शैक्षिक हस्तक्षेपों के परिणामस्वरूप जनविरोधी नीतियों और मुद्दों के खिलाफ जनप्रतिरोध भी उभरा और पनपा।

5. तेलंगाना में पुस्तकालय आंदोलन
(1920-48)

अंग्रेजों के शासन के समय में आज के आंध्र प्रदेश का तेलंगाना का इलाका हैदराबाद रियासत का हिस्सा था। हैदराबाद रियासत में उस समय निजाम का शासन था। तेलंगाना सशस्त्र किसान आंदोलन के कारण ज्यादा जाना जाता है। इसका नेतृत्व कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों ने 1948-51 के वर्षों के दौरान किया था। इस वृहत सामाजिक-आर्थिक उथल-पुथल से पहले तेलंगाना क्षेत्र में आंध्र महासभा ने कई सालों तक लगातार शिक्षा का काम किया था और पुस्तकालय आंदोलन चलाया था। यहां इस अध्ययन का उद्देश्य आंध्र महासभा के उभरने और विकसित होने की पृष्ठभूमि की गहरी छानबीन करना और यह समझना है कि इस काम ने 1948 में तेलंगाना में हुई सामाजिक खलबली में क्या भूमिका अदा की थी।

इस अध्ययन को निम्नानुसार चार भागों में प्रस्तुत किया जा रहा है :

(1) सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संदर्भ,
(2) हैदराबाद रियासत में शिक्षा की परिस्थिति,
(3) आंध्र महासभा का उदय और
(4) आंध्र महासभा के शैक्षणिक प्रयास।

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संदर्भ

स्वतंत्रता से पहले हैदराबाद भारत की सबसे बड़ी रियासत थी जो अंग्रेजों के अधीन नहीं थी। इसका क्षेत्रफल 82,700 वर्गमील था और इसे 16 जिलों में विभाजित किया गया था। उत्तर-पूर्व के पांच जिलों में मराठी बोली जाती थी और ये जिले मराठवाड़ा क्षेत्र के हिस्से थे। तीन जिले कर्नाटक क्षेत्र के थे और यहां की भाषा कन्नड़ थी। बाकी के आठ जिले तेलुगु-भाषी तेलंगाना क्षेत्र के थे। राज्य का आधा क्षेत्रफल तेलंगाना क्षेत्र का था। 1956 में जब राज्यों का भाषा के आधार पर पुनर्गठन किया गया तब मराठवाड़ा और कर्नाटक के जिलों को वर्तमान महाराष्ट्र और कर्नाटक राज्यों में मिला दिया गया। तेलंगाना को 1 नवंबर 1956 में आंध्र प्रदेश राज्य में मिला दिया गया।

1941 की जनगणना के अनुसार उस समय हैदराबाद रियासत की कुल जनसंख्या

लगभग 185 लाख थी। 'इसमें से तेलुगु बोलने वाले लोग लगभग एक करोड़, मराठी बोलने वाले लोगों की संख्या 40 लाख और कन्नड़ बोलने वालों की संख्या 20 लाख थी। बाकी के 25 लाख लोग हिंदुस्तानी और उर्दू बोलते थे' (रेगानी, 1973 : 177)। क्रांतिकारी कवि डॉ. वरवर राव बताते हैं कि 1951 की जनगणना के अनुसार लगभग आठ लाख लोग कोया, गोंडी, चेंचू और अन्य भाषाएं भी बोलते थे (1991 : *साक्षा.*)। निजाम रियासत की शासकीय भाषा उर्दू थी। उर्दू ही शिक्षा की भाषा भी थी—प्राथमिक शाला से लेकर विश्वविद्यालयीय स्तर तक। तेलुगु समेत अन्य सभी क्षेत्रीय भाषाएं दबा दी गई थीं। 'अदालतों और प्रशासन के हर स्तर की भाषा उर्दू बना दी गई थी। साथ ही यह प्राथमिक स्तर से शिक्षा की भाषा भी थी' (सुंदरैया, 1972 : 7)।

सामंती व्यवस्था : निजाम के राज्य की अधिकतर जनता गांवों में निवास करती थी। कुल जनसंख्या का मात्र 6 प्रतिशत 10,000 से ज्यादा जनसंख्या वाले शहरों में निवास करती थी (रेगानी, 1973)। यहां कुल मिलाकर लगभग 530 लाख एकड़ जमीन पर खेती होती थी। राज्य की जमीन खालसा, सर्फ-ए-खास, पैगा, जागीर और समास्थनानम में बंटी हुई थी। इसमें 60 प्रतिशत खालसा (दीवानी) जमीन थी जिसका प्रशासन सीधे राज्य सरकार द्वारा नियंत्रित था। बाकी में से 10 प्रतिशत जमीन निजाम की व्यक्तिगत जायदाद थी। इसे सर्फ-ए-खास की जमीन कहा जाता था। और 30 प्रतिशत जमीन जागीरदारों और जमींदारों के कब्जे में थी।

निजाम का शासन एक निरंकुश शासन था। इसका कोई संविधान या कानून नहीं था जिसके आधार पर सरकार चलती। शासक समय-समय पर आदेश और घोषणाएं जारी करके अपना राज चलाता था। प्रशासकीय कार्यों के लिए एक बाब-ए-हुकूमत (एक्जीक्यूटिव परिषद) थी जो 22 सदस्यों वाली एक छोटी विधान सभा के समान थी जिसके पास कुछ सीमित अधिकार थे। इनमें से मात्र चार सदस्य चुने हुए होते थे, दो जागीरदारों द्वारा और दो वकीलों द्वारा। आम जनता का कोई प्रतिनिधित्व इस विधान सभा में नहीं था (सुंदरैया, 1972 : 18; राव, 1991 : *साक्षा.*)।

निजाम शासन में लूट : निजाम रियासत में आम जनता की हालत सामंती शोषण और उत्पीड़न के कारण अत्यंत दयनीय थी। मेहनतकश और भूमिहीन लोगों की हालत और भी बदतर। तमाम तरह के करों के बावजूद सार्वजनिक सुविधाएं, खास तौर से गांवों के स्तर पर, नदारद थीं। सर्फ-ए-खास के किसानों से इकट्ठा किया गया कर या लूट की पूरी रकम, जो लगभग 20 लाख रुपए सालाना होती थी, निजाम के परिवार और नौकरों के खर्च उठाने में खर्च की जाती थी। सर्फ-ए-खास क्षेत्र के आम लोगों के आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए खर्च करने का कोई बंधन निजाम पर नहीं था। यदि जन कल्याण के लिए कुछ भी खर्च किया जाता था तो वह राज्य की सामान्य आय में से होता था (सुंदरैया,

1972 : 9)। इसके अलावा राज्य के खजाने से निजाम को हर वर्ष 70 लाख रुपए और दिए जाते थे।

जागीरवाले क्षेत्रों में सामंती उत्पीड़न : जागीर क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के सामंती उत्पीड़क थे जैसे, पैगा, समास्थनानम, जागीरदार, इजारेदार, बंजारदार, मक्तेदार, इनामदार और अग्राहरम। निजाम द्वारा जागीर की जमीन इन अभिजात लोगों को दी जाती थी। राज्य के पूरे 82,700 वर्गमील के क्षेत्र में से 33,700 वर्गमील क्षेत्र जागीर क्षेत्र था। गांवों की संख्या के हिसाब से तेलंगाना क्षेत्र के कुल 21,875 गांवों में से 8,128 गांव जागीर गांव थे।

जागीरदारों के पास उनकी अपनी पुलिस और फौज (सेना) होती थी और वे अपने कलक्टर, तहसीलदार, गांव पटवारी और पटेलों की नियुक्ति करते थे। कुछ जागीरदार राज्य को कर देते थे, बाकी नहीं। इनकी सेनाएं जरूरत पड़ने पर निजाम की सेना के लिए उपलब्ध रहती थीं। निजाम राज्य के प्रति उनकी मात्र यही जिम्मेदारी थी। इसके बदले में उन्हें पूरी जागीर में एक सामंत होने के विशेषाधिकार मिले हुए थे जिसके लिए वे किसी के प्रति जवाबदेह नहीं थे। इन जागीरों में उत्पीड़न की अति (इंतहा) थी। 'जागीर क्षेत्र में दीवानी क्षेत्र की तुलना में जमीन पर कर 10 गुना ज्यादा था जो लगान 150 रुपए अथवा 20-30 बोरे धान प्रति एकड़ तक हो जाता था' (सुंदरैया, 1972 : 10)। इन क्षेत्रों में समाज और जन कल्याण की गतिविधियां जैसे सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधा, शिक्षा, पानी की व्यवस्था तथा आर्थिक विकास आदि नगण्य थीं। बड़े-बड़े गांवों में भी स्कूलों की व्यवस्था न के बराबर थी (रेगानी, 1973; गुप्ता, 1986 : 11; राव, 1991 : *साक्षा.*; अयंगर, 1930 : 20; धनागरे, 1974 : 111)।

पैगा क्षेत्र की जमीनें आम तौर पर मुसलमान सामंतों को दी गई थीं, खास तौर से निजाम के रिश्तेदारों को ताकि इनसे होने वाली आमदनी से निजाम के लिए सशस्त्र सैन्य बल के रखरखाव और भरती के लिए आर्थिक स्रोत जुटाए जा सकें। जागीर और समस्थनानम उन विशेष अफसरों को पुरस्कार के रूप में दिए जाते थे जिन्होंने निजाम की सेवा करने में महारत हासिल की थी। और बाकी जैसे मक्ता, बंजर, अग्राहरम और इनाम अलग-अलग सेवाओं के बदले पुरस्कार के रूप में दिए जाते थे। इस प्रकार से मिली जमीनों के मालिकों को किसानों से जितना धन लूट सकें उतना लूटने, चूस लेने की पूरी आजादी थी। इन जमीनों पर वास्तव में काश्तकारी करने वाले लोग जमीन के मालिक नहीं थे। वे या तो जोतदार (किराएदार किसान) थे या भूमिहीन मजदूर थे। अधिकतर जागीरदार अनुपस्थित जमींदार थे।

खालसा जमीन पर देशमुख और देशपांडों द्वारा लूट : देशमुख और देशपांडे पहले निजाम सरकार के लिए लगान वसूली करने का काम करते थे। पर बाद में निजाम सरकार के मंत्री सालारजंग के द्वारा लाए गए सुधारों के बाद निजाम सरकार ने सरकारी तंत्र द्वारा

लगान वसूली की व्यवस्था शुरू कर दी थी। ये संशोधन 1860-70 के आसपास किए गए थे। इन अधिकारों के छिनने से देशमुखों और देशपांडों को होने वाले नुकसान की समुचित भरपाई निजाम सरकार ने आम जनता की कीमत पर की। इस तरह जब देशमुख और देशपांडों के लगान वसूली के अधिकार छिन गए तब उनके द्वारा इकट्ठे किए जाने वाली लगान की प्रतिशत के आधार पर उनके लिए मुआवजे के रूप में वार्षिक वेतन या पेंशन तय कर दी गई थी या उन्हें पांच-दस गांव वेतन के रूप में दे दिए गए थे। वैसे भी इन लोगों ने कर इकट्ठे करने वालों के रूप में हजारों एकड़ बेहतरीन उपजाऊ तथा सिंचित जमीन धोखाधड़ी से किसानों से हथिया कर, उसे अपने नाम पर लिखवाकर अपनी जायदाद बना ली थी। इस प्रकार, जो किसान उन जमीनों पर काश्तकारी करते थे वे भूमिहीन मजदूरों या जोतदारों में तबदील हो गए थे। बहुत से किसानों को इस तरह की धोखाधड़ी के बारे में जानकारी तब मिलती थी जब तक बहुत देर हो चुकी होती थी यानी देशमुख बिना किसान की जानकारी के अपनी ताकत के बल पर जमीन अपने नाम करवा चुके होते थे। इस तरह इन सामंतों ने जमीनें हथियाईं और कानूनी रूप से उन्हें अपना बना लिया (सुंदरैया, 1972 : 11)। इस तरह से जमीनें हथियाने वाले जमींदारों में ग्राम प्रधान, पटेल, पटवारी आदि भी शामिल थे।

देशमुखों की राजनीतिक और आर्थिक भूमिका : खालसा क्षेत्र में सरकार और आम आदमियों के बीच देशमुख संपर्क सूत्र थे। वेतन में मिले गांवों को देशमुख क्लर्कों या सेरीदारों के माध्यम से नियंत्रित करते थे। इसलिए इनके पास भी सरकारी अफसरों जैसे अधिकार थे। 'ये सेरीदार किसानों से बलपूर्वक कृषि उत्पादन इकट्ठा करते थे। इसके अलावा वे गांव के बारे में जानकारी ऊपर पहुंचाने का काम भी करते थे' (सुंदरैया, 1974 : 11)। इसलिए गांव का कोई भी छोटा-मोटा झगड़ा देशमुख या उसके अफसरों के हस्तक्षेप के बिना हल नहीं होने दिए जाते थे और ये निबटारे कभी भी गांव वालों से अच्छी वसूली के बिना नहीं होते थे। इस प्रकार न केवल आर्थिक रूप से आम लोगों को चूसा जाता था, बल्कि उनकी रोजमर्रा की जिंदगी में एक आतंक बनाकर रखा जाता था। जागीरदारों की तरह ही देशमुखों के पास भी पिस्तौलों और बंदूकों के लाइसेंस होते थे और ये अपना सैन्य बल भी रखते थे।

देशमुख जमींदारी और साहूकारी दोनों करते थे। इस तरह से वे छोटे किसानों को भूमिहीन और बंधुआ मजदूर बनाने में सफल हुए। ये मराठवाड़ा क्षेत्र की तुलना में तेलंगाना के इलाके में अधिक व्यापक स्तर पर हुआ क्योंकि तेलंगाना के इलाके में देशमुख लोग खेती से सीधे जुड़े हुए थे। जबकि मराठवाड़ा के इलाके में साहूकारी का धंधा मारवाड़ी लोग करते थे और इनकी खेती में कोई रुचि नहीं थी। वे जमीन का किराया पाकर ही संतुष्ट रहते थे। देशमुख लोगों का साहूकारी का धंधा उन्नीसवीं सदी के अंत तक आते-आते और भी महत्वपूर्ण हो गया था क्योंकि तब जमीन का लगान मुद्रा में देने की जरूरत

हुई। किसानों के पास मुद्रा का कोई जरिया नहीं था। वे इसके लिए भी देशमुखों पर निर्भर हो गए। देशमुखों ने मुद्रा अत्यंत लाभकारी आबकारी ठेकों से हासिल की थी और वे मुद्रा के एकमात्र स्रोत बन गए थे।

बंधुआ मजदूरी की व्यापकता : एक तरह से खालसा क्षेत्र में यानी देशमुखों के इलाकों में सामंती शोषण की स्थिति और भी अधिक बदतर थी। क्योंकि ये जागीरदारों की तरह अनुपस्थित जमींदार नहीं थे और खुद गांव में रहकर काश्तकारी करवाते थे इसलिए किसानों और मजदूरों से अधिकतम काम तथा-लाभ निकलवाते थे। अधिकतर काम भगेलाओं यानी बंधुआ मजदूरों द्वारा किया जाता था। ये बड़े सामंतों के खेतों पर बड़ी संख्या में काम करते थे। भगेलाओं का अंतहीन शोषण होता था। उन्हें पैसों या अनाज के रूप में कोई मजदूरी भी नहीं मिलती थी। ये लोग अधिकतर निम्न वर्गों और किसी न किसी निम्न तथा अछूत जाति से होते थे।

इस प्रथा के पीछे काम करने वाला सिद्धांत यह था कि एक बार जो भी ऋण के दुश्चक्र में फंस जाए उससे असीमित ब्याज लेकर, उन्हें लगभग आधा भूखा रखकर, उनके ऊपर यह नैतिक दबाव बनाया जाए कि यह सब काम करके भी वे अपने मालिक द्वारा दी गई रकम का ब्याज तक अदा नहीं कर पा रहे हैं और इसलिए अगली पीढ़ी को भी यह कर्ज चुकाना पड़ेगा। 'कम अवधि के ऋण खास तौर से बहुत ज्यादा महंगे पड़ते थे। 15-30 दिनों के अंदर ही इन पर 50 प्रतिशत ब्याज देना पड़ता था। और इस प्रकार इनकी सालाना ब्याज दर 600 से 1200 प्रतिशत तक हो जाती थी' (गुप्ता, 1986 : 14)।

मध्यम किसान : देशमुखों और भूमिहीन मजदूरों के बीच में विभिन्न तरह के मध्यम किसान होते थे। ये मुश्किल से दो जून खाना जुटा पाते थे। परिवार में कोई भी हादसा या उत्सव होने पर इन्हें ऋण लेना पड़ता था। गुप्ता के अनुसार, 'ग्रामीण जनसंख्या का एक बहुत बड़ा हिस्सा भूमिहीन मजदूरों का था। यदि हम उन गरीब किसानों को भी शामिल कर लें जो मुख्यत: भूमिहीन मजदूर की तरह काम करते हैं, पर जिनके पास 1951 की जनगणना के अनुसार जमीन का एक टुकड़ा भी था तो इन दोनों समूहों की संख्या कुल जनसंख्या का 40 प्रतिशत थी' (गुप्ता, 1986 : 12)।

इन खेतिहर मजदूरों के लिए रोजगार अनिश्चित और मौसम पर निर्भर होता था यानी कटाई के दौरान ज्यादा रोजगार और बाकी समय काफी कम। इस प्रकार साल के ज्यादा से ज्यादा छह महीने रोजगार मिलता था। मजदूरी बहुत कम थी जो अनाज में दी जाती थी यानी 9 से 14 घंटों के काम के बदले करीब 1.5 से 2.25 किलो धान (गुप्ता, 1986)। इसलिए किसानों के परिवार लगातार मुश्किल से जीवन निर्वाह करते थे। इसके साथ ही कर्ज के कुएं में डूबने के खतरे की संभावना निरंतर रहती थी।

सामंती शोषण के अन्य प्रकार : जमीन के गैर-बराबर वितरण और कर्ज के दुश्चक्र के कारण जमीन का लगातार किसानों से साहूकारों और जमींदारों के हाथ में पहुंचना, खास तौर से सिंचित जमीन का और, भगोला प्रथा के अलावा शोषण के कई अन्य प्रकार तथा रूप भी थे। इनमें सबसे बदनाम प्रथा थी वेट्टी चाकरी यानी बेगारी। यह जबरदस्ती, बिना मजदूरी के काम करने के लिए मजबूर करने की प्रथा थी। इन व्यवस्था के तहत भूमिहीन मजदूर और दस्तकारों को जमींदारों के यहां न केवल मुफ्त में, बल्कि अपना काम छोड़कर उनका काम करना पड़ता था। सुंदरैया लिखते हैं, 'तेलंगाना में वेट्टी प्रथा हर तरफ व्याप्त सामाजिक प्रथा थी। उसका अलग-अलग तरह का असर हर वर्ग के लोगों के ऊपर रहता था। प्रत्येक हरिजन परिवार में से एक सदस्य को जमींदार के यहां वेट्टी करने के लिए भेजा जाना जरूरी था। इनके रोजमर्रा के कामों में पटेलों, पटवारियों या देशमुखों के घरों में काम करना, पुलिस थानों, तालुका आफिस आदि तक रिपोर्टें पहुंचाना, गांव की फसल और जनता पर नजर रखना आदि शामिल होता था' (सुंदरैया, 1974 : 12)।

इसके अलावा, एक मोची को जूते और खेती के लिए जरूरी, चमड़े की वस्तुएं, (यानी पानी निकालने की) रस्सी, हल और जानवरों के लिए पट्टे आदि भी मुफ्त में देनी पड़ती थीं। ताड़ी निकालने वालों को कम से कम छह-सात पेड़ों की ताड़ी जमींदारों के लिए रखनी पड़ती थी। धोबिन को मुफ्त में कपड़े धोने पड़ते थे और रास्ता साफ करने के लिए जमींदार की बैलगाड़ी या घोड़े के आगे-आगे भागना पड़ता था। बढ़इयों को खेती के उपकरण और घर का सामान, कुम्हार को मिट्टी के बरतन आदि सभी सामान मुफ्त में देना पड़ता था, आदि, आदि। व्यापारियों को पुलिस अधिकारियों और अन्य अफसरों को मुफ्त में घी तथा अन्य खाद्य सामग्री देनी पड़ती थी। किसानों को अफसरों को लाने-ले जाने के लिए अपनी बैलगाड़ियां देनी पड़ती थीं। ये अफसर कभी भूखे-बीमार जानवर का भी खयाल नहीं करते थे। यानी केवल देशमुख ही नहीं वरन गांव में आने वाले हर स्तर के अधिकारी नीची जातियों और वर्गों के लोगों से बेगारी करवाते थे। इस प्रथा की अति का अंदाजा नलगोंडा जिले के बदनाम देशमुख विनसुर रेड्डी के उदाहरण से लगाया जा सकता है। ये 40 गांवों में फैली अपनी 40,000 एकड़ जमीन पर खेती बेगारों या भगेलाओं से करवाता था। (मादापाती राव, 1950; सुंदरैया, 1972; गुप्ता, 1986; राव, 1991 : *साक्षा.*)।

महिलाओं का यौन शोषण : सामंती उत्पीड़न का सबसे घिनौना रूप था महिलाओं का यौन शोषण। विवाह के बाद जमींदारों की लड़कियों के साथ गुलाम लड़कियों को उपहारस्वरूप जमींदारों की लड़कियों की ससुराल भेजने का रिवाज था। जमींदारों द्वारा इन लड़कियों का भी खूब यौन शोषण किया जाता था।

'सामंती व्यवस्था में पुरुष जितनी तकलीफ भोगते थे महिलाएं उनसे दोगुना कष्ट उठाती थीं। यदि जमींदार को कोई औरत पसंद आई तो उसे उठा लिया जाता था। जब

किसी औरत की शादी होती थी तो पहली रात उसके साथ सोने का अधिकार जमींदार का होता था' (संगठना, 1989 : 3)। आम औरतों को अच्छे कपड़े पहनने या बालों में फूल लगाने से डर लगता था। मजदूर औरतों को खेत पर मजदूरी करते समय अपने दूध पीते बच्चों को दूध पिलाने का अधिकार तक नहीं था। औरतों पर यौन अत्याचार करना जमींदारों का अधिकार था। जमींदारों के गुंडों के द्वारा सिर्फ इसलिए परिवार की औरतों के साथ बलात्कार, पुरुषों के साथ बुरी तरह से मारपीट की और घर लूटने तथा जलाने की ढेरों वारदातें होती थीं क्योंकि उस परिवार के लोगों ने जमींदार के खेत अपने खेतों से पहले जोतने से इनकार कर दिया था। विनसुर रेड्डी की मां भी बहुत बदनाम जमींदार थी। श्रीनिवासुलु उसके बारे में लिखते हैं, 'उससे बुलावा आने पर चाहे कुछ भी हो, तुरंत काम पर पहुंचना पड़ता था। किसी को इससे छूट नहीं थी—न नवविवाहितों को, न गर्भवती महिलाओं को, न दूध पीते बच्चों की मांओं को और न ही कमजोर तथा बूढ़ी औरतों को' (श्रीनिवासुलु, 1991 : *साक्षा.*)।

इस प्रकार नीची तथा अछूत जातियों, विशेषकर माला और मादिगा जाति के लोगों के सांस्कृतिक और आर्थिक शोषण की कोई सीमा नहीं थी। भगेला गुलाम मुख्यत: आदिवासी परिवारों के थे। सामंती शोषण की जड़ें शायद कहीं भी इतनी अधिक गहरी नहीं थीं जितनी तेलंगाना में थीं।

यहां दिया गया विवरण एक झलक मात्र ही दिखाता है क्योंकि ज्यादा विस्तृत चर्चा और विवरण की गुंजाइश इस अध्ययन के तहत संभव नहीं है। सामंती अत्याचार और शोषण की हद को दिखाने के लिए मैं यहां कमलम्मा की कहानी, जो *वी वर मेकिंग हिस्ट्री* पुस्तक में छपी थी, उससे उद्धृत कर रही हूं। 'मेरी मां एक गुलाम थी। उसकी तीन पीढ़ियों ने मालिक के घर में गुलाम की हैसियत से काम किया। शायद हम शुरू में तेलगा थे। बहुत साल पहले, मुसीबतों के कारण मेरी मां की नानी को एक नाप चावल और एक रुपए के बदले एक ब्राह्मण परिवार को दे दिया था। तब से वह वहां, उसी घर में, एक गुलाम की तरह रही। उसे काम करते-करते कभी एक जमींदार ने रखा तो कभी दूसरे ने। यह चलता रहा। मेरे पिता ने किसी और से शादी नहीं की। वह अपने एक चचेरे भाई के पास रहने आए थे जो पैसे वाला था। मेरी मां भी वहीं थी और जब उसकी उम्र हो गई तो मेरे पिता ने कहा वह उसे रखेगा। वे साथ रहे। आप उसे शादी कह सकते हैं या मेरी मां को रखैल कह सकते हैं' (*संगठना,* 1989 : 3)।

हैदराबाद रियासत में शिक्षा की परिस्थिति

इस हिस्से में निजाम रियासत में शिक्षा की स्थिति पर कुछ चर्चा की जाएगी। इस हिस्से में प्रस्तुत जानकारियां निजाम सरकार की वार्षिक प्रशासनिक रपटों, जनगणना के आंकड़ों,

डी.पी.आई. की रपटों और निजाम द्वारा गठित विभिन्न समितियों की रपटों आदि से ली गई हैं। इस क्षेत्र में शिक्षा के अभाव का अंदाजा देने के लिए कुछ जगह पर कुछ जानकारियों पड़ोसी क्षेत्र, ब्रिटिश आंध्र से लेकर तुलना की गई है। अंग्रेजों के अधीन आंध्र प्रदेश का यह हिस्सा मद्रास प्रेसीडेंसी में शामिल था।

शिक्षा के अभाव की हद : प्रस्तुत तालिका I में स्कूल जाने वाली उम्र के जितने बच्चे 1901-42 के बीच में वास्तव में स्कूल में भरती थे उसकी जानकारी दी गई है। इस तालिका से यह स्पष्ट होता है कि 1914 से 1940 के बीच, 26 वर्षों में, स्कूल में दाखिला लेने वाले बच्चों की संख्या मात्र 12 प्रतिशत बढ़ी है यानी प्रति वर्ष आधा प्रतिशत से भी कम। 1940 तक स्कूल जाने वाली उम्र के कुल बच्चों में से 20 प्रतिशत से भी कम स्कूल जाते थे। स्वाभाविक है कि लड़कियों की स्थिति और भी बदतर थी।

इसी समयावधि में मद्रास प्रेसीडेंसी के आंकड़े स्कूल जाने वाले बच्चों के थे—8.59 प्रतिशत 1881 में तथा 35.24 प्रतिशत 1931 में (मद्रास, 1960 : 69)। तालिका I को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 1931 में, निजाम रियासत में स्कूल जाने वाले बच्चों की कुल संख्या मद्रास प्रेसीडेंसी की तुलना में लगभग आधी थी।

तालिका II (जनगणना, 1941 : 237) से यह स्पष्ट होता है कि 1915 से 1921 के बीच में स्कूलों और विद्यार्थियों की संख्या में अचानक वृद्धि हुई और स्कूलों की संख्या 1,254 से बढ़कर 4,287 हो गई तथा विद्यार्थियों की संख्या 93,289 से बढ़कर 2,34,505 हो गई। यह इसलिए हुआ क्योंकि निजाम सरकार ने प्राथमिक शालाओं को तेजी से फैलाने की नीति अपनाई जिससे स्कूलों की संख्या तीन गुनी से ज्यादा और उसमें पढ़ने वालों की संख्या कुछ ही वर्षों में लगभग तीन गुनी हो गई (जनगणना, 1931 : 214)। हालांकि यह क्रम 1921 से 1941 के बीच जारी नहीं रह सका और इन बीस वर्षों में मात्र 1,235 स्कूल और खोले गए यानी औसतन 21 स्कूल प्रति वर्ष। विद्यार्थियों की संख्या बढ़ने के बावजूद 1916-1921 के बीच विद्यार्थियों की संख्या के प्रतिशत में वृद्धि धीमी थी (तालिका I)। इस समयावधि में कुल स्कूलों की संख्या तीन गुना से अधिक बढ़ी परंतु स्कूल जाने वाली उम्र के बच्चों की स्कूलों में संख्या मात्र 4 प्रतिशत ही बढ़ी।

इसकी तुलना में मद्रास प्रेसीडेंसी में 1826 में ही करीब 12,498 स्कूल और कालेज थे जबकि वहां की जनसंख्या थी 1,28,50,941 मात्र। वहां, 1,000 की जनसंख्या पर औसतन एक स्कूल था। स्कूल और कालेज में शिक्षा प्राप्त करने वालों की संख्या 1,88,000 थी यानी 67 में से 1 व्यक्ति स्कूल या कालेज में था (मद्रास, 1960 : 63)। निजाम रियासत 1937 में इस लक्ष्य तक पहुंचने का प्रयास कर रही थी। '...सरकार द्वारा प्राथमिक शिक्षा के संदर्भ में 1937 (एफ 1346) में तय की गई नीति का मुख्य उद्देश्य एक हजार या उससे अधिक जनसंख्या वाले प्रत्येक गांव में पांच सालों के अंदर एक स्कूल खोलना था' (जनगणना, 1941 : 239)। हालांकि मद्रास प्रेसीडेंसी के 1826 के आंकड़ों तथा निजाम

तालिका I

हैदराबाद रियासत में स्कूल जाने वाली उम्र के स्कूली बच्चों का प्रतिशत

वर्ष	*कुल प्रतिशत जो स्कूल गए*		*लड़के*	*लड़कियां*
1311 एफ (1901-02)	6.0		--.-	--.-
1321 एफ (1911-12)	5.0		--.-	--.-
1324 एफ (1914-15)	8.3		--.-	--.-
1325 एफ (1915-16)	8.3		--.-	--.-
1326 एफ (1916-17)	10.7		--.-	--.-
1327 एफ (1917-18)	9.0	(12.6)*	15.6	2.4
1328 एफ (1918-19)	9.2	(12.7)*	15.4	2.8
1329 एफ (1919-20)	10.79	(14.6)*	18.9	3.2
1330 एफ (1920-21)	12.5	(16.6)*	20.8	4.0
1331 एफ (1921-22)	13.2	(17.3)*	30.1	4.0
1332 एफ (1922-23)	12.9	(17.0)*	29.7	3.9
1333 एफ (1923-24)	13.0		29.9	3.8
1334 एफ (1924-25)	13.0		23.1	3.8
1334 एफ (1925-26)	13.8	(15.4)*	23.5	3.8
1336 एफ (1926-27)	14.5	(16.2)*	24.6	4.1
1337 एफ (1927-28)	16.7		28.8	4.2
1338 एफ (1928-29)	17.2		29.5	4.3
1339 एफ (1929-30)	17.3		29.6	4.8
1340 एफ (1930-31)	15.2		25.8	4.1
1341 एफ (1931-32)	15.9		27.1	4.3
1342 एफ (1932-33)	16.3		27.7	4.6
1343 एफ (1933-34)	16.9		28.5	4.7
1345 एफ (1935-36)	17.9		30.5	5.2
1346 एफ (1936-37)	18.1		30.3	5.0
1348 एफ (1938-39)	19.1		--.-	--.-
1349 एफ (1939-40)	20.0		33.6	7.3
1350 एफ (1940-41)	20.7		34.2	7.9
1351 एफ (1941-42)	18.1		30.3	7.0

स्रोत : * ये आंकड़े भारत की जनगणना, 1911; 1921; 1931; 1941; और 1951 से इकट्ठे किए गए हैं.
— यहां कुल जनसंख्या के 15 प्रतिशत को स्कूल जाने वाली उम्र का माना गया है.
— 'एफ' फजली कैलंडर का साल दिखाता है.
— निजी स्कूलों के विद्यार्थियों की संख्या जोड़कर.

तालिका II

हैदराबाद रियासत में स्कूलों व विद्यार्थियों की संख्या

वर्ष	*स्कूलों की संख्या*	*विद्यार्थियों की संख्या*
1300 एफ (1890-91)	545	39,197
1305 एफ (1895-96)	753	52,901
1310 एफ (1900-01)	832	56,027
1315 एफ (1905-06)	882	59,821
1320 एफ (1910-11)	1,034	66,484
1325 एफ (1915-16)	1,254	93,289
1330 एफ (1920-21)	4,287	2,34,505
1335 एफ (1925-26)	4,097	2,58,298
1340 एफ (1930-31)	4,285	2,99,963
1345 एफ (1935-36)	4,790	3,62,150
1350 एफ (1940-41)	5,502	4,08,462

स्रोत : जनगणना, 1941.

की रियासत के 1937 के आंकड़ों में सही-सही तुलना नहीं की जा सकती फिर भी ये आंकड़े निजाम की रियासत में शिक्षा की परिस्थिति की एक झलक तो देते ही हैं। आंकड़ों की इस तुलना से ऐसा लगता है जैसे निजाम रियासत में शिक्षा की स्थिति मद्रास प्रेसीडेंसी की तुलना में एक सदी से ज्यादा से पिछड़ी हुई थी।

एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि निजाम रियासत की यह जानकारियां जागीर क्षेत्र की स्थितियां प्रतिबिंबित नहीं करती हैं जहां की स्थिति और भी बदतर थी। यह तथ्य इसलिए महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि निजाम रियासत की कुल जमीन का एक-तिहाई हिस्सा जागीरदारों के कब्जे में था और वहां रियासत की करीब एक-चौथाई जनसंख्या निवास करती थी। वरवर राव ने बताया था कि उनका गांव सालारजंग की जागीर में था और वहां 1950 तक एक भी स्कूल नहीं था (राव, 1991 : *साक्षा.*)। शिक्षा विभाग की रपट (1938) के अनुसार दीवानी क्षेत्र में हर 17 वर्गमील पर एक स्कूल था जबकि जागीर क्षेत्र में हर 231 वर्गमील पर एक स्कूल था क्योंकि दीवानी क्षेत्र के अलावा, बाकी रियासत में पूरे राज्य के 5,131 स्कूलों में से मात्र 105 स्कूल थे। 1949 तक भी परिस्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं आया था जब जागीर क्षेत्र के कुल 9,000 गांवों में, जो 33,000 वर्गमील में फैले हुए थे और जिनकी जनसंख्या 40 लाख थी, मात्र 158 प्राइमरी स्कूल थे (रेड्डी, 1983 : 652)।

यदि हम 1846 से 1940 के बीच के विभिन्न प्रकार के स्कूलों के आंकड़े देखें तो पता चलता है कि प्राथमिक स्कूलों की तुलना में मिडिल और हाई स्कूलों की संख्या बहुत ही कम थी। इस कारण प्राथमिक स्कूल के बाद पढ़ाई जारी रख पाने की संभावनाएं बहुत कम थीं। उदाहरण के लिए यदि दो वर्षों के आंकड़ों की तुलना की जाए (तालिका III) तो मिडिल स्कूलों की संख्या प्राथमिक स्कूलों की संख्या का मात्र तीन प्रतिशत थी और यदि विद्यार्थियों की संख्या देखें तो मात्र 16 प्रतिशत प्राथमिक शाला के विद्यार्थी मिडिल स्कूलों में थे।

1938-39 में प्राथमिक स्कूलों में भरती कुल विद्यार्थियो में से मात्र 16 प्रतिशत 1939-40 में माध्यमिक स्कूलों तक पहुंच पाए। यह भी ध्यान रखने की बात है कि 1938-39 में स्कूल जाने वाली उम्र के कुल बच्चों में से मात्र 19 प्रतिशत बच्चे प्राथमिक शालाओं में भरती थे (तालिका I)।

तालिका III

हैदराबाद राज्य में 1938-40 के बीच स्कूलों के प्रकार और विद्यार्थियों की संख्या

	1348 एफ (1938-39)		*1349 एफ (1939-40)*	
स्कूलों के प्रकार	*स्कूल*	*विद्यार्थी*	*स्कूल*	*विद्यार्थी*
अंग्रेजी हाई स्कूल			21	
उस्मानिया हाई स्कूल	59	33,806	33	32,958
मिले-जुले स्कूल			6	
माध्यमिक	143	43,982	144	45,303
प्राथमिक	4,842	2,97,932	4,942	3,13,696
विशेष स्कूल	179	7,655	197	8,534
कुल	5,223	3,83,375	5,343	4,00,491

(हैदराबाद, 1348 एफ; 1349 एफ)

1939-40 में निजाम रियासत में 60 हाई स्कूल थे (तालिका II)। इनमें से कोई भी स्कूल स्थानीय भाषाओं में शिक्षा नहीं देते थे। इनमें से 16 स्कूल हैदराबाद शहर में ही थे। 1931 में 98 छोटे शहर थे जिनकी जनसंख्या 5,000 या उससे अधिक थी। ऐसे शहरों की संख्या 1941 में बढ़कर 138 हो गई थी (जनगणना, 1931; 1941) और इन शहरों में कुल 44 हाई स्कूल थे यानी 33 प्रतिशत से भी कम छोटे शहरों में हाई स्कूल थे। हालांकि 1941

की जनगणना रपट के अनुसार सरकार ने यह नीतिगत फैसला किया था कि पांच वर्षों के अंदर ही एक हजार और उससे अधिक जनसंख्या वाले सभी गांवों में कम से कम एक प्राथमिक शाला खोली जाएगी। लेकिन यह नीति भी एक हजार से कम जनसंख्या वाले गांवों के संदर्भ में बिलकुल चुप थी। 1931 की जनगणना रपट के अनुसार तब निजाम रियासत में ऐसे करीब 17,000 गांव थे।

जागीरों में स्कूलों की परिस्थिति : जैसा कि पहले कहा गया है, कुल 5,131 स्कूलों में मात्र 105 स्कूल यानी 2.1 प्रतिशत स्कूल जागीर क्षेत्र में थे। 1939 में निजाम की रियासत में करीब 1,500 जागीरें थीं। इस परिस्थिति का एक दशक के बाद 1949 में जब पुनरावलोकन किया गया तब भी परिस्थिति में सुधार के कोई लक्षण नहीं दिखे। यह संख्या बढ़कर मात्र 158 तक ही पहुंची थी।

जागीर क्षेत्रों में शिक्षा की इतनी बदतर स्थिति का कारण यह था कि निजाम सरकार का जन कल्याण के कामों में मसलन शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, पीने का पानी, इत्यादि की व्यवस्था करवाने में कोई नियंत्रण नहीं था। बात मात्र नियंत्रण की ही नहीं है, सरकार स्वयं भी सामंती व्यवस्था की पक्षधर थी। उसे आम जनता के हितों से ज्यादा सामंतों की चिंता थी। इसलिए निजाम सरकार ने जागीर प्रशासन और सुधार के लिए 1947 में बने रायल कमीशन की सिफारिशों पर कार्रवाई करने की कोई चिंता नहीं की। कमीशन ने यह सिफारिश की थी कि जागीर क्षेत्र में जन कल्याण के कामों की जिम्मेदारी निजाम सरकार को अपने हाथ में ले लेनी चाहिए (रेड्डी, 1983 : 653)। संभव है कि एक भी जागीर में वार्षिक आय का एक प्रतिशत भी शिक्षा पर खर्च नहीं किया जाता था। परिणामस्वरूप 1949 के आंकड़े दिखाते हैं कि इन गैर-दीवानी इलाके में 98.25 प्रतिशत गांवों में प्राथमिक शालाएं तक नहीं थीं (रेड्डी, 1983 : 653)।

रेगानी के अनुसार, 'जागीर के इलाकों में बड़ी जनसंख्या वाले गांवों तक में ढंग के स्कूल नहीं थे। इसका आम जनता पर बहुत बुरा असर पड़ा। वह शैक्षणिक रूप से पिछड़ी हुई ही रह गई। राजसत्ता भी भारत के अन्य इलाकों में हो रही शैक्षणिक प्रगति के साथ गति नहीं बना पाई' (रेगानी, 1973 : 178)। 'जागीरदार स्वयं ऐसी जिंदगी जी रहे थे जिसे निश्चित तौर पर बीसवीं सदी की जिंदगी नहीं कह सकते...वे बीते हुए युग की सामंती आदतों में गर्क हुए थे। वे नजराने के तौर पर पैसों और वस्तुओं की भेंट लेते थे तथा इसके अलावा भी परजीवी की तरह जिंदगी जीते थे और इनकी आमदनी के कई और रास्ते थे। पर इस सबके साथ जागीरदार अपनी जागीर की जिम्मेदारियों को लेकर बिलकुल लापरवाह थे...जागीरदार और उनके ऊपर निर्भर रहने वाले लोगों को, एक वर्ग के रूप में, पढ़े-लिखे नहीं कहा जा सकता था। बावजूद इसके कि उनके पास सब साधन और स्रोत मौजूद थे। न तो उनकी कोई बौद्धिक उपलब्धियां और न ही उनका सामाजिक चिंतन समय के साथ रफ्तार रख सका था' (डॉ. खुसरो, रेगानी, 1973 : 179 में)।

निजी शालाएं : औपचारिक शिक्षा की बदतर हालत ने निजी शालाओं की जरूरत पैदा कर दी थी यानी बच्चों को पढ़ाने की व्यवस्था लोगों को स्वयं ही करनी पड़ी थी। ऐसी शालाओं को खानगी शालाएं कहते थे। ये निजी शालाएं एक शिक्षक वाली शालाएं होती थीं। इस शिक्षक का खर्च विद्यार्थियों के अभिभावक उठाते थे। शिक्षक को मिलने वाला भुगतान या पारिश्रमिक काफी कम होता था क्योंकि अभिभावक स्वयं ज्यादा कुछ देने की स्थिति में नहीं होते थे। शिक्षकों को मिलने वाली भुगतान की राशि आठ-दस रुपए प्रति माह के आसपास होती थी। हालांकि स्थानीय भाषाओं वाले निजी स्कूल अधिक संख्या में थे जैसा कि तालिका IV से स्पष्ट है।

ये शालाएं दलितों के लिए नहीं थीं क्योंकि न तो उनके अभिभावक शिक्षकों को पारिश्रमिक दे सकते थे और न ही उनके बच्चों को ऊपरी जाति के बच्चों के साथ बैठने की अनुमति थी। सरकारी शालाओं में भी ये दलित बच्चे अलग से बैठाए जाते थे या फिर उनके लिए अलग से स्कूल खोले जाते थे (जनगणना, 1931 : 214)। इस सबके बावजूद उन दयनीय परिस्थितियों में ग्रामीण इलाकों में (जागीर क्षेत्रों समेत) निजी शालाएं महत्वपूर्ण संस्थान होते थे। दिलचस्प बात यह है कि निजी स्कूलों के बारे में सूचनाएं पुलिस द्वारा इकट्ठी की जाती थीं, न कि अन्य स्कूलों की तरह स्कूल निरीक्षकों के द्वारा। पुलिस का इस्तेमाल अकारण नहीं था। सरकार इन स्कूलों और शिक्षकों को लेकर सशंकित थी। ये स्कूल राजनीतिक लामबंदी के क्षेत्र माने जाते थे और इसीलिए इनको लेकर शंकाएं भी थीं।

तालिका IV

हैदराबाद रियासत में निजी तथा स्थानीय भाषी शालाएं

वर्ष	*अंग्रेजी*	*इस्लामिया*	*वैदिक*	*उर्दू*	*मराठी*	*तेलुगु*	*कन्नड़*	*दूसरी भाषा वाले*	*गुजराती*
1331 एफ	50	96	6	156	1103	1353	389	894	6
1332 एफ	50	96	6	156	1103	1353	389	894	6

स्रोत : लोक शिक्षण संचालक की रपट, 1332 एफ.

वर्ष 1918-19 में 3,907 निजी शालाएं हैदराबाद की रियासत में थीं। इनमें 71,265 विद्यार्थी पढ़ने आते थे। इसी वर्ष, 3,556 सरकारी स्कूल थे जिनमें लगभग 1,85,929 विद्यार्थी थे (हैदराबाद, 1329 एफ)। यह स्पष्ट है कि निजी शालाओं में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की

मादापाती हनुमंतराव के अनुसार, 'आंध्र जन केंद्र संगम के सक्रिय कार्यकर्ताओं ने इन नियमों के खिलाफ लड़ाई लड़ी। यह पूरी प्रक्रिया काफी थकाने वाली थी। इससे कुछ खास सकारात्मक परिणाम निकला भी नहीं था। इन शालाओं के शिक्षक बहुत गरीब थे। शालाओं के बंद होने से उनकी हालत और भी बदतर हो गई। इन शालाओं को बंद करने के आदेश सरकारी स्कूलों के प्रधानाध्यापकों और पुलिस के लोगों से आए थे तथा निवेदनों और विरोध से कोई मदद नहीं मिली थी' (राव, 1950)।

निजाम सरकार के इस तरह के रवैए से स्थानीय पहल का जोश ठंडा पड़ गया। बात इस हद तक थी कि यदि गांव के लोग अपने बच्चों को तेलुगु में पढ़ाने के लिए कुछ अनौपचारिक व्यवस्था करते भी तो उन्हें वह भी नहीं करने दिया जाता था। रेड्डी बताते हैं, 'निजी शालाओं पर लगाए गए इन प्रतिबंधों का असर राज्य में शिक्षा के प्रसार के लिए इतना भयंकर और हानिकारक था कि ये शालाएं जिनकी संख्या इन नियमों के लागू होने से पहले, 1929 में, 4053 थी वह 1936 में 929 तक आ गई थी' (रेड्डी, 1983 : 652)।

तालिका VI

अन्य राज्यों में साक्षरता प्रतिशत

क्रमानुसार	*राज्य*	*साक्षरता प्रतिशत*
1	त्रावनकोर	47.7
2	कोचीन	35.4
3	बड़ौदा	22.9
4	बंबई	19.5
5	बंगाल	16.1
6	मद्रास	13.0
7	पंजाब	12.9
8	मैसूर	12.2
9	असम	11.5
10	सेंट्रल प्रोविंस और बरार	11.4
11	हैदराबाद	9.3
12	यूनाइटेड प्रोविंस	8.5
13	कश्मीर	6.6
	संपूर्ण भारत	12.2

(जनगणना, 1941)

स्पष्ट है कि ये शर्तें स्वतंत्र प्रयासों को खत्म करने का बहाना थीं। 1942 तक आते-आते निजी शालाओं, प्राथमिक, माध्यमिक या उच्चतर माध्यमिक कोई भी हों, सबको चलाने के लिए सरकारी अनुमति लेना आवश्यक हो गया था। हालांकि 1942 के बाद प्राथमिक और माध्यमिक शालाएं चलाने की शर्तों में कुछ ढिलाई दे दी गई थी। फिर भी इससे वास्तविक परिस्थिति में कोई खास फर्क नहीं पड़ा क्योंकि उच्चतर माध्यमिक शालाओं के साथ-साथ इन शालाओं का भी शिक्षा विभाग की ओर से समय-समय पर निरीक्षण किया जाता था। इस तरह अविश्वास और शक के माहौल में जब कुछ प्रायोजकों द्वारा शर्तें पूरी भी कर दी जाती थीं तब भी उन्हें स्कूल चलाने की अनुमति नहीं दी जाती थी। गांव के लोग अगर अपने सामूहिक प्रयत्न से शाला भवन या शिक्षक की व्यवस्था के लिए धन भी जुटा लेते (जो व्यवस्था वास्तव में सरकार या स्थानीय बोर्ड को करनी चाहिए थी) तब भी शालाएं नहीं चलाने दी जाती थीं।

साक्षरता स्तर : यदि निजाम रियासत की साक्षरता दर की तुलना देश के अन्य हिस्सों की साक्षरता दर से की जाए तो पता चलता है कि निजाम रियासत में साक्षरता दर सबसे कम थी। 1901 में यहां की साक्षरता दर तीन प्रतिशत थी। यह वह वक्त था जब श्रीकृष्णा देवरैय्या आंध्र भाषा निलयम नामक प्रथम तेलुगु पुस्तकालय हैदराबाद के रेसीडेंसी क्षेत्र, जो अंग्रेज सरकार के हिस्से में था, में शुरू किया गया था। मद्रास प्रेसीडेंसी में 1881 में साक्षरता दर 13.8 प्रतिशत पुरुषों में थी और 9 प्रतिशत महिलाओं में (मद्रास, 1960 : 68)। 'यह मानना चाहिए कि रियासतों में साक्षरता दर काफी कम थी' (समिति, 1938 : 10)। हिंदुस्तान के कुछ राज्यों की साक्षरता प्रतिशत के तुलनात्मक आंकड़े तालिका VI में दिखाए गए हैं जो हैदराबाद की रियासत की बदतर स्थिति दरशाती है। हैदराबाद राज्य अपनी अत्यंत निम्न साक्षरता दर के कारण लगभग (दो को छोड़कर) तालिका में सबसे नीचे है।

फीस, शालाओं की संख्या, निजी प्रयासों पर प्रतिबंध और शिक्षा की भाषा के संदर्भ में देखें तो निजाम रियासत में सबसे बदतर शिक्षा व्यवस्था थी। निम्न साक्षरता दर और शिक्षा में पिछड़ेपन के लिए मुख्यत: यही कारण जिम्मेदार हैं। 1911 से 1951 के बीच परिस्थितियों में कोई खास सुधार नहीं हुआ।

शिक्षा की भाषा, माध्यम का प्रश्न : हैदराबाद रियासत तीन भाषायी क्षेत्रों को मिलाकर बनी थी। इसमें तेलंगाना क्षेत्र के तेलुगु भाषी आठ जिले जिसमें रियासत की राजधानी हैदराबाद शहर भी शामिल था; मराठवाड़ा क्षेत्र के पांच मराठी भाषी जिले; और तीन कन्नड़ भाषी जिले शामिल थे। निजाम की रियासत में मात्र 12 प्रतिशत लोगों की भाषा उर्दू थी। इसके बावजूद स्थानीय भाषाओं के माध्यम के स्कूल प्राथमिक स्तर के आगे नहीं थे।

हैदराबाद शहर के अलावा रियासत के किसी भी अन्य हिस्से में उर्दू बोलने वाले लोग बहुमत में नहीं थे। 1918 में जब उस्मानिया विश्वविद्यालय की शुरुआत हुई तब

आम तौर पर इसे एक प्रगतिशील कदम माना गया था। लेकिन जल्दी ही इस विश्वविद्यालय का स्थान एक प्रादेशिक विश्वविद्यालय स्तर का बन गया था। केवल उर्दू माध्यम की शालाएं और महाविद्यालय इस विश्वविद्यालय से संबद्ध हो सकते थे। 1920–1930 में बहुत सारे जोशीले व्यक्तियों के स्थानीय भाषाओं में स्कूल तथा महाविद्यालय शुरू करने के सभी प्रयासों को खत्म कर दिया गया। उदाहरणार्थ, हैदराबाद में आंध्र बालिका हाई स्कूल 1928 में आंध्र जन संगम द्वारा शुरू किया गया था। यह एक तेलुगु माध्यम की शाला थी। 1933 में इस स्कूल से तेलुगु माध्यम से दसवीं कक्षा की परीक्षा देने वाला पहला समूह निकला था। उस्मानिया विश्वविद्यालय ने इस शाला को यह कहकर मान्यता देने से इनकार कर दिया कि '...हालांकि इस विश्वविद्यालय की नीति मातृभाषा में शिक्षा को बढ़ावा देना है, लेकिन अधिनियम के अनुसार यहां मातृभाषा का अर्थ उर्दू भाषा है' (रेगानी, 1973 : 189)।

मद्रास प्रेसीडेंसी में स्थित आंध्र विश्वविद्यालय और निजाम रियासत उसके अधिकार क्षेत्र के बाहर थी इसलिए वह भी तेलुगु माध्यम से पढ़ी इन लड़कियों की कोई मदद नहीं कर सका। ऐसे में महर्षि कर्वे ने इन लड़कियों की मदद की और इनको बचाया और उन्हें पूना स्थित कर्वे इंस्टीच्यूट के तत्वावधान में परीक्षा देने की अनुमति दी (श्रीनिवासुलु, 1991 : *साक्षा.*)।

प्राथमिक स्तर पर शिक्षा की भाषा का मुद्दा सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण था। विडंबना यह थी कि शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा के महत्व को निजाम के अधिकारी भी गहराई से समझते थे। जैसा कि हैदराबाद राज्य के शिक्षा सचिव नवाब सर अकबर हैदरी के 1925 में पंजाब विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में दिए भाषण से स्पष्ट है। इस भाषण में उन्होंने कहा था, 'अगर आप मुझसे पूछें कि मेरे मन में वर्तमान शिक्षा की सबसे प्रमुख कमजोरी क्या है तो मैं बिना हिचक के जवाब दूंगा कि वह है शिक्षा के प्रमुख माध्यम के रूप में विद्यार्थी की अपनी मातृभाषा के स्थान पर अन्य भाषा का इस्तेमाल।' वे आगे कहते हैं, 'दूसरी भाषा में शिक्षा देने से मानसिक ऊर्जा व्यर्थ जाती है और बच्चों को इस प्रक्रिया से दोहरा त्रास झेलना पड़ता है। इस प्रकार होने वाला नुकसान बहुत ज्यादा है और इसे सुधारा नहीं जा सकता क्योंकि बच्चों के ऊपर यह उनकी सबसे ज्यादा ग्रहण करने वाली व प्रभावित होने वाली उम्र में थोपा जाता है...' (मेकेंजी, 1936 : 43)।

1935 में राज्य सरकार ने उस्मानिया विश्वविद्यालय के प्रो-उपकुलपति डॉ. ए. मेकेंजी के अधीन एक समिति का गठन किया था। इस समिति का काम हैदराबाद राज्य की शिक्षा के पुनर्गठन की समस्याओं के बारे में पड़ताल करना और रपट देना था। शिक्षा के माध्यम के प्रश्न पर इस समिति का मत था कि राज्य की नीति सही है और आर्थिक रूप से एक ठीक बीच का रास्ता है—यानी प्राथमिक स्तर के बाद शिक्षा का माध्यम उर्दू होना चाहिए लेकिन कुछ विशेष मामलों में शिक्षा विभाग अंग्रेजी भाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकृति दे सकती है। दूसरे शब्दों में कहें तो समिति द्वारा यह सिफारिश की गई थी

कि उस समय की शिक्षा के माध्यम के संदर्भ में मौजूदा नीति को बदलने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। उस समय की नीति के अनुसार प्राथमिक स्तर के बाद स्थानीय भाषाओं में पढ़ाई नहीं होनी चाहिए (मेकेंजी, 1936)।

इस समिति ने शिक्षा के माध्यम के मुद्दे के संदर्भ में बहुत से महत्वपूर्ण लोगों के साथ साक्षात्कार किए। इन लोगों में गोलकुंडा पत्रिका के प्रतिनिधि सुरावरम प्रताप रेड्डी, आंध्र महासभा के मादापाती हनुमंतराव और डिवीजनल शाला निरीक्षक सैयद अली अकबर भी शामिल थे (मेकेंजी, 1936 : 68)।

मेकेंजी की इस रपट से एक बात स्पष्ट रूप से उभरती है कि जो लोग सरकारी कर्मचारी नहीं थे जैसे सुरावरम प्रताप रेड्डी या मादापाती हनुमंतराव, उन्होंने प्राथमिक स्तर के बाद भी शिक्षा मातृभाषा में ही देने की जोरदार पैरवी की। कुछ लोगों ने अंग्रेजी को दूसरी भाषा का दर्जा देने का प्रस्ताव भी रखा। लेकिन सरकार की नीति नहीं बदली। नीति नहीं बदलने के लिए निम्नलिखित कारण दिए गए थे :

- प्रशासन की भाषा उर्दू है इसलिए सबको उर्दू भाषा सीखनी चाहिए।
- यदि स्थानीय भाषा की शालाओं की एक समांतर शिक्षा व्यवस्था भी शुरू कर दी गई तो खर्चा भी दोगुना हो जाएगा और सरकार इस दोगुने खर्च को वहन करने की स्थिति में नहीं है।

अकबर हैदरी ने एक ज्यादा बुनियादी कारण पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा, 'हालांकि यह सच है कि जिनकी मातृभाषा उर्दू है वे अल्पसंख्यक हैं लेकिन उर्दू राज्य की सांस्कृतिक और औपचारिक तथा संभ्रांत समाज की भाषा है। यह भाषा आम तौर पर उन वर्गों की भाषा है जिनसे निकले हुए विद्यार्थी आगे महाविद्यालयों में पढ़ने के लिए जाते हैं' (जनगणना, 1931 : 217)।

मेकेंजी की रपट का ध्यान से अध्ययन करने पर यह दिखता है कि यदि इस मुद्दे पर कभी कोई बहस थी भी तो वह अंग्रेजी और उर्दू भाषा के संदर्भ में ही थी। निजाम रियासत के 90 प्रतिशत लोगों की स्थानीय भाषाओं का कोई महत्व शासकों के लिए नहीं था और इसीलिए वे कभी शासकों के लिए बहस का मुद्दा नहीं बनीं (मेकेंजी, 1936)।

सैयद अली अकबर ने सुधार समिति को अपना वक्तव्य एकदम स्पष्ट शब्दों में दिया जिसमें उन्होंने बहुसंख्यकों को पूरी तरह से नजरअंदाज किया था। इनका वक्तव्य वास्तव में निजाम सरकार की शिक्षा के माध्यम से जनता पर सांस्कृतिक और भाषायी वर्चस्व स्थापित करने की स्पष्ट नीति दरशाता है। इस समिति की रपट के अनुसार, 'वे (सैयद अली अकबर) राज्य द्वारा सभी संस्थानों में शिक्षा का नियंत्रण करने के पक्ष में हैं।' इसी रपट में आगे लिखा है, 'वे सभी उच्चतर माध्यमिक शालाओं और विश्वविद्यालयों में उर्दू के माध्यम के पक्ष में हैं और मानते हैं कि इस नीति को व्यावहारिक रूप देने में कोई गंभीर समस्या सामने नहीं आएगी' (मेकेंजी, 1936 : 52-53)।

महाविद्यालयीय स्तर पर शिक्षा का माध्यम : जैसा कि ऊपर लिखा है कि प्राथमिक स्तर के बाद शिक्षा का माध्यम या तो अंग्रेजी था या उर्दू। माध्यमिक शाला के स्तर पर हालांकि कुछ स्कूलों का माध्यम स्थानीय भाषाएं थीं, पर उच्चतर माध्यमिक स्तर पर ऐसे स्कूल नहीं थे। महाविद्यालयीय स्तर की शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा समेत जैसे, कानूनी पढ़ाई, अभियांत्रिकी, आयुर्विज्ञान आदि सभी कुछ उर्दू में था। 1336 फजली के एक फरमान में लिखा था, 'विश्वविद्यालय के काम करने का बुनियादी सिद्धांत यह होना चाहिए कि उर्दू उच्च शिक्षा प्राप्त करने का माध्यम हो लेकिन एक भाषा के रूप में अंग्रेजी भाषा की जानकारी होना सभी विद्यार्थियों के लिए जरूरी है।'

निजाम सरकार का एक अनुवाद ब्यूरो भी था। इसकी शुरुआत 1926 में उस्मानिया विश्वविद्यालय में की गई थी। इस ब्यूरो का काम अंग्रेजी पुस्तकों को उर्दू में अनूदित करवाकर छपवाना था। निजाम ही एकमात्र ऐसा शासक था जिसके राज्य में अल्पसंख्यकों की भाषा उर्दू जैसी एक स्थानीय भाषा को प्रोत्साहन दिया गया। जिन लोगों ने हैदराबाद राज्य में महाविद्यालयीय स्तर की उच्च स्तरीय शिक्षा प्राप्त की थी वे याद करते हैं (अय्यर, 1991 : *साक्षा.* ; नईम : 1991 : *साक्षा.*) कि उन्होंने अभियांत्रिकी और उच्च स्तरीय अर्थशास्त्र की पढ़ाई उर्दू में की थी। जहां तक संभव हुआ इस अनुवाद ब्यूरो ने विज्ञान, आयुर्विज्ञान, अर्थशास्त्र, अभियांत्रिकी आदि सभी विषयों की उच्च स्तरीय किताबों का अनुवाद करवाकर उन्हें छापा और विद्यार्थियों को उपलब्ध करवाया था। एक दृष्टि से यह काफी महत्वपूर्ण बात थी कि व्यावसायिक शिक्षा तक अंग्रेजी नहीं, बल्कि एक स्थानीय भाषा में उपलब्ध करवाई। परंतु साथ ही याद रखने की बात यह भी है कि यह स्थानीय भाषा शासकों की भाषा थी, न कि बहुसंख्यक जनता की।

आंध्र महासभा का उदय

आम तौर पर शैक्षिक परियोजनाओं या कार्यक्रमों की चर्चा उनके सामाजिक, राजनीतिक या सांस्कृतिक संदर्भों में नहीं की जाती है। यह अध्ययन दरशाता है कि निजाम के शासन के दौरान तेलंगाना क्षेत्र में शिक्षा की कोई भी चर्चा यदि उस समय के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक संदर्भ से अलग करके की गई तो वह न तो उस समय का पूरा चित्र प्रस्तुत करेगी और न ही वहां के पुस्तकालय और शिक्षा के आंदोलन के उभरने की प्रक्रिया को समझा पाएगी। संदर्भ से कटी हुई ऐसी बहस यह भी नहीं समझा पाएगी कि पुस्तकालय और शैक्षिक आंदोलनों में बदलती हुई राजनीतिक परिस्थिति का क्या असर हुआ या पुस्तकालयों का शहरों से निकलकर कसबों तथा गांवों तक पहुंचने की प्रक्रिया ने किस प्रकार के दबाव इस आंदोलन पर बनाए? शायद इस आंदोलन में सक्रिय लोगों में से किसी

के लिए भी उसकी भविष्य की राजनीतिक दिशा, महत्व और परिणामों के विषय में भविष्यवाणी करना संभव नहीं था।

शुरुआत : इस आंदोलन की शुरुआत एक उदारवादी प्रजातांत्रिक मंच के गठन से हुई थी। इस मंच की शुरुआत ऐसे तेलुगु बुद्धिजीवियों ने की थी जो लोगों को शिक्षित करके और तेलुगु किताबें प्रकाशित करके तेलुगु भाषा, संस्कृति और साहित्य को आगे बढ़ाने की तमन्ना रखते थे और भाषा को उसकी खोई हुई शान तथा अस्मिता वापस दिलवाना चाहते थे। शायद शुरुआत में इस आंदोलन के नेतृत्व ने यह नहीं सोचा था कि भाषायी अस्मिता, संस्कृति और संस्कृति के प्रश्न के आधार आर्थिक संबंधों के साथ गहराई से जुड़े हैं तथा इन संबंधों के द्वारा आकार लेते हैं। इसलिए जन शिक्षा का काम जो जागरूकता बढ़ाने के लिए किया गया था वह प्रतिष्ठा और न्याय की लड़ाई में बदल गया था यानी अधिरचना (सुपर स्ट्रक्चर) के स्तर पर साक्षर से मौखिक परंपराओं में और आधार (बेस) के स्तर पर सामंतवाद के खिलाफ लड़ाई में।

सामंतवादी संदर्भ में उदार प्रजातांत्रिक पहल : निजाम के सामंती शासन में समृद्ध प्राकृतिक स्रोतों, उद्योगीकरण और कृषि के व्यवसायीकरण के बावजूद तेलंगाना की आम जनता गरीब, भूखी तथा शोषण से त्रस्त थी। अपेक्षित औसत जीवनकाल मात्र 25.9 वर्ष थी और इसमें 1891 के बाद के चालीस वर्षों में भी खास बदलाव नहीं आया था। आदिवासी लोगों में अपेक्षित औसत जीवन काल और भी कम था। (गुप्ता, 1986 : 7)। अर्थशास्त्री केशव आयंगर के नेतृत्व में आयंगर समिति ने निजाम रियासत में आर्थिक जांच की। इससे पहली बार गांवों के स्तर पर आम लोगों की आर्थिक परिस्थितियों (आर्थिक और सामाजिक शोषण समेत) पर प्रकाश पड़ा। इन्हीं केशव आयंगर के अनुसार 'गांवों में निम्न वर्गों का कमजोर डील डौल मुख्यत: वेट्टी तथा बंधुआ मजदूरी, इन दो व्यवस्थाओं के कारण था जिनके कारण मजबूत लोगों को कमजोर लोगों को चूसने का अधिकार मिला था' (रेगानी, 1973 : 181)।

निजाम रियासत में कृषि के व्यवसायीकरण से सामंती शोषण में कुछ निजात मिलने के बजाए यह और भी बढ़ा। इसी कारण उद्योगों के लिए पूंजी कृषि से पैदा हुए अतिरेक (अतिरिक्त भाग) के बजाए सरकार से आई। 'हैदराबाद की कंपनियों की प्रबंधन के स्तर पर असफलता के बावजूद ब्रिटिश भारत में स्थित भारतीय कंपनियों की तुलना में बहुत सी परिस्थितियां इनके पक्ष में थीं। यह स्पष्ट सबूत है कि यहां की व्यवस्था सामंती थी' (सुब्बाराव, 1988 : 149)। सरकार ने वेट्टी और बंधुआ मजदूरी खत्म करने के लिए फरमान जारी किया था लेकिन इसका इन सामंती ढांचों पर कोई असर नहीं पड़ा (रेगानी, 1973 : 181)। फरमान एक प्रभावहीन (दंतविहीन) राजाज्ञा साबित हुआ। बाद में आंध्र महासभा के सक्रिय कार्यकर्ताओं ने इसका उपयोग जागरूकता बढ़ाने के लिए प्रचार सामग्री

के रूप में जरूर किया।

सुंदरैया के अनुसार, 'निजाम नवाब का शासन एक निरंकुश शासन था। इस शासन में गांव से लेकर राज्य स्तर तक कोई भी निर्वाचित निकाय नहीं थे।' वे आगे कहते हैं, '...साहित्यिक आयोजनों या आम सभा करने के लिए भी चाहे वह साहित्यिक कारणों से हो, स्थानीय अधिकारी से पूर्व अनुमति लेनी पड़ती थी। ऊपर से नीचे तक यह निरंकुश अधिकारियों का शासन था' (सुंदरैया, 1972 : 18)।

जन शिक्षा के प्रति सरकारी उदासीनता (निकम्मापन) : पिछले दो भागों से यह स्पष्ट है कि सामंती प्रभुत्व और व्यवस्था के कारण छोटे शहरों और गांवों में उदार प्रजातांत्रिक गतिविधियों के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं बची थी। शैक्षिक गतिविधियां बड़े शहरों तक सीमित हो गई थीं। हालांकि शहरों में भी उच्च शिक्षा बहुत ही कम तेलुगु लोगों की पहुंच के भीतर थी। वैसे हैदराबाद रियासत की प्रशासनिक तथा जनगणना रपटों का अध्ययन करने से ऐसा लगता है कि जैसे निजाम सरकार जन शिक्षा को लेकर बहुत चिंतित थी। इन रपटों में जरूरी प्राथमिक शिक्षा, साक्षरता और प्रौढ़ शिक्षा तथा पिछड़ी जाति और वर्गों की शिक्षा पर चर्चाएं हैं। लेकिन वास्तव में आम जनता को उत्पीड़न की परिस्थितियों से छुटकारा दिलाने के लिए राजनीतिक प्रतिबद्धता या दृढ़ता के कोई साक्ष्य नहीं मिलते।

शैक्षिक अभावों का असली चित्र निजाम सरकार की रपटों से नहीं, बल्कि आंध्र महासभा के सक्रिय कार्यकर्ताओं, नेतृत्व, स्वतंत्र शोधकर्ताओं के लेखन और उस दौरान की साहित्यिक रचनाओं में उभरता है। रजवी लिखते हैं, 'शायद यह जानकारी बहुत ही विचित्र लगे कि उस दौरान जब हैदराबाद राज्य की कुल जनसंख्या 1.65 करोड़ थी तब वहां मात्र दो स्नातक महाविद्यालय थे जिसमें लगभग 1,600 विद्यार्थी पढ़ते थे और प्राथमिक शालाओं में विद्यार्थियों की कुल संख्या तीन लाख के लगभग थी' (रजवी, 1985 : 3)।

शिक्षा की जानबूझकर अवहेलना की नीति : जन शिक्षा के प्रसार के परिणामों का डर निजाम रियासत के शासकों द्वारा उठाई गई आपत्तियों में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होता है। ये आपत्तियां निजाम सरकार की नीतियों का रहस्योद्घाटन करती हैं। यह दिखाती हैं कि आम जनता के लिए जरूरी शिक्षा जैसा मुद्दा क्यों कभी भी गंभीरतापूर्वक नहीं उठाया गया बल्कि जो उभरकर आता है वह उसका उलटा है। यानी कि प्रमुख चिंता यह थी कि कैसे आम जनता शिक्षित नहीं होनी चाहिए अन्यथा निरंकुश सरकार चलाना या उनके ऊपर राज करना मुश्किल हो जाएगा। कुछ आपत्तियां इस प्रकार थीं :

- जरूरी शिक्षा आम लोगों में असंतोष फैलाएगी इसलिए ऐसी योजना की शुरुआत ही नहीं करनी चाहिए।

- जरूरी शिक्षा के परिणामस्वरूप लोग सरकार के खिलाफ विद्रोह भड़काएंगे। सरकारी अधिकारियों का रुतबा कायम नहीं रह पाएगा।
- सामान्य शिक्षा अभिजात, कुलीन और राजसी लोगों तथा आम जनता के बीच का भेद मिटा देगी (फ्रीडम, 1957 : 65)।

राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव और राजसत्ता का आम जनता को इससे दूर रखने के प्रयास : निजाम रियासत के शासकों ने जनता को राष्ट्रीय आंदोलन समेत किसी भी प्रकार की राजनीतिक उथल-पुथल की लहर से दूर रखने का भरसक प्रयास किया। हर प्रकार से यह कोशिश की गई कि पड़ोसी राज्यों से सूचनाओं और लोगों की आवाजाही पर पाबंदी रहे। 'अतिवादी, विदेशी और भारतीय अखबारों के रियासत में घुसने पर पाबंदी लगाने के लिए ठोस प्रस्ताव बनाए गए। सारी राष्ट्रीय शालाओं और ये शालाएं शुरू करने वाले हर व्यक्ति की पृष्ठभूमि आदि के बारे में सारी जानकारी हासिल करने और उन पर नजर रखने का फैसला किया गया। किसी भी स्थानीय या बाहरी व्यक्ति द्वारा कोई भी राजनीतिक या लगभग राजनीतिक, राष्ट्रीय आंदोलन समेत विचार सिखाने की मनाही थी जिनका उद्देश्य आम जनता को उत्तेजित करना हो' (रमेशन, 1966 : 20)।

लेकिन हैदराबाद रियासत की आम जनता को बाकी देश में जो कुछ घट रहा था उससे काटकर रखने में निजाम पूरी तरह से सफल नहीं हो सका था। बल्कि दमनात्मक रवैए ने परिस्थितियों को और विस्फोटक तथा लोगों को ज्यादा व्याकुल कर दिया था। राजसत्ता और भी ज्यादा रक्षणात्मक हो गई तथा अपने हर क्रियाकलाप का बचाव करने लगी। वह किसी भी प्रकार के जनसमूह या आम सभा यहां तक कि साहित्यिक और शैक्षिक गतिविधियों तक को लेकर भी सशंकित हो जाती थी। 1921 में निजाम सरकार ने एक अति साधारण गजट अधिसूचना जारी की जिसे घास्ती नं. 52 के नाम से जाना जाता है। इसके अनुसार, बिना पुलिस आयुक्त की अनुमति और एजेंडा की स्वीकृति के किसी भी प्रकार की राजनीतिक गोष्ठी नहीं की जा सकती थी। इस अधिसूचना के अनुसार मात्र अराजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक गोष्ठियां करने की अनुमति थी। परंतु प्रमुख रुकावट यह थी कि पुलिस आयुक्त को यह अधिकार तथा ताकत मिली हुई थी कि वह किसी भी गोष्ठी को राजनीतिक गोष्ठी करार करके अनुमति देने से इनकार कर सकता था। इसके बाद 1929 में एक और अधिसूचना, घास्ती नंबर 53 जारी की गई। इस अधिसूचना के अनुसार गोष्ठी, वक्ता का नाम, गोष्ठी का एजेंडा, और वक्ता का भाषण, सब कुछ अनुमति प्राप्त करने के लिए पुलिस आयुक्त को देना जरूरी था (राव,,हनुमंथा मा.; 1950, रेगानी, 1973; रमेशन, 1966; नारायणराव, 1991 : *साक्षा.*)।

ब्रिटिश आंध्र में चल रहे तेलुगु आंदोलन का प्रभाव : मद्रास प्रेसीडेंसी के हिस्से, ब्रिटिश आंध्र में लोगों की स्थिति कम से कम निजाम रियासत की तुलना में काफी बेहतर थी।

वहां ज्यादा शालाएं और महाविद्यालय थे, ज्यादा तेलुगु पुस्तकालय थे तथा उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं और महाविद्यालय स्तर पर भी शिक्षा की भाषा तेलुगु थी। साहित्यिक और राजनीतिक गतिविधि के लिए वहां ज्यादा गुंजाइश थी। व्यावहारिक भाषोद्याममू (भाषा आंदोलन) नाम से एक आंदोलन ब्रिटिश आंध्र में चल रहा था जिसका प्रमुख उद्देश्य तेलुगु बोली (बोलचाल की आम लोगों की तेलुगु भाषा) को लोकप्रिय बनाना था।...तेलुगु बोली को आगे बढ़ाने के लिए संस्कृतनिष्ठ तेलुगु के रूढ़िवादी और परंपरावादी प्रणेताओं के खिलाफ युद्ध-सा करना पड़ता था। तेलुगु को 'ग्रंधिका भाषा' कहा जाता था। इन प्रयासों के कारण कई किताबें आम तेलुगु भाषा में प्रकाशित की गईं। इससे आम लोगों में किताबें पढ़ने की प्रवृत्ति में योगदान मिला (राजू, 1988 : 221)। राजू के अनुसार, वहां गांव पुस्तकालय और चालित पुस्तकालय भी थे। गांव पुस्तकालय की गतिविधियां कई प्रकार की थीं। इन गतिविधियों में प्रमुख थीं प्रौढ़ शिक्षा केंद्र चलाना, रात्रि शालाएं और महिलाओं के पढ़ने के लिए विशेष व्यवस्था आदि करना (राजू, 1988 : 244)।

पुस्तकालय और साहित्य संबंधी शुरुआती गतिविधियां जिनसे आंध्र जन केंद्र संगम का उदय हुआ : ब्रिटिश आंध्र में चल रही गतिविधियों से विचार तथा प्रोत्साहन लेकर बुद्धिजीवियों ने तेलंगाना में भी पुस्तकालयों की शुरुआत थी। पहला तेलुगु पुस्तकालय 1901 में हैदराबाद शहर में स्थापित किया गया था। मादापाती हनुमंत राव ने तेलंगाना में पुस्तकालय चलाने के काम और तेलुगु भाषा तथा साहित्य को आगे बढ़ाने में गहरी रुचि ली। निजाम शासन में किस प्रकार तेलुगु भाषा और जनता का दोयम दर्जे का स्थान है, इसकी चर्चा करके वे जमींदारों और जमीन के मालिकों का समर्थन जीत पाने में सफल हो गए थे (राव, वरवर, 1991 : *साक्षा.*)। कालोजी नारायण राव के अनुसार मादापाती हनुमंत राव जमींदारों से कहते थे कि उनके पास जमीन है, पर फिर भी निजाम के शासन में उनके साथ दोयम दर्जे के नागरिक के रूप में व्यवहार होता है। इस तरह से चुनौती देने से ये लोग समाज में अपने स्थान को बदलने के लिए कुछ करने को प्रेरित हो जाते थे (नारायण राव, 1991 : *साक्षा.*)।

लेकिन इस प्रकार की गोष्ठियां करने के मादापाती हनुमंत राव के प्रयास ज्यादा सफल नहीं हुए क्योंकि निजाम सरकार को किसी भी तरह की राजनीतिक या साहित्यिक गोष्ठियां स्वीकार नहीं थीं। इसी कारण से मादापाती का ध्यान शिक्षा की तरफ गया।

1921 में घटी एक घटना के परिणामस्वरूप पुस्तकालय आंदोलन के काम को ज्यादा व्यवस्थित शुरुआत हुई। हैदराबाद में विवेवर्धिनी महाविद्यालय में एक गोष्ठी में लगभग सभी चर्चाएं मराठी में हो रही थीं। जब एक तेलुगु व्यक्ति ने एक प्रस्ताव तेलुगु में पारित करवाने का प्रयास किया तो उसकी खिल्ली उड़ाई गई क्योंकि अपेक्षा यह थी कि एक तेलुगु भाषी व्यक्ति या तो अंग्रेजी में या उर्दू में प्रस्ताव लाएगा (रमेशन, सुंदरैया, रेगानी, वरवर राव, कालोजी नारायण राव, लगभग सभी लेखक अपने लेखों में इस घटना का

जिक्र करते हैं)। इस घटना से तेलुगु-भाषी लोगों की भावनाओं को बहुत ठेस पहुंची। तेलुगु बुद्धिजीवियों को इस घटना से अत्यधिक अपमान महसूस हुआ। उन्होंने उसी दिन तेलुगु भाषा और संस्कृति को पुनर्जीवित करने के लिए आंध्र जन संगम के नाम से एक संगठन की शुरुआत की जिसका नेतृत्व मादापाती हनुमंत राव को दिया गया।

रेगानी (1972) के अनुसार, 'आंध्र जन संगम, तेलुगु लोगों में सामान्य ज्ञानोदीप्ति (एनलाइटनमेंट) लाने के लिए प्रतिबद्ध था।' 1924 में इसके लक्ष्य और उद्देश्य ज्यादा स्पष्ट शब्दों में परिभाषित किए गए थे। ये लक्ष्य और उद्देश्य इस प्रकार थे :

1. पुस्तकालयों और वाचन केंद्रों की स्थापना करना,
2. विद्यार्थियों की मदद करना और उन्हें प्रोत्साहन देना,
3. विद्वानों को आदर देना,
4. पांडुलिपियां इकट्ठी करके शोध करना,
5. सार्वजनिक भाषणों, छोटी-छोटी पुस्तिकाओं और परचों के माध्यम से ज्ञान का प्रसार करना,
6. तेलुगु भाषा को आगे बढ़ाना,
7. संस्कृति और कला को प्रोत्साहन देना।

(रमेशन, 1966 : 44)।

बैरी पेवियर लिखते हैं, 'शुरू में जन संगम केवल हैदराबाद शहर में सीमित था। हनुमंत राव ने स्थानीय संगठनों को प्रोत्साहित किया और इस प्रकार अप्रैल 1924 में राज्य स्तरीय संगठन, आंध्र जन केंद्र संगम का गठन हुआ। इसकी गतिविधियों का लक्ष्य छोटे पूंजीपति (या मध्यम वर्ग) था। इसके अलावा विद्यार्थियों को मदद और पूरे तेलंगाना में पुस्तकालय खोलना इसका उद्देश्य था। पहले 12 वर्षों में इसके द्वारा 100 पुस्तकालय खोले गए' (पेवियर, 1981 : 67)।

वरवर राव के अनुसार, 'शिक्षा मादापाती राव का प्रमुख उद्देश्य था' (राव, वरवर, 1991 : *साक्षा.*) और मादापाती राव के अनुसार शालाएं स्थापित करना आंध्र जन केंद्र संगम का प्रमुख उद्देश्य था (राव, हनुमंत मा., 1950)। शुरुआत में आंध्र जन केंद्र संगम (संगम, इसके बाद) का जोर पुस्तकालय खोलने, तेलुगु पुस्तकें प्रकाशित करने, तेलुगु माध्यम की शालाएं खोलने, भजन मंडलियां या भजन समाज, इत्यादि बनाने पर था (नारायण राव, 1991 : *साक्षा.*)। धीरे-धीरे मादापाती को समझ में आया कि यह सब गांव वालों के समर्थन के बिना नहीं किया जा सकता। इसलिए संगम के लोगों ने तय किया कि वे शिक्षा और पुस्तकालयों का संदेश फैलाने के लिए एक बड़ा अभियान शुरू करेंगे। इसके लिए चार तरीके अपनाए गए—छोटी-छोटी पुस्तिकाएं प्रकाशित करना, लोगों के साथ संपर्क बनाना, आम सभाएं करना तथा समाचार पत्र प्रकाशित करना।

मध्यम वर्गों से समर्थन जुटाना : संगम ने उन व्यापारियों को संगठित किया जिन्होंने निजाम सरकार के अधिकारियों, पुलिस तथा गांव में पुलिस पटेलों की ज्यादतियों का सामना करने के लिए संगम की मदद चाही थी। व्यापारियों को इन अधिकारियों को किराना और हर अन्य सामान मुफ्त में पहुंचाना पड़ता था। संगम ने 'वर्तका स्वातंत्रयामु' (व्यापारियों की स्वतंत्रता) नाम का एक परचा निकाला। इस परचे से व्यापारियों का समर्थन तुरंत मिला। वे संगम के पक्के समर्थक बन गए। आर्थिक रूप से संपन्न तबके का यह समर्थन संगम की विभिन्न गतिविधियों का आयोजन करने में बहुत उपयोगी साबित हुआ (रेगानी, 1973 : 188)।

संगम की गतिविधियां : फरमानों के आधार पर संगम ने तेलुगु में पुस्तिकाएं प्रकाशित कीं। इनमें मुफ्त और जबरदस्ती कराए गए श्रम पर प्रतिबंध लगाने की बात कही गई थी। संगम ने सरल तेलुगु भाषा में करीब 20 छोटी पुस्तिकाएं प्रकाशित कीं (रमेशन, 1966)। निजाम रियासत में आम जनता की हालत, वेट्टी, पुस्तकालय आंदोलन, अभिव्यक्ति की आजादी, चरखा कर, शिक्षा की समस्याएं आदि विषयों पर पुस्तिकाएं छापी गईं।

संगम ने लगभग 4,000 निजी शालाएं भी खोलीं। इनमें से अधिकतर को बाद में निजाम सरकार की कड़ी शर्तों के कारण बंद करना पड़ा। इस कारण इसके बाद संगम ने अपना ध्यान उस समय चल रहे सरकारी शालाओं के स्तर को सुधारने में लगाया।

निजाम सरकार की प्रतिक्रिया : जैसा पहले भी कहा गया है, निजाम सरकार संगम की सभी गतिविधियों—शिक्षा, पुस्तकालय और आम सभाएं—को लेकर अत्यंत सशंकित रहती थी। उसने संगम के रास्ते में अनेकानेक बाधाएं डालीं—जैसे गोष्ठियों के लिए स्वीकृति न देना, गोष्ठियों को राजनीतिक बताकर अड़ंगा डालना, पुस्तकालय और शालाएं बंद कर देना, इत्यादि। हनुमंतराव राव ने लिखा है कि शालाओं को पुनः चालू करने के लिए स्वीकृति प्राप्त करने का प्रयास करना बहुत थकाने और समय खाने वाला अत्यंत मुश्किल काम होता था। इसके बाद भी अधिकतर ये प्रयास असफल हो जाते थे (हनुमंत राव मा., 1950)। उन्होंने बहुत विस्तार में लिखा है कि कैसे एक-एक साधारण गोष्ठी का आयोजन करना भी अपने आपमें बड़ा संघर्ष हो जाता था।

सरकारी अधिकारियों ने इन पुस्तकालयों को चलाने में अनेकानेक रुकावटें और समस्याएं खड़ी कीं। कभी कोई ग्रामीण या तालुका पुस्तकालय इसलिए बंद कर दिया जाता था क्योंकि पुलिस द्वारा लिखित अनुमति के लिए जोर दिया जाता। हालांकि पुस्तकालय शुरू करने के लिए पुलिस से लिखित अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं थी। फिर भी पुस्तकालय बंद करना पड़ा (गांव मनिकोंडा, जिला वारंगल)। इसके विरोध में संगम द्वारा बहुत सारी अर्जियां संबंधित अधिकारियों और कोर्ट को भेजी गईं। संबंधित अधिकारियों ने दो वर्षों तक कोई उत्तर नहीं दिया। लेकिन अदालत ने फैसला संगम के पक्ष में किया।

इस कारण से मनिकोंडा में पुस्तकालय खोलने की अनुमति तो मिल गई, लेकिन गोष्ठियां करने और कक्षाएं चलाने की अनुमति नहीं मिली (राव हनुमंत मा., 1950)।

मादापाती हनुमंत राव लिखते हैं कि गांवों में पुस्तकालय सचिवों को सरकारी अधिकारियों से बहुत सी समस्याओं का सामना करना पड़ता था। वे अनुदान देने वालों और अन्य समर्थकों को धमकियां देते थे और संगम के काम को सरकार विरोधी कहते थे। मादापाती हनुमंत राव के अनुसार इस तरह से सताने के, '...इतने उदाहरण हैं जितने अपने सिर पर बाल हैं' (राव हनुमंत मा., 1949)।

तेलंगाना के इतिहास पर चर्चा से भी शासक और उनके अफसर उखड़ जाते थे। 1927 में सिरसिला में संगम की एक गोष्ठी के दौरान उस सत्र का अध्यक्ष एक तहसीलदार उखड़ गया क्योंकि तब वहां यह चर्चा चल रही थी कि कैसे तेलंगाना के क्षेत्र में तेलुगु भाषा को पुनर्स्थापित और पुनर्जीवित करना चाहिए। उसने गुस्से में कहा था कि तेलुगु एक मृत भाषा है और उसे पुनर्जीवित करने की बात क्यों की जा रही है।

सरकारी नौकरीपेशा वाले तेलुगु लोगों ने शुरुआती वर्षों में संगम के कामों में सक्रियता से भाग लिया यानी प्रचार, पुस्तकालय खोलने, पुस्तिकाओं का वितरण, गोष्ठियों का आयोजन आदि कामों को संभाला। लेकिन निजाम सरकार द्वारा कुछ लोगों को इसके लिए सजा दी गई, सताया गया और उनका स्थानांतरण बहुत पिछड़े इलाकों में कर दिया गया। उन्हें इस तरह तंग करने के पीछे कारण बताया कि संगम का काम राजनीतिक काम है। सरकारी कर्मचारी डर गए और धीरे-धीरे उन्होंने संगम की गतिविधियों में सक्रियतापूर्वक योगदान देना बंद कर दिया।

वरवर राव ने बताया कि कैसे तेलंगाना के लोगों को हैदराबाद से छपने वाला तेलुगु अखबार अपने इलाके में लाने के लिए संघर्ष करना पड़ता था और रावी नारायण रेड्डी ने साक्षात्कार के दौरान याद करते हुए कहा कि उनके गांव में पुलिस किस प्रकार संगम की गोष्ठियों पर रोक लगा देती थी (रेड्डी, 1991 : *साक्षा.*)। इस प्रकार की अड़चनों के बावजूद संगम कई प्रकार के अभियानों जैसे 'शिक्षा सप्ताह', 'जबरदस्ती मजदूरी के खिलाफ सप्ताह', 'परिवार नियोजन सप्ताह' इत्यादि का आयोजन करते रहते थे।

संगम से आंध्र महासभा : 1930 में सारे संगमों को यानी साहित्य संगम, व्यापारी संगम (वर्तका संगम), महिला संगम, भजन समाज इत्यादि को इकट्ठा करके उनको एक ही छतरी, जिसका नाम था आंध्र महासभा, के नीचे ले आए थे। तब से आंध्र महासभा की वार्षिक सभा हर वर्ष आयोजित की जाने लगी थी। आंध्र महासभा के वार्षिक सम्मेलन के साथ-साथ महिला सभा का भी आयोजन किया जाता था।

शुरू के कुछ वार्षिक सम्मेलनों का रुख स्पष्ट तौर पर निजाम विरोधी नहीं था। बल्कि सम्मेलनों की शुरुआत निजाम के दीर्घायु होने की प्रार्थना के साथ होती थी। निजाम की सत्ता को चुनौती नहीं दी जाती थी। इसके विपरीत इन सम्मेलनों में निजाम सरकार से

निवेदन करते हुए प्रस्ताव पारित किए जाते थे। गौर करें तो पता लगता है कि इन निवेदनों के द्वारा जरूरी प्राथमिक शिक्षा पर निष्क्रियता, उच्च शिक्षा में पढ़ाई का माध्यम, महिला शिक्षा, निजी शालाओं पर लगे प्रतिबंधों को रद्द करना, किसानों की स्थिति सुधारना, पीने का पानी, वेश्यावृत्ति और देवदासी प्रथा के खिलाफ कानून, प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम अभियान, सर्फ-ए-खास तथा जागीर इलाकों में बेहतर शिक्षा, आम जनता के लिए तकनीकी और कृषि शिक्षा जैसे मुद्दे पेश किए जाते थे।

हालांकि मादापाती हनुमंत राव हमेशा इस बात पर जोर देते थे कि आंध्र महासभा राजनीतिक काम नहीं करती है और न ही करना चाहती है इसके बावजूद सरकार इसको शक की नजर से देखती थी। 1932 में जब मादापाती हनुमंत राव और बुरुगुल्ला रामाकृष्णा आंध्र महासभा के तीसरे वार्षिक सम्मेलन के आयोजन के लिए अनुमति लेने के लिए पुलिस आयुक्त के पास गए तो वे उस आयुक्त को समझाते रहे कि उनका उद्देश्य मात्र शिक्षा और पुस्तकालयों का प्रचार करना है। पुलिस आयुक्त ने वापस उत्तर दिया कि उसके बंगाल के अनुभव से उसे मालूम है कि पुस्तकालय क्रांतिकारी अड्डे होते हैं (राव हनुमंत मा., 1950)। इस तरह अनुमति देने से इनकार कर दिया गया और वार्षिक सम्मेलन दो वर्षों तक नहीं हो पाया था।

आंध्र महासभा के मात्र प्रस्ताव पारित करने पर जोर और सुधारवादी गतिविधियों जैसे शिक्षा और पुस्तकालय अभियान, आदि पर फोकस के बावजूद इसका प्रभाव बढ़ता ही चला गया क्योंकि उस समय यही एकमात्र सक्रिय असांप्रदायिक संगठन था। आंध्र महासभा के प्रसार से सामंती दमन, शोषण और उत्पीड़न के मुद्दे ज्यादा जोर से उठने लगे थे। ये मुद्दे रात्रि कक्षाओं में उठे। शुरू-शुरू में संगम और आंध्र महासभा का काम शहरों तक ही सीमित था। लेकिन धीरे-धीरे, प्रचार और प्रसार से इसका दायरा जिला तथा तहसील मुख्यालयों तक पहुंचा जिसके परिणामस्वरूप गांव तथा प्रांतीय अभिजनों की भागीदारी भी बढ़ी। प्रांतीय अभिजनों की भागीदारी बहुत महत्वपूर्ण थी क्योंकि इनमें से बहुत से लोगों की जड़ें गांवों में थीं और वे गांव के स्तर पर सामंती उत्पीड़न से परिचित थे (राव, जनार्दन, 1991 : *साक्षा.*)। इस प्रसार के परिणामस्वरूप ग्रामीण समस्याएं धीरे-धीरे आंध्र महासभा की गतिविधियों के दौरान उठने लगीं और शिक्षा और पुस्तकालय आंदोलन का माहौल ज्यादा बुनियादी समस्याओं से गरमाने लगा। इस संदर्भ में धनागरे लिखते हैं, 'दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान आंध्र सम्मेलन ने कृषि समस्याओं जैसे 'वेट्टी चाकरी' में ज्यादा रुचि लेना शुरू किया और इस प्रकार अपने नेटवर्क को ग्रामीण इलाकों में फैलाना शुरू कर दिया' (धनागरे, 1974 : 494)।

और सुंदरैया लिखते हैं, 'आंध्र महासभा के सम्मेलनों में ज्यादा शालाएं खोलने, किसानों को कुछ रियायतें देने, कुछ नागरिक स्वतंत्रताएं देने आदि जैसे प्रशासनिक ढांचों में सुधार की मांगें उठाई जाती थीं तथा प्रस्ताव पारित किए जाते थे। परंतु कभी भी लोगों को उत्पीड़कों या निजाम सरकार के खिलाफ संघर्ष के लिए जोड़ने/जुटाने का प्रयास आंध्र महासभा ने

नहीं किया था। इसके बावजूद हैदराबाद राज्य की उन कष्टदायक तथा घोर उत्पीड़न की परिस्थितियों में लोगों की बढ़ती हुई प्रजातांत्रिक आकांक्षाओं का यह एक मंच, एक केंद्र बना।' (सुंदरैया, 1972 : 19)।

शिक्षा और पुस्तकालय जैसी गतिविधियों से आगे बढ़ना : आम जनता का बढ़ता दबाव : साक्षात्कारों और लिखित दस्तावेजों और पुस्तकों से यह स्पष्ट रूप से उभरता है कि जैसे-जैसे ग्रामीण जनता की भागीदारी आंध्र महासभा की गतिविधियों और वार्षिक सम्मेलनों में बढ़ी वैसे-वैसे आंध्र महासभा के भीतर भी अंतर्विरोध और तनाव बढ़ने शुरू हो गए। सम्मेलनों में भाग लेने वाले, खास तौर से ग्रामीण लोग, मात्र शिक्षा और पुस्तकालय जैसी गतिविधियों से संतुष्ट नहीं थे। सम्मेलनों में ज्यादा बुनियादी समस्याओं पर प्रस्ताव पारित करने की मांगें और दबाव बढ़ने लगा था। आंध्र महासभा में एक समूह इसे एक व्यापक राजनीतिक मंच के रूप में देखता था। वह नहीं चाहता था कि इसमें कुछ भी परिवर्तन हो और चाहता था कि इसे शिक्षा और सांस्कृतिक गतिविधियां ही करते रहना चाहिए। मादापाती हनुमंत राव भी जोर देकर यही कहते थे कि आंध्र महासभा राजनीतिक मंच नहीं है। हालांकि एक सीमा के बाद आंध्र महासभा का इस प्रकार से अराजनीतिक रहना असंभव हो गया। जैसा कि श्रीदेवी के इस कथन से स्पष्ट है, 'हालांकि शुरू में मादापाती हनुमंत राव ने आंध्र महासभा को शैक्षिक गतिविधियों तक सीमित रखने की भरसक कोशिश की, परंतु बाद में ये ही गतिविधियां बहुत राजनीतिक हो गईं' (श्रीदेवी, वर्ष पता नहीं, 17)।

रेगानी के अनुसार, 'आंध्र महासभा के सम्मेलनों की प्रकृति करीब 1937 तक प्रमुख रूप से सांस्कृतिक रही। इसके बाद उसकी प्रकृति में गहरे परिवर्तन दिखने लगे।' वे आगे कहते हैं : 'इसलिए 1938 में पहली बार, आंध्र महासभा के छठे सम्मेलन में, जो निजामाबाद में आयोजित हुआ था, एक राजनीतिक प्रस्ताव पारित किया गया। इस प्रस्ताव में निजाम से जिम्मेदार सरकार लाने के लिए कहा गया था।...निजामाबाद सम्मेलन से ही सदस्यों ने गांवों में कर्ज की समस्या और किसानों और खेतिहर मजदूरों की अन्य संबंधित समस्याओं में गहरी रुचि लेना शुरू किया था' (रेगानी, 1973 : 193)। निजामाबाद सम्मेलन में ही वेट्टी-चाकरी और बेगारी जैसे मुद्दे पहली बार उठाए गए थे।

रजवी ने कहा था, 'हालांकि आंध्र महासभा 1930 में औपचारिक रूप से शुरू की गई थी, लेकिन शुरू के पांच-छह वर्षों तक इसकी गतिविधियां केवल शिक्षा से जुड़ी हुई समस्याओं तक ही सीमित रहीं क्योंकि आंध्र महासभा का पुराना और संशोधनवादी नेतृत्व जनता के आर्थिक और राजनीतिक मुद्दे उठाने के लिए तैयार नहीं था' (रजवी, 1985 : 7)।

आंध्र महासभा के शुरू होने के ठीक 20 वर्षों बाद 1940 में मलकापुरम के सम्मेलन में सभा ने मात्र प्रस्ताव पारित करने की परंपरा को तोड़ा और आगे बढ़कर प्रस्तावों के संदर्भ में लोगों को जोड़ने और लामबंद करने की कोशिश की। नरमपंथी, जिन्होंने सभा की भूमिका एक व्यापक मंच के रूप में ही देखी थी उन्होंने इस आंदोलनात्मक रुख का

विरोध किया। इस सम्मेलन में उठी मांगें स्पष्ट रूप से राजनीतिक थीं जैसे, वेट्टी की प्रथा को समाप्त करने की मांग, खेती करने वालों को भूमि का पट्टा दिलवाने की मांग, जागीरदारी प्रथा को समाप्त करने और करों तथा किरायों में भी भारी कटौती करने की मांगें, इत्यादि प्रस्ताव में शामिल की गई थीं (सुंदरैया, 1972)।

राजनीतीकरण और ध्रुवीकरण : अगले कुछ वर्षों में आंध्र महासभा के कार्यकर्ताओं ने इन राजनीतिक मुद्दों के तहत लोगों को लामबंद करना शुरू किया। इन मुद्दों में गांव स्तरीय छोटे-छोटे संघर्ष जैसे वाचन केंद्रों और रात्रि कक्षाओं को चालू रखने के लिए संघर्ष भी शामिल थे। आंध्र महासभा का अंदरूनी संघर्ष मुख्यत: उदारवादी बुद्धिजीवियों का था। इनका झुकाव राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर था तथा सामंतवाद-विरोध संघर्षों को जारी रखने के पक्षधर कम्युनिस्ट इन दो समूहों के बीच थे। 1940 के दौरान और बाद के वर्षों में हर सम्मेलन के दौरान यह संघर्ष तीव्र होता गया और 1944 में आंध्र महासभा दो गुटों में बंट गई। 1945 में इसका बारहवां वार्षिक सम्मेलन हुआ। इन्हीं वर्षों में आंध्र महासभा की सदस्यता फीस पहले एक रुपए से घटाकर चार आने की गई तथा फिर और घटाकर एक आने तक कर दी गई। फीस कम करने की यह जरूरत स्पष्ट रूप से दरशाती है कि सभा के नए सदस्यों की आर्थिक स्थिति एक रुपए या चार आने सदस्यता फीस देने लायक भी नहीं थी। यानी सदस्य ज्यादा गरीब और उत्पीड़ित वर्गों से बनाए जाने लगे थे और इसमें सभा में उपस्थित कम्युनिस्ट विचारधारा से सहानुभूति रखने वालों का महत्वपूर्ण योगदान रहा था। सदस्यता फीस एक आना हो जाने के बाद करीब 35,000 लोगों ने वार्षिक सम्मेलन में भाग लिया था।

इसके बाद आंध्र महासभा ने सामंतवाद-विरोधी, निजाम-विरोधी संघर्ष जारी रखे। साथ ही शिक्षा और साक्षरता का उत्पीड़ित गांवों में प्रसार करने की गतिविधियां भी जारी रखीं जब तक कि 1948 में संघर्ष समाप्त करने की घोषणा न कर दी गई।

यह बहुत स्पष्ट है कि आंध्र महासभा का जिन दमनात्मक परिस्थितियों में उदय हुआ और जिस प्रकार सभा ने शिक्षा, सामंती उत्पीड़न, भाषायी और सांस्कृतिक अस्मिता, महिलाओं की शिक्षा, विधवाओं का पुनर्विवाह, बाल मजदूरी पर प्रतिबंध, उच्च शिक्षा तेलुगु में उपलब्ध कराने की मांग, जैसे मुद्दों को उठाया और सक्रिय रूप से शालाएं, पुस्तकालय खोलने और तेलुगु किताबों के प्रकाशन में जुटी, उससे तेलंगाना की जनता को एक उदार प्रजातांत्रिक मंच मिला। शुरुआती दौर में मंच केवम मध्यमवर्गीय लोग जैसे व्यापारी, भूस्वामी और शहरी बुद्धिजीवियों को ही आकर्षित कर पाया। लेकिन सभा का छोटे शहरों और ग्रामीण इलाकों में प्रसार से भागीदारों का वर्ग चरित्र (हालांकि नेतृत्व का वर्ग चरित्र नहीं बदला था) उठाए जाने वाले मुद्दों को प्रकृति तथा गतिविधियों का रूप बदलने लगा।

निजाम आंध्र महासभा के निहित और बदलते हुए राजनीतिक चरित्र से अज्ञात नहीं था। फिर भी उसने प्रशासनिक अड़ंगे लगाने के अलावा, बड़े पैमाने पर इन गतिविधियों

को प्रतिबंधित करने के लिए कुछ क्यों नहीं किया? अखिल गुप्ता इस संदर्भ में लिखते हैं, 'आंध्र महासभा का उभरना एक महत्वपूर्ण घटना थी। यह शायद निजाम के वर्चस्व में कहीं चूक हो जाना दरशाती है' (गुप्ता, 1986 : 23)।

आंध्र महासभा के शैक्षणिक प्रयास

मुश्किल वक्त में समृद्ध शैक्षिक गतिविधियां : तेलंगाना क्षेत्र में 1921 से 1950 के बीच काफी शैक्षिक गतिविधियां हुईं। उपलब्ध आंकड़े इसका सही चित्रण नहीं करते हैं इसलिए इसको समझने के लिए लोगों के व्यक्तिगत लेखन और तत्कालीन साहित्यिक रचनाओं पर निर्भर होना पड़ा है। एक दिक्कत और रही। ये सभी लिखित रचनाएं तेलुगु में हैं। इनको ढूंढ़ना और अनुवाद करवाना, खास तौर से एक अतेलुगु भाषी व्यक्ति के लिए काफी मुश्किल काम रहा। मुझे, खास तौर से पुस्तकालयों और शिक्षा के प्रसार के बारे में समझने के लिए ऐसे लोगों के अनुमानों पर निर्भर होना पड़ा जिन्होंने सीधे इस आंदोलन में भाग लिया था। उदाहरण के लिए मादापाती हनुमंत राव ने आंध्र महासभा के क्रम के विषय में 'आंध्रा उद्यममू' नामक पुस्तक के दो भागों में बहुत विस्तार से लिखा है। इसमें 1920-44 की समयावधि के बारे में विस्तृत चर्चा है। उस दौरान की भी जब आंध्र महासभा गांवों में पैर जमाना शुरू कर रही थी और ज्यादा से ज्यादा राजनीतिक मुद्दे और सामंती उत्पीड़न से उभरी ग्रामीण समस्याओं को उठा रही थी। इस समय तक आंध्र महासभा अपनी शुरू की सदस्यता और समझ से काफी आगे बढ़ चुकी थी। वह 1921 के शहरी बुद्धिजीवियों के छोटे से समूह जिसकी प्रमुख चिंता भाषा, संस्कृति, शिक्षा, साहित्य, इत्यादि थी—से आगे बढ़कर 1940 में भुवनगीर के सम्मेलन तक ग्रामीण तथा कसबे के 10,000 लोगों के एक मिश्रित समूह में परिवर्तित हो गई थी। हालांकि मुख्यत: शिक्षा जैसे विषय पर लिखे गए दस्तावेज और किताबें नहीं के बराबर हैं फिर भी तेलंगाना पुस्तकालय आंदोलन और सशस्त्र आंदोलन पर लिखी हर किताब में रात्रि शालाओं, निजी शालाओं और साक्षरता कक्षाओं का जिक्र है। इन किताबों और दस्तावेजों से यह साफ उभरता दिखता है कि आंध्र महासभा के कार्यकर्ताओं ने जहां भी और जब भी संभव हुआ, जेल तथा जंगल कहीं भी साक्षरता कक्षाएं लगाईं। यह भी स्वाभाविक है कि इन कक्षाओं का रूप और इससे जुड़ा बाकी तामझाम आज के दिनों के सरकारी साक्षरता कार्यक्रमों से एकदम भिन्न था। इस काम के लिए कोई पैसा नहीं था और राजसत्ता सक्रियता से ऐसे काम का विरोध कर रही थी क्योंकि राजसत्ता को गरीबों, उत्पीड़ितों की शिक्षा से विद्रोह भड़कने का खतरा दिखता था।

शिक्षा के काम पर व्यवस्थित जानकारी का अभाव : पुस्तकालय आंदोलन अपने

प्रारंभिक फोकस यानी पुस्तकालय और शालाओं की शुरुआत करने से आगे बढ़कर सीधे-सीधे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक मुद्दों में दखल देने लगा था। ऐसे लोग जिन्होंने दोनों तरह के कामों में सक्रियता से योगदान दिया उन्हें शिक्षा में अपने योगदान के विषय में कुछ याद ही नहीं रहा था। यह काम उनके दिमाग में से निकल ही गया था क्योंकि बाद के सीधे राजनीतिक संघर्ष के काफी गंभीर राजनीतिक परिणाम उनके जीवन में हुए थे। इसलिए जब उन्होंने शैक्षिक प्रयासों से संबंधित लेखिका के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए अपनी याददाश्त को टटोलना शुरू किया तो वे स्वयं ही शिक्षा में अपने योगदान और उसके महत्व को लेकर काफी आश्चर्यचकित तथा प्रसन्न हुए। आंध्र महासभा के संस्थापकों ने तेलंगाना के क्षेत्र में शिक्षा के मौकों की कमी को हालांकि पिछड़ेपन का एक बड़ा कारण माना था और शैक्षिक गतिविधियां लोगों को जोड़ने-जुटाने तथा प्रेरित करने और राजनीतिक संघर्ष की गुंजाइश बनाने के लिए व्यापक रूप से इस्तेमाल की गईं फिर भी ये सृजनात्मक और समृद्ध अनुभव कहीं भी व्यवस्थित रूप से लिखे नहीं गए। थोड़ा बहुत जो लिखा गया वह तेलंगाना के सामंतवाद-विरोधी आंदोलन के विषय में है। आंध्र महासभा बल्कि उससे पहले का आंध्र जन केंद्र संगम का काम तेलंगाना के उस समय की परिस्थितियों में एक प्रगतिशील सामाजिक हस्तक्षेप था जिसके माध्यम से शायद शहरी माध्यम वर्ग की एक पूरी पीढ़ी ने सामंती व्यवस्था के उत्पीड़न को प्रत्यक्ष रूप से देखा और इसके प्रति जागरूक हुई। जैसा कि पहले कहा गया है कि आंकड़ों के न होने से शैक्षिक काम की व्यापकता का परिमाणात्मक अंदाज लगाना संभव नहीं है। जो संभव है वह है गुणात्मक रूप से शैक्षिक प्रयासों का एक अंदाज लगाना और इन अनुभवों से गुजरने वाले लोगों के ऊपर होने वाले असर को समझना।

साक्षात्कारों के आधार पर ऐसा लगता है कि सभा के कार्यकर्ताओं ने वास्तव में भाषाविज्ञान, पद्धति, विषयवस्तु और पठन सामग्री के संदर्भ में बिना सैद्धांतिक बहस में पड़े काफी नए काम किए। विशेष पद्धति, पाठ्यक्रम या पाठ्य पुस्तकों जैसे बंधनों से मुक्त यह काम दमन, घुटन और उत्पीड़न के माहौल में बिना विशेष स्रोतों या सुविधाओं के जितना कुछ सृजनात्मक कर पाने की संभावना थी वह किया।

रात्रि कक्षाएं : आंध्र महासभा की गांव स्तरीय गतिविधियों में सबसे महत्वपूर्ण थीं रात्रि कक्षाएं, भजन मंडलियां तथा पुस्तकालय। हालांकि यह बहुत स्पष्ट नहीं है कि गांव स्तरीय रात्रि कक्षाएं कब से शुरू हुईं। लेकिन इतना स्पष्ट है कि 1930 के दशक के दूसरे हिस्से में इसने जोर पकड़ा होगा जब सभा की जड़ें गांवों में जमनी शुरू हुई थीं। हालांकि सभा के वार्षिक सम्मेलनों के प्रस्तावों में शुरू से ही रात्रि कक्षाओं का जिक्र होता रहा है लेकिन उस दौरान ठोस रूप से गांव के स्तर पर कितनी गतिविधि थी यह कहना मुश्किल है। 1920 से 1940 के बीच लिखे लोगों के व्यक्तिगत अनुभवों में रात्रि कक्षाओं का जिक्र लगातार होता है। यह परंपरा आंध्र महासभा के दो गुट बनने के बाद कम्युनिस्ट समूह

द्वारा संगठित समूह, जिससे तेलंगाना आंदोलन उभरा, के दौरान भी जारी रही। कुछ लेखों, किताबों और साक्षात्कारों में 1920 तथा 1930 के दशक में चली रात्रि कक्षाओं का जिक्र भी हुआ है। इन सब पर थोड़ी विस्तृत चर्चा हम आगे करेंगे। एक बात स्पष्ट है कि ग्रामीण स्तर पर शिक्षा की बुरी परिस्थितियों ने ही, जिसके कारण संगम को निजी स्कूल खोलने पड़े, प्रौढ़ों के साथ भी साक्षरता का काम करने के लिए बाध्य किया था। अन्यथा गांवों के स्तर पर पुस्तकालय के काम का महत्व बहुत घट सकता था।

लिखित रिकार्डों और साक्षात्कारों से यह उभरता है कि शुरुआती दौर में कक्षाएं सांस्कृतिक केंद्रों और पुस्तकालयों के स्थल पर ही लगाई गईं। ये केंद्र वास्तव में लोगों के इकट्ठा होकर चर्चा करने के अड्डे बने। बहुत से सक्रिय कार्यकर्ताओं के लेखों आदि से यह स्पष्ट रूप से उभरता है कि पुस्तकालय में *नीलगिरि पत्रिका* और *गोलकुंडा पत्रिका* जैसे अखबारों का वाचन, फिर चर्चा और फिर पढ़ना सीखना चाहने वालों द्वारा पढ़े-लिखों की मदद से समाचारपत्र का वाचन आदि गतिविधियां होती थीं। हालांकि उस दौरान कांग्रेस तेलंगाना क्षेत्र में प्रतिबंधित पार्टी थी। फिर भी राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव के कारण गांधी, नेहरू, पटेल, पट्टाभी सीतारमय्या, सुभाषचंद्र बोस, भगतसिंह आदि जैसी राष्ट्रीय हस्तियों पर पुस्तकें आंध्र महासभा द्वारा गांव स्तर के पुस्तकालयों तक में उपलब्ध कराई जाती थीं (नारायण राव, 1991 : *साक्षा.*)। ऐसी कई सस्ती पुस्तकें उस दौरान उपलब्ध थीं जो ब्रिटिश आंध्र के शहरों में वहां के तेलुगु आंदोलन के कार्यकर्ताओं की पहल पर छपती थीं और तेलंगाना में आंध्र महासभा को उपलब्ध कराई जाती थीं।

जैसा कि पहले भी लिखा गया है कि लोगों में जागरूकता पैदा करने के लिए निजाम सरकार द्वारा समय-समय पर जारी किए गए फरमानों का भी उपयोग किया जाता था। संगम के कार्यकर्ता फरमानों की प्रतियां बनाकर गांवों में बांटते थे जहां रात्रि कक्षाओं में उनको संगम कार्यकर्ताओं द्वारा पढ़ा जाता था और उन पर चर्चा होती थी। बाद के वर्षों में सभा के प्रस्तावों का इस्तेमाल भी रात्रि कक्षाओं में किया जाता था।

जनता की पहल : 'यह कहना मुश्किल है कि शिक्षा और पुस्तकालय आंदोलन का काम सोच-समझकर जनता में जागरूकता पैदा करने के लिए शुरू किया गया था लेकिन इतना जरूर है कि शिक्षा को एक हथियार या माध्यम के रूप में देखा गया था' (वरवर राव, 1991 : *साक्षा.*)। वरवर राव ने भी साक्षात्कार के दौरान बताया कि निजाम सरकार के द्वारा सभा की गतिविधियों में बहुत तरह के अड़ंगे लगाए जाते थे, लेकिन लोगों ने भी गतिविधियां जारी रखने की रणनीतियां विकसित कर ली थीं। उदाहरणार्थ गांव के स्तर पर, यदि पुलिस वाले रात्रि कक्षा के दौरान पहुंच जाते थे तो कक्षा को तुरंत भजन मंडली या धार्मिक गोष्ठी में परिवर्तित कर दिया जाता था। वरवर राव के अनुसार लोगों ने पढ़ाने के नए-नए तरीके ईजाद किए और किताबें भी लिखीं। इस प्रकार बनीं पुस्तकें छपीं तो नहीं लेकिन बच्चों और प्रौढ़ों को पढ़ाने में इनका व्यापक इस्तेमाल हुआ (शायद प्रतियां

हाथ से लिखकर ही बनाई जाती थीं)। 'जहां भी और जब भी जरूरत हुई तथा संभव हुआ पुस्तकालयों के साथ रात्रि कक्षाएं भी लगाई गईं। जब आप आम जनता के पास जाते हैं तो आपको शिक्षा के लिए 'वैकल्पिक पुस्तकें' बनाने की जरूरत होती है। हम देखते हैं कि इस क्रम में खेती के औजारों तथा खेती से संबंधित पुस्तकें गांवों के स्तर पर बनीं परंतु ऐसी पुस्तकें छप नहीं पाईं और कुछ गांवों में ही सीमित रहीं। लेकिन जहां भी सभा के कार्यकर्ता पहुंचे वहां बहुत सी पढ़ने की सामग्री बनी और उसका इस्तेमाल भी हुआ' (वरवर राव, 1991 : *साक्षा.*)।

'सुद्दाला हनुमंथा की औपचारिक शिक्षा बहुत कम थी—शायद तीसरी कक्षा तक। वे पिछड़ी जाति के थे। यादगिरी भी पढ़े-लिखे नहीं थे। इन लोगों ने आंदोलन में आकर बहुत सुंदर गीत लिखे। इनके लिखे हुए गीत बहुत लोकप्रिय हुए थे। 'निजाम सरकारोडा' सुद्दाला हनुमंथा का एक अत्यंत प्रसिद्ध गीत था जो रात्रि कक्षा का पाठ्यक्रम जैसा ही बन गया। इसी प्रकार खेतिहर मजदूर, दर्जी या अन्य लोग जो छोटे-छोटे मेहनत के काम करते थे वे भी आंदोलन से प्रभावित हुए। इन सभी ने सुंदर गीत लिखे' (राव, तिरुमाला, 1991 : *साक्षा.*)

जनगांव तालुका में एक जागीर का गांव था और गांगुला साईं रेड्डी इस जागीर के गांव की शाला में पढ़ाते थे। उसने रात्रि कक्षाओं में भी पढ़ाने का काम किया था। उन्होंने अक्षरों पर भी गीत लिखे और एक पुस्तक किसानों पर तथा एक पुस्तक वर्षा ऋतु पर लिखी थी। इन पुस्तकों का नलगोंडा और वारंगल जिलों में प्रौढ़ शिक्षा तथा रात्रि शिक्षा की कक्षाओं में इस्तेमाल होता था। इन कक्षाओं में लोक तथा मौखिक रूपों का उपयोग उनकी विषयवस्तु में परिवर्तन करके किया जाता था (तिरुमाला, राव, 1991 : *साक्षा.*)।

वारंगल जिले के इगरुति गांव में दो भाई रहते थे। ये कई हुनरों के धनी थे। कई तरह के हुनरों जैसे, बढ़ईगिरी, खेती, बुनाई इत्यादि पर इन भाइयों ने लगभग 50-60 किताबें लिखीं और छापीं जिनका उपयोग इन पुस्तकालयों और रात्रि कक्षाओं में किया जाता था। इन भाइयों ने एक पुरानी छपाई मशीन खरीद ली थी। उन्होंने इन पुस्तकों को इस छपाई मशीन पर छापा था (नारायण राव, 1991 : *साक्षा.*)। जनार्दन राव के अनुसार ये दोनों भाई इस छपाई मशीन से एक पत्रिका भी निकालते थे और इस पत्रिका को आसपास के चार-पांच गांवों में भी भेजते थे। यह पत्रिका और एक समाचारपत्र कई बार निजाम पुलिस के द्वारा पकड़ लिया जाता था तथा जब्त कर लिया जाता था (जनार्दन राव, 1991 : *साक्षा.*)।

भुवनगिरी के 1944 में हुए वार्षिक सम्मेलन के बाद गांव स्तरीय गतिविधियां और तीव्र हो गई थीं। वेट्टी चाकरी, बेगारी, और 'जोतने वाले की जमीन' जैसे राजनीतिक मुद्दे बहुत तीखे और पैने रूप में केंद्र में आए। इस दौरान रात्रि कक्षाएं काफी नियमित रूप से संचालित की गईं। जो कार्यकर्ता इन कक्षाओं में भाग लेते थे और जो पढ़ाते थे इन सभी के विषय में चर्चा तेलंगाना सशस्त्र आंदोलन पर लिखीं लगभग सभी पुस्तकों में शामिल है।

आंदोलन में रात्रि कक्षाओं की भूमिका : जिन लोगों से चर्चा हुई उनमें ऐसे लोग भी शामिल हैं जिन्होंने आंदोलन और आंध्र महासभा में सक्रियता से भाग लिया था या जिन्होंने अलग फोकस तथा कारणों से आंदोलन का अध्ययन किया था। इन सभी लोगों ने साक्षरता बढ़ाने और जागरूकता पैदा करने में रात्रि कक्षाओं की महत्वपूर्ण भूमिका की बात की। तिरुमाला राव के अनुसार, कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने अपनी आत्मकथाओं में लिखा है कि वे लोगों को पढ़ना-लिखना सिखाते थे, खास तौर से रात्रि कक्षाओं के माध्यम से। वे कक्षाएं राजनीतिक शिक्षण की कक्षाएं भी होती थीं। बहुत सारे कवि और नेता शिक्षण की इन प्रक्रियाओं के माध्यम से पढ़ना-लिखना सीखे। कई लिखित विवरणों में यह संदर्भ भी मिलता है कि कैसे इन रात्रि कक्षाओं पर कई बार भूस्वामियों द्वारा हमले होते थे। मद्दीकायाला ओमकार के अनुसार, 'इन रात्रि शालाओं को चलाना बहुत आसान काम नहीं था। भूस्वामी लगातार इन शालाओं के खिलाफ चेतावनियां देते रहते थे। यह एक निरंतर संघर्ष था। देशमुख गांव वालों को हमेशा अंधेरे में ही रखना चाहते थे' (ओमकार, 1991 : *साक्षा.*)।

रात्रि कक्षाओं में उपयोग की गईं पुस्तकें : रात्रि कक्षाओं में बाल शिक्षण (प्राथमिक शाला स्तर की पुस्तक) और पेद्दा बाल शिक्षा (माध्यमिक शाला स्तर का विश्वकोश जैसी पुस्तक) का उपयोग होता था। सुखरम प्रताप रेड्डी की *आंध्र संधिका चरितम* आंध्र के इतिहास पर लिखी एक सुंदर पुस्तक है। इस पुस्तक का काफी व्यापक उपयोग पठन सामग्री के रूप में किया गया। 'कंदूकुरी वीरेसलिंगम की पुस्तकें जिसे मैकमिलन ने प्रकाशित किया था उनका उपयोग भी रात्रि कक्षाओं में हुआ। वीरेसलिंगम ने विधवा विवाह, बाल विवाह के विरुद्ध और महिलाओं के मुद्दों पर काफी लिखा था' (वरवर राव, 1991 : *साक्षा.*; नारायण राव, 1991 : *साक्षा.*)।

रात्रि कक्षाओं में कौन आता था : ओमकार के अनुसार केवल गरीब मजदूर रात्रि कक्षाओं में आते थे। कुछ कक्षाएं मात्र कुछ दिनों या हफ्तों के लिए चलीं जबकि अन्य महीनों तक और कुछ एक-दो साल तक भी चलीं। कुछ अनियमित थीं जबकि कुछ एकदम नियमपूर्वक चलीं। जहां भी आंदोलन ज्यादा सशक्त था वहां लंबे अरसे तक नियमित रूप से कक्षाएं चलीं। ओमकार ने स्वयं रात्रि शाला में करीब दो वर्षों तक पढ़ाया। रात्रि कक्षाओं में तत्कालीन घटनाओं और राजनीतिक मुद्दों पर भी चर्चा होती थी। तेलंगाना आंदोलन को वापस लेने और पुलिस एक्शन के बाद सब शैक्षिक काम खत्म हो गया था (ओमकार, 1991 : *साक्षा.*)।

वरवर राव ने अपने शोध निबंध में, जिसमें उन्होंने तेलंगाना आंदोलन और उससे पहले की घटनाओं पर लिखे छह उपन्यासों का विश्लेषण किया है, उसमें से एक लोकप्रिय उपन्यास *प्रजाला मानिषि* (जनता का मानुष) का नायक कांथीवरम बताता है कि वह एक

रात्रि शाला में एक मुसलमान शिक्षक से पढ़ा था। वह गांव के पुस्तकालय में नियमित रूप से जाता था। इसी उपन्यास में यह लिखा है कि उस जमाने में निजाम की रियासत के लोगों के लिए पुस्तकालय आंदोलन ही एकमात्र उम्मीद थी। पुस्तकालयों और वाचन केंद्रों की स्थापना करना, पढ़ने के लिए प्रोत्साहन देना और आम सभाएं करना पुस्तकालय आंदोलन की प्रमुख गतिविधियां थीं। उस जमाने की परिस्थितियों में पुस्तकालय जागरूकता के परिचायक बन गए थे। *दीमागुडम* (उपन्यास) में पुस्तकालय गतिविधियों का केंद्र बन गया था। कांथीवरम के सुझाव पर इसी पुस्तकालय में रात्रि शाला और भजन कार्यक्रमों का आयोजन किया जाने लगा था (वरवर राव, 1986)।

जनगांव तालुका के नल्ला नरसिमहुलु के अनुसार जन शिक्षा आंध्र महासभा के प्रमुख उद्देश्यों में से एक था। यह एक प्राथमिक मुद्दा था। इनके अनुसार जहां भी संभव होता था, कक्षाएं लगाई जाती थीं—चाहे जेल में, चाहे जंगल में। इनकी पत्नी ने पढ़ना-लिखना जेल में सीखा था। 'हम जहां भी रहे, जंगल में भी, पढ़ना सीखने के लिए कक्षाएं लगाई गईं। लिखने और पढ़ने के लिए जगह-जगह से सामग्री इकट्ठी की जाती थी। पहले वे लोग हमें जोर-जोर से पढ़ाकर सुनाते थे और फिर पढ़ने में हमारी मदद करते थे। हमने संघर्ष करते-करते शिक्षा ग्रहण की। पढ़ना, लिखना और राजनीतिक जागरूकता उन दिनों में हमारी प्राथमिकता थी' (नरसिमहुलु, 1991 : *साक्षा.*)। इनके अनुसार इनकी औपचारिक शिक्षा मात्र तीसरी कक्षा तक थी, लेकिन आंध्र महासभा के संपर्क में आने के बाद और रात्रि कक्षाओं में जाने के बाद इन्होंने बहुत पढ़ाई की। ये खुद बुनकर समुदाय के हैं और भूमिहीन थे।

पद्धति और विषयवस्तु : रात्रि कक्षाओं का यह अत्यंत दिलचस्प पहलू है। आम तौर पर शुरुआत में इन कक्षाओं में, शायद तीखे आंदोलनात्मक दौर के पहले, नाम लिखना और अक्षरों की पहचान करना और लिखना सिखाया जाता था। यह या तो मिट्टी पर, रेत पर या स्थानीय स्तर पर बनाई गई लकड़ी की स्लेटों पर किया जाता था। जहां तक पठन सामग्री का प्रश्न है उसमें काफी भिन्नताएं थीं। ऐसा लगता है, कुछ इलाकों में बाल शिक्षा, पेद्दा बाल शिक्षा और कंदूकुरी वीरेसलिंगम और गांगी रेड्डी द्वारा लिखी पुस्तकों का उपयोग होता था। कुछ इलाकों में गाडचिराला हरिसखोत्तम राव द्वारा बनाई गई पुस्तकों का उपयोग होता था। ये काफी परंपरागत तरीके की पुस्तकें थीं यानी अक्षर ज्ञान, शब्द ज्ञान, सरल वाक्य आदि जैसे क्रम पर आधारित। गाडचिराला की *वयोजन विद्या* (प्रौढ़ शिक्षा) पुस्तकें ब्रिटिश आंध्र में बहुत बड़े पैमाने पर उपयोग हुई और वहीं से तेलंगाना क्षेत्र में आई और कहीं-कहीं उपयोग में लाई गईं।

शुरुआती दौर में समाचारपत्र *नीलगिरि पत्रिका* और *गोलकुंडा पत्रिका* कक्षाओं में पढ़कर सुनाए जाते थे। फिर संगम और आणा (एक आना) ग्रंथमाला या इगरुति भाइयों द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का उपयोग होता था। आणा ग्रंथमाला की पुस्तकें तत्कालीन महत्व

रखने वाले मुद्दों जैसे वेट्टी, बैगारी, चरखा कर, व्यापारियों की स्वतंत्रता, राष्ट्रीय आंदोलन के नेता, जनगणना आदि पर थीं। हालांकि इतने विषय होने के बावजूद देशमुखों द्वारा जमीन हथियाने या उनके तरीकों पर पुस्तकें नहीं थीं। आणा ग्रंथमाला की पुस्तकें बहुत लोकप्रिय थीं। इनकी कीमत एक आना प्रति पुस्तक थी। आणा ग्रंथमाला प्रकाशन के मालिक के.सी. गुप्ता को सुभाषचंद्र बोस पर पुस्तक छापने के कारण जेल जाना पड़ा था। आणा ग्रंथमाला की कई और पुस्तकों पर भी निजाम सरकार द्वारा प्रतिबंध लगाया गया था (हनुमंत राव, 1950; रमेशन, 1966; वरवर राव, 1991)।

लेकिन ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि तेलंगाना के बहुत से गांवों में ये औपचारिक पुस्तकें नहीं पहुंचीं और ऐसे गांवों में 'शिक्षकों' ने स्थानीय मुद्दों और जरूरतों के हिसाब से पठन सामग्री का निर्माण किया। ढेरों नए प्रयोग हुए, सृजनात्मक विचार उभरे जिनका कोई व्यवस्थित लेखा-जोखा नहीं है लेकिन जिसके विषय में पता लोगों से चर्चा करने और उनके व्यक्तिगत रिकार्डों में देखने पर चलता है। इस पर थोड़ी चर्चा पहले की जा चुकी।

किताबों और पद्धति की चर्चा के साथ-साथ इस पूरे काम का सामाजिक और राजनीतिक उत्पीड़न का संदर्भ ध्यान में रखना जरूरी है। लोग इन कक्षाओं में आए और स्वयंस्फूर्त लोगों ने कक्षाएं चलाईं क्योंकि आंध्र महासभा और उससे पहले संगम के काम के कारण परिवर्तन की जरूरत, महत्व तथा आकांक्षा पैदा हो चुकी थी। खास तौर से गरीब और उदारवादी बुद्धिजीवी लोग निजाम के दमनकारी शासन से मुक्ति चाहते थे और अपनी संस्कृति, भाषा, अस्मिता और उत्पीड़न से मुक्ति के रास्ते ढूंढ़ रहे थे। यह सही है कि परिवर्तन की अभिलाषा, कम से कम मध्यम वर्ग और बुद्धिजीवियों के बीच राष्ट्रीय आंदोलन से भी पैदा हुई थी। परंतु तेलंगाना में राष्ट्रीय आंदोलन पर प्रतिबंध के कारण नए तरीके और रणनीतियां विकसित करने की जरूरत पड़ी थीं।

इस संदर्भ में यह समझना जरूरी है कि रात्रि कक्षा में आने की प्रेरणा राजनीतिक ज्यादा थी। इसलिए अक्षर ज्ञान तथा नाम लिखना जैसी प्रक्रियाएं लोगों को ज्यादा समय तक बांध नहीं सकती थीं। जैसे-जैसे आंध्र महासभा का काम गांवों तक फैलने लगा, निजाम के अधिकारियों का शक भी बढ़ने लगा पर साथ ही जनता द्वारा ज्वलंत उत्पीड़न के मुद्दों पर कार्रवाई करने, रात्रि कक्षाओं का माहौल बदलने, राजनीतिक माहौल के संबंध में अधिक जानकारी हासिल करने आदि का दबाव भी बढ़ा। इसलिए अखबारों से खबरें, फरमान, आंध्र महासभा के प्रस्ताव, उत्पीड़न के मुद्दों से संबंधित पुस्तकें आदि पढ़कर सुनाना और इन पर चर्चा करना बहुत सी रात्रि कक्षाओं की प्रमुख गतिविधि बन गई थी। इनमें कोई प्राइमर इत्यादि का उपयोग नहीं होता था। शुरू से ही लोगों को अखबार पढ़ने के लिए प्रेरित किया जाता था। इस प्रक्रिया से पढ़ने वाले भी सक्रिय रूप से जुड़ते थे और जानकारियां हासिल करने तथा पढ़ने के लिए जूझने की उनकी प्रेरणा और जोश बहुत ज्यादा होता था। बहुत से लोग इस तरीके से तीन-तीन, चार-चार महीनों में अच्छी तरह पढ़ना सीख गए

थे (ओमकार, 1991 : *साक्षा.*; नरसिमहुलु, 1991 : *साक्षा.*)।

वरवर राव के अनुसार हजारों युवा लोगों ने तेलुगु के प्रसिद्ध कवि श्री श्री की पुस्तक *महाप्रस्थानम* और मेक्सिम गोर्की की तेलुगु में अनूदित पुस्तक '*अम्मा*' पढ़ने के लिए पढ़ना सीखा। प्रेमचंद और शरतचंद्र की पुस्तकें भी तेलुगु में अनूदित की गईं और छापी गईं। इस प्रकार का प्रकाशन का काम तो ब्रिटिश आंध्र में हुआ परंतु अलग-अलग रास्तों से ये पुस्तकें तेलंगाना में भी पहुंचीं और बहुत लोकप्रिय हुईं।

महिलाओं का रात्रि कक्षाओं का अनुभव : आंध्र महासभा और तेलंगाना आंदोलन में महिलाओं की काफी सक्रिय भूमिका रही थी। आंध्र महासभा के वार्षिक सम्मेलन के साथ ही महिला सम्मेलन भी नियमित रूप से होता था। कुछ महिलाओं के इन अनुभवों का एक संकलन *वी वर मेकिंग हिस्ट्री* (हम इतिहास बना रहे थे) नामक पुस्तक में छपा है। इस पुस्तक से रात्रि कक्षाओं और आंध्र महासभा के इन महिलाओं के कुछ अनुभव यहां उद्धृत किए जा रहे हैं।

'सोलह वर्ष की उम्र में अचंबा शायद दुनिया की पहली डॉक्टर रही होगी। वह पढ़ी-लिखी नहीं थी परंतु बीमारियों का इलाज करना जानती थी।'' (संगठना, 1985 : 31)।

'हमने सोचा कि हम औरतों को कैसे आगे बढ़ाएं। हमें उन औरतों के लिए कक्षाएं चलाने का इंतजाम करना था जो सीखना चाहती थीं। कभी-कभी आदमी औरतों को पढ़ना-लिखना सीखने के लिए, यहां तक कि सिलाई सीखने के लिए भी कक्षा में नहीं आने देते थे। हम परिवारों और औरतों को समझाने का प्रयास करते थे। हम समझाते थे कि पढ़ाई परिवार और औरत के भविष्य के लिए जरूरी है। हमने हर गली में गोष्ठियां कीं और इन सब विषयों पर बात की। मैंने इस तरह से करीब एक वर्ष तक काम किया' (संगठना, 1989 : 67)।

'भुवनगिरी महासभा में मेरे भाई ने हमसे बुर्राकथा करने को कहा। जहां भी गोष्ठी होती थी वह हमसे कुछ गीत गवाता था। उन दिनों बुर्राकथा तान्या, जोया, झांसी की लक्ष्मीबाई, बंगाल के बारे में और कई अन्य घटनाओं पर आधारित होती थी। मेरा भाई नियमित रूप से रात्रि पाठशाला चलाता था। हमारे खेत पर काम करने वाले बंधुआ मजदूर हरिजन थे। हमें उन्हें छूने की मनाही थी परंतु मेरा भाई जोर देता था कि हम उन्हें छुएं। कभी-कभी पढ़ाते वक्त हम मारने के बहाने से उन्हें छूते थे' (संगठना, 1989 : 75)।

कई महिला कार्यकर्ता बहुत सारे गीत गाकर गोष्ठियों और रात्रि कक्षाओं के लिए औरतों को इकट्ठा करती थीं।

'क्या औरतें कभी आजाद नहीं होंगी? क्या औरत जाति के लिए स्वतंत्रता ही नहीं है?' यह हमारे एक गीत की पंक्तियां हैं। एक अन्य गीत की पंक्तियां इस प्रकार हैं : 'अम्मा आओ और पढ़ना सीखो। तुम एक कछुए की तरह, अज्ञान बनकर, कब तक गुलामी करती रहोगी? अम्मा आओ और सीखो' (संगठना, 1986 : 149)।

'अपनी सास के घर से वे छिपकर आती थीं। उन्हें पुस्तकें और पत्रिकाएं दी जाती थीं और उनके लिए गोष्ठियां की जाती थीं। हमने रात्रि शालाएं भी चलाईं और प्रौढ़ों को पढ़ना-लिखना भी सिखाया' (संगठना, 1985 : 153)।

'शाम को मैं औरों के साथ मिलकर पढ़ती थी। चाहे मैं कितनी भी थकी होऊं, पढ़ना नहीं छोड़ती थी। इस तरह मैंने तीसरी कक्षा तक पढ़ाई की। मेरे पिता को पता भी नहीं था कि मैं इस तरह पढ़ती थी' (संगठना, 1985 : 160)।

'उन्हीं दिनों में वे गोर्की की पुस्तक *अम्मा* लाए थे। मेरी मां जब काम कर रही होती थी तब हम उसे यह पुस्तक पढ़कर सुनाते थे। इसका उसके ऊपर काफी गहरा असर पड़ा' (संगठना, 1985 : 230)।

अंत में : जागरूकता और परिवर्तन के लिए शिक्षा तथा पढ़ने के महत्व के बीच और परंपरा आंध्र जन केंद्र संगम द्वारा ही शुरू कर दी गई थी। इसी परंपरा को आंध्र महासभा ने आगे बढ़ाया। सक्रिय राजनीतिक संघर्षों के दौरान भी शिक्षा के महत्व को घटाकर नहीं देखा गया, हालांकि ऐसे दौर में शैक्षणिक प्रक्रिया ज्यादा अनियमित हो गई और उसका रूप, विषयवस्तु तथा पद्धति भी बदलती रही। शुरू से ही जोर अखबार और किताबें पढ़ने पर था, साथ ही गीत लिखने पर भी। प्रवेशिकाओं का उपयोग हुआ, पर बहुत कम। लिखित दस्तावेज, किताबें, निमाज के फरमान, आंध्र महासभा के प्रस्ताव, अखबार, आदि पठन सामग्री बने, प्राइमर बने, पाठ्यक्रम बने। परंतु मात्र लिखित सामग्री ही जागरूकता बढ़ाने का साधन नहीं बनी। मौखिक परंपराओं का व्यापक उपयोग हुआ। बल्कि मौखिक से लिखित और लिखित से मौखिक दोनों प्रक्रियाओं ने एक-दूसरे को समृद्ध किया।

और अंत में बी.एस. परांजपे ने अपनी पुस्तक *ग्लोरियस तेलंगाना आर्म्ड स्ट्रगल* (तेलंगाना का शानदार सशस्त्र संघर्ष) में लिखा था, 'असाक्षर युवा लड़कों को कविता के छंदों और तुकबंदियों की जटिलताओं से जूझते हुए और अंततः एक गीत या कविता बना पाना देखना बहुत मर्मस्पर्शी होता था। कई बार यह जबरदस्त काव्यात्मक कल्पना का नमूना होता था' (गौर, 1973 : 161)।

6. किशोर भारती के शिक्षा कार्यक्रम

किशोर भारती का डेढ़ दशकों से ज्यादा का जीवनकाल देश में तेजी से बदलती राजनीतिक परिस्थितियों का समय रहा। इस संस्था की स्थापना उथल-पुथल वाले सत्तर के दशक के तुरंत बाद 1972 में हुई थी। 1972 से 1989 के बीच कई ऐतिहासिक घटनाएं घटीं जिनमें से कुछ प्रमुख हैं : जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में उभरा आंदोलन, आपातकाल और दमन, भोपाल गैस त्रासदी और सिख विरोधी राष्ट्रव्यापी दंगे। सत्तर के दशक के नक्सलवादी आंदोलन और अस्सी के दशक की शुरुआत में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में उभरे आंदोलन के बाद विद्यार्थियों और युवाओं के व्यापक आंदोलनों का दौर फिर नहीं आया। विद्यार्थियों का एकमात्र व्यापक प्रतिरोध दिखा तो वह था आरक्षण विरोधी आंदोलन। पर स्पष्टत: इसमें युवा विद्यार्थी शक्ति की एकता नहीं बल्कि जाति और कुछ हद तक वर्गाधारित विभाजन था। अस्सी के दशक के मध्य से ही भूमंडलीकरण और उदारीकरण की तैयारियां चालू हो गई थीं जिसकी झलक 1986 की नई शिक्षा नीति में उच्च शिक्षा के निजीकरण के जिक्र के रूप में मिलती है। यह पृष्ठभूमि किशोर भारती के जीवनकाल की कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं को याद करके इस शैक्षिक अनुभव को संदर्भ में रखकर देखने का प्रयास है।

किशोर भारती एक गैर-सरकारी स्वैच्छिक संस्था थी और सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन ऐक्ट के तहत पंजीकृत थी। यह संस्था मध्य प्रदेश में होशंगाबाद जिले के बनखेड़ी प्रखंड के गांव पलिया पिपरिया में स्थित थी। संस्था की शुरुआत 1972 में हुई और 1989 में इसे बंद कर दिया था, परंतु संस्था का कानूनी अस्तित्व बरकरार है। इसका अर्थ है कि 1989 में सभी कार्यक्रम बंद करके सभी कार्यकर्ताओं को निकाल दिया गया था और सुविधापूर्वक कभी भी इसे फिर जिंदा किया जा सकता है। सत्तर-अस्सी के दशक में शिक्षा में नवाचार के काम के कारण इस संस्था की एक प्रगतिशील छवि बनी थी। इस दौरान यह संस्था काफी सारे युवा लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत भी बनी थी। परंतु नब्बे के दशक से इसी संस्था के परिसर पर अब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की एक ट्रस्ट, भुस्कुटे ट्रस्ट, विराजमान है।

पूर्व में किशोर भारती के नाम से जाना जाने वाला यह स्थल अब गोविंद नगर के नाम से जाना जाता है। यह ट्रस्ट इस परिसर पर अब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और भाजपा की गतिविधियां चलाता है। परिसर पर सरस्वती शिशु मंदिर चलता है। इसके अतिरिक्त

भाजपा की गोष्ठियों, बौद्धिकी और कार्यकर्ता शिविर करने का यह अड्डा बन गया है। इस परिसर से मात्र दो किलोमीटर दूर स्थित गूजर प्रभुत्व वाला माल्हनवाड़ा गांव राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का गढ़ बनता जा रहा है।

पलिया पिपरिया और आसपास के गांवों में मुसलिम समुदाय के लोग भी निवास करते हैं। पहले यहां के सभी लोग पलिया पिपरिया गांव से सात किलोमीटर दूर बनखेड़ी प्रखंड मुख्यालय में स्थित मसजिद में नमाज अदा करने के लिए जाते थे। लेकिन अस्सी के दशक के मध्य से गांव में मसजिद बननी शुरू हुई थी। 1992 में जब बाबरी मसजिद टूटी तब से यह मसजिद पलिया पिपरिया गांव के मुसलमानों की पहचान और हिंदू कट्टरवाद के साथ गिने-चुने मुसलिम परिवारों की सुरक्षा, अस्मिता और कुछ हद तक कट्टरवाद की पहचान बन गई।

मुसलिम पुरुष जो हमेशा बाकी सभी की तरह धोती पहनते थे, उनमें से काफी ने अब पाजामा पहनना और दाढ़ी रखना शुरू कर दिया है। 1992 तक भुस्कुटे ट्रस्ट और मसजिद, दो पहचान चिह्न बने पर किशोर भारती इतिहास के कारण गांव में एक प्रगतिशील चिह्न भी है—*शंकर गुहा नियोगी भवन* जिसका पूरा श्रेय गांव के मजदूर संगठन को जाता है। इस भवन का निर्माण मजदूर संगठन द्वारा जन सहयोग से 1990-92 के बीच किया गया। यह भवन मजदूर संगठन के लोगों की मेहनत और लगन का एक प्रतीक तो है ही, पर भुस्कुटे ट्रस्ट के आने से इसका महत्व कई गुना बढ़ गया है। एक स्तर पर यह सत्ता का ध्रुवीकरण दरशाता है—राजसत्ता और जनसत्ता का। जहां किशोर भारती परिसर पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की बौद्धिकी होती है वहीं शंकर गुहा नियोगी भवन में मजदूर संगठन की गतिविधियों के अलावा मजदूर संगठन के कुछ सदस्यों के प्रयास से एक पुस्तकालय और बच्चों का अनौपचारिक शिक्षा केंद्र चलाया जा रहा है। इस केंद्र को चलाए रखने में अनेकानेक व्यावहारिक दिक्कतें हैं। पर खास बात यह है कि आरंभ में राष्ट्रीय स्तर पर प्रगतिशीलता की पहचान बनाने वाले किशोर भारती परिसर से अब हिंदू कट्टरवाद का संदेश गांवों में पहुंच रहा है और यही भवन इन गतिविधियों के विरोध का प्रतीक बना है।

महत्वपूर्ण बात यह भी है कि किशोर भारती का यह परिसर विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के शिक्षकों को शिक्षा की उदारवादी प्रजातांत्रिक परंपराओं के तहत प्रशिक्षण देने या जन संगठन के सदस्यों को मुक्ति की शिक्षा का संदेश देने वाले स्थल की जगह अब हिंदू पुनरुत्थानवादी संगठन, आर.एस.एस. का गढ़ बन गया है। यहां अब प्रशिक्षण हिंदू कट्टरवाद फैलाने का होता है। जिन पेड़ों के नीचे जिले के शिक्षक विज्ञान के प्रयोग करते थे, नए प्रयोग रचते थे और वैज्ञानिक पद्धति पर बहस करते थे वहां अब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखाएं लगती हैं।

यह परिवर्तन अनायास नहीं हुआ। ऐसा भी नहीं था कि किसी प्रत्यक्ष बाहरी दबाव

या धमकियों के तहत परिसर छोड़ना पड़ा हो।* ऐसा भी नहीं था कि भाजपा या आर.एस.एस. ने यहां जबरन कब्जा जमा लिया हो। बल्कि जब 'किशोर भारती' की कार्यकारिणी किशोर भारती के खूबसूरत परिसर की जिम्मेदारियों को न निभा पाने के कारण इसे किसी संस्था या समूह को सौंप देना चाहती थी तब कम से कम एक शैक्षिक संस्था एकलव्य ने परिसर को लेने और संभालने की इच्छा जताई थी जिसका गठन औपचारिक शिक्षा में नवाचार के काम को जारी रखने के लिए किशोर भारती के सक्रिय सहयोग से हुआ था। इसके अतिरिक्त, कुछ पुराने सहयोगियों ने भी इसकी जिम्मेदारी उठाने की पेशकश की थी। परंतु कार्यकारिणी ने ऐसे सभी प्रस्तावों को ठुकरा दिया और परिसर को मध्य प्रदेश की तत्कालीन भाजपा सरकार को सौंप दिया था। भाजपा के मुख्यमंत्री, सुंदरलाल पटवा ने बिना वक्त गंवाए इसे भ्रुस्कुटे ट्रस्ट नामक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समर्थित ट्रस्ट को दे दिया। पलिया पिपरिया गांव के हार (जमीन) पर स्थित इस परिसर ने जैसे आर.एस.एस. को गांवों में अपनी जड़ें मजबूत करने और अपनी राजनीति करने के लिए एक तैयार आधार—जंगल, भवनों, कुओं, खेती योग्य विकसित जमीन, नींबू, अमरूद, आम, आंवला, हर्र, बहेड़ा, इमली, कौसम, शीशू, कटहल, करंज, बेर, महुआ, बांस इत्यादि के सैकड़ों पेड़ों समेत—भेंट कर दिया।

किशोर भारती कार्यकारिणी की विचारधारा में यह परिवर्तन और पुनरुत्थानवादी ताकतों के साथ सहानुभूति पैदा होना क्या महज एक व्यावहारिक कारण था जैसा कि बताने का प्रयास होता है?** या कारण ज्यादा गहरे थे जो किशोर भारती जैसे मिश्रित समूह के लोगों की वैचारिक प्रतिबद्धताओं और आस्थाओं से जुड़े थे जो विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम करते रहने से ढंके रहे, परंतु जन शिक्षण के दायरों में घुसने से राजसत्ता और जनता के बीच से विरोधाभासों और द्वंद्वों के उभरने से, उघड़ गए? यहां, शिक्षा की खिड़की से इसी जटिल और बहु-आयामी परिस्थिति को समझने का प्रयास किया गया है। 'किशोर भारती' का अनुभव उदारवादी शिक्षा के राजनीतिक भोलेपन के खतरों की ओर भी इशारा करता है।

---

* दबाव शायद कार्यकारिणी के भीतर से ही था. कार्यकारिणी के एक पिपरियावासी सदस्य आपातकाल के पहले आर.एस.एस. के सक्रिय सदस्य थे और आपातकाल के दौरान जेल भेज जाने से बच गए थे. ये 1977 में किशोर भारती के संपर्क में आए. हालांकि उनका कहना था कि उनका आर.एस.एस. से मोहभंग हो चुका है और वे आर.एस.एस. छोड़ चुके थे, परंतु उनकी आस्थाएं कभी डिगी नहीं. मजदूर संगठन के कुछ सदस्यों ने 'किशोर भारती' के इस विरोधाभास की हमेशा तीखी आलोचना की थी। ये सदस्य कार्यकारिणी के 'लोकल एक्सपर्ट' और सलाहकार भी रहे. ये आज भी 'किशोर भारती' कार्यकारिणी के सदस्य हैं और पिपरिया में भाजपा के नेता हैं.

** यहां यह कह देना भी जरूरी है कि 1990-91 में जब पटवा सरकार को यह परिसर दिया गया था तब तक बाबरी मसजिद और अयोध्या में राम मंदिर का मुद्दा काफी गरमा चुका था और शिलान्यास के लिए ईंटें पिपरिया से भेजी गई थीं. फैसले शायद इतने मासूम नहीं थे.

संदर्भ और संक्षिप्त इतिहास

सत्तर के दशक की शुरुआत से ही शिक्षा मंत्रालय ने ऐसे ग्रामीण युवाओं के लिए, जो विद्यार्थी नहीं थे और जिनकी, साठ के दशक में स्वतंत्रता के बाद की टूटती उम्मीदों से पैदा हुई खलबली से प्रभावित होने की संभावना थी, उनके लिए (आंदोलनात्मक नहीं) रचनात्मक रास्ते बनाने के उद्देश्य से केंद्र सरकार द्वारा जिला स्तर पर नेहरू युवक केंद्र* जैसी संस्थाएं खोलने की शुरुआत की गई थी। साथ ही स्वैच्छिक संस्थाओं से युवाओं को जोड़ने के लिए गैर-सरकारी संस्थाओं को आर्थिक मदद (अनुदान) देने की योजना की शुरुआत की गई थी। सत्तर का दशक आते-आते सरकार और औद्योगिक प्रतिष्ठानों से आर्थिक सहायता प्राप्त करके कई 'स्वैच्छिक संस्थाएं' बनीं जिनका उद्देश्य शिक्षा, रचनात्मक और विकास कार्यों के द्वारा समाज में परिवर्तन लाना था।

इतिहास : भौगोलिक पारिस्थितिकी (इकोलाजी) की दृष्टि से होशंगाबाद** जिला दो अलग-अलग हिस्सों से बना है—नर्मदा का उपजाऊ मैदानी इलाका और सतपुड़ा का पहाड़ी क्षेत्र। इस अध्ययन के केंद्र में बनखेड़ी प्रखंड का पहाड़ी क्षेत्र और उसके नीचे का मैदानी क्षेत्र है जहां किशोर भारती संस्था स्थित थी।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह क्षेत्र बड़े गोंडवाना क्षेत्र, जिसका उदय सोलहवीं सदी की शुरुआत में हुआ था, का हिस्सा था। अकबर के जमाने से गोंड राजा नाममात्र को ही मुगलों के आधिपत्य में थे। मराठा ताकत के उदय के साथ ही गोंड इलाके सागर रियासत के हिस्से बन गए। अंततः ये इलाके नागपुर रियासत द्वारा 1818 में अंग्रेजों को दे दिए गए। आज के जिले के बाकी हिस्से 1860 में ग्वालियर रियासत द्वारा ले लिए गए। इसी समय के आसपास होशंगाबाद जिला अस्तित्व में आया। यह सीधे अंग्रेज सरकार के प्रशासन के अंतर्गत था (केंद्रीय प्रोविंस और बरार)।

मराठा राज्य के साथ ही मालगुजारी राजस्व व्यवस्था और नए बसने वाले आए। नए बसने वालों में मुख्यतः राजपूत और ब्राह्मण थे। इन्होंने कम किराया देकर राज गोंडों से बड़ी-बड़ी जमीनें ले लीं और इनमें से बहुत सारे लोग मराठा शासकों के लिए मालगुजारी का काम करने लगे। ब्रिटिश शासकों ने मालगुजारों को स्थायी अधिकार दे दिए। इस प्रकार ये समूह एक ताकतवर वर्ग के रूप में ग्रामीण इलाके में उभरा। अंग्रेजों ने जिले से होकर

---

* 'इस योजना के मौलिक उद्देश्य अविद्यार्थी युवाओं को ग्रामीण इलाकों में विकास और राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत उद्देश्यों (जैसे, आत्मनिर्भरता, समाजवाद, धर्म निरपेक्षता, प्रजातंत्र, राष्ट्रीय अखंडता और वैज्ञानिक मानसिकता) के विकास को फैलाने और लोकप्रिय बनाने में अगुआ के रूप में देखा गया था' (1978 : 1, नेहरू युवक केंद्र, रिव्यू समूह की रपट, भारत सरकार).

** यह 1997 तक के होशंगाबाद जिले की बात है. अब यह जिला दो जिलों में बांटा जा चुका है—होशंगाबाद और हरदा.

गुजरने वाली बंबई-जबलपुर रेलवे लाइन भी 1871 में बनाई जिससे व्यापार में बढ़ोत्तरी हुई। इसके साथ ही व्यापारी और साहूकार परिवारों का राजस्थान की तरफ से आगमन हुआ। उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशक में इनमें से कई परिवारों ने जो मुख्यत: माहेश्वरी समुदाय के हैं अकालों के दौरान आई मुसीबतों के कारण बेची गई जमीनें खरीद लीं। इसी दौरान व्यापारिक और औद्योगिक इस्तेमाल के लिए राजसत्ता द्वारा जंगलों का नियंत्रण अपने हाथ में लेने के साथ-साथ सागौन के पेड़ लगाना भी शुरू हुआ। मैदानी इलाके के जमीन के मालिकों और व्यापारियों और जंगलों पर सरकारी नियंत्रणों के कारण ये सत्ता के लुटेरे केंद्र बने। नई-नई बनी न्याय व्यवस्था ने इन्हें इकट्ठे रखा। इस कानूनी व्यवस्था की बपौती अभी तक लोगों के जीवन को त्रास देती है बावजूद इसके कि स्वतंत्रता के बाद कई बड़े परिवर्तन हुए।

सेंट्रल प्रोविंस और बरार से हिंदी क्षेत्र निकालकर मध्य प्रदेश राज्य बनाया गया। होशंगाबाद जिला मध्य प्रदेश का हिस्सा बना। 1955 में मालगुजारी व्यवस्था खत्म हुई और सभी जोतदारों को मालिकाना हक दे दिया गया। इसके बाद खेती में बहुत तकनीकी परिवर्तन आए। इन परिवर्तनों से इस क्षेत्र की राजनीति में परिवर्तनों से ज्यादा ग्रामीण स्तर पर उत्पीड़न के ढांचे बदले।

इन परिवर्तनों के कारण उत्पीड़ित वर्ग ज्यादा से ज्यादा जंगल पर निर्भर होता गया। जिले के इस क्षेत्र में, जहां किशोर भारती स्थित है, इन उत्पीड़ित समूहों में बसोड़ और रज्झर (आदिवासी जाति) और कोरकू तथा गोंड (आदिवासी जनजाति) शामिल हैं। समय बीतने के साथ-साथ जंगलों पर राजसत्ता का नियंत्रण बढ़ता गया। लोगों के परंपरागत अधिकार धीरे-धीरे अपराध की श्रेणी में आने लगे जिनके लिए कानूनी रूप से सजा मिल सकती थी। गांव वालों के बचे-खुचे अधिकार निस्तार अधिकारों तक सीमित हो गए। निस्तार के अंतर्गत जितना कोटा मिलता है वह गांव वालों की घरेलू जरूरतों के लिए भी बहुत थोड़ा होता है। और क्योंकि गांव वालों के पास जीवन निर्वाह के साधन अपर्याप्त हैं इसलिए वे वनोपज को गैर-कानूनी तरीके से इकट्ठा करके और बेचकर अपनी आमदनी बढ़ाते हैं। इस तरह से वन कानूनों को तोड़ना उनके जीवन निर्वाह के लिए अपरिहार्य हो गया है।

कानून चाहे जो भी हों ग्रामीण समाज में इस प्रकार कानून तोड़ने को गलत नहीं माना जाता। बल्कि गैर-आदिवासी आदिवासियों और रज्झरों को कानून तोड़ने के लिए उकसाते हैं क्योंकि इस प्रकार उन्हें अपने हल-बखर, बैलगाड़ी और घर बनाने के लिए सस्ते दामों पर लकड़ी मिल जाती है और कानून तोड़ने का दोष भी आदिवासियों के सिर मढ़ जाता है। आदिवासी कई रातों की मेहनत से लकड़ी काटते हैं ताकि उसके गट्ठे सिर पर ढोकर जंगल से बाहर लाए जा सकें या साइकिल पर बांधे जा सकें। वन विभाग के लोगों से बचना, उन्हें घूस देना, पिटना, लकड़ी पकड़े जाना, कुल्हाड़ी जब्त होना, रेंज आफिस में बंद होना और इससे भी गंभीर परिणाम भोगने का खतर इन्हें मोल लेना पड़ता है। इसी

प्रकार बड़े-बड़े व्यापारी और तस्कर गैर-कानूनी ढंग से सागौन की लड़की आदिवासियों से ही कटवाते हैं। लेकिन ये बड़े व्यापारी और तस्कर कानून की पकड़ में नहीं आते। कानून की गिरफ्त में इस गैर-कानूनी व्यापार के सबसे नीचे की कड़ी जो मात्र मजदूर हैं यानी रज्झर और आदिवासी, वही आते हैं।

खेती के आधुनिकीकरण ने इन वर्गों की जंगल पर निर्भरता को और बढ़ाया ही है। यह आधुनिकीकरण सत्तर के दशक से शुरू हुआ था। बनखेड़ी के मैदानी इलाके में, जहां जमीन रेतीली और अनुपजाऊ है, ट्यूबवेल से सिंचाई आम किसानों की पहुंच के बाहर रही। सीमेंट के रिंगों के कुओं से, जो किशोर भारती के कारण शुरू हुए, सिंचाई छोटे किसानों तक पहुंचाई। इससे गांवों में बिजली का पहुंचना, खेती का मशीनीकरण और फसल चक्र बदलने की शुरुआत हुई। गन्ने और सोयाबीन की खेती भी शुरू हुई। सड़क के पास बसे ठैनी गांव के फार्म इन्हीं परिवर्तनों का संकेत हैं। ठैनी गांव के सेठ राजस्थान के व्यापारी-साहूकार परिवारों के थे। स्वतंत्रता के आसपास तक इन्होंने 800 एकड़ तक जमीन हथिया ली थी। परंतु सीलिंग कानून के चलते अधिकतर रही जमीन बेचकर मात्र 300 एकड़ अपने पास रखी। सत्तर के दशक से इन्होंने आधुनिक सिंचित खेती शुरू की और सीड कारपोरेशन से बड़े-बड़े ठेके प्राप्त किए। ये अब आसपास के गांवों के गरीब किसानों की जमीनें लीज पर लेकर खेती करवाते हैं। दाल मिल के अलावा इन्होंने शक्कर मिल भी शुरू की है।

इटारसी क्षेत्र में खेती का आधुनिकीकरण तवा बांध से शुरू हुआ जो 1975 में पूरा हुआ था। नहर से सिंचाई के साथ-साथ संकर जाति के बीज, रासायनिक खादें और कीटनाशक इस क्षेत्र में आए और शुरू में उत्पादन भी बढ़ा। लेकिन कुछ समय बाद ही जमीन के दलदलीकरण की समस्या शुरू हो गई। वास्तव में इस इलाके में खरीफ की फसल के दौरान सिंचाई की जरूरत थी ही नहीं क्योंकि यहां काफी पानी बरसता है और काली मिट्टी पानी को बचा लेती है। परंतु 'तवा बांध' के कारण पानी का स्तर लगातार बढ़ रहा है। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन घट रहा है। इस तरह तवा परियोजना बेमिसाल है क्योंकि यह वास्तव में उत्पादन घटाने में योगदान दे रही है। कंट्रोलर जनरल की एक रपट के अनुसार, 'तवा परियोजना एक गड़बड़ सोच पर आधारित थी और जो लाभ सोचे गए थे वे कभी पूरे नहीं हो सकते।'

पहाड़ी क्षेत्र से जहां बांध स्थित है और जो केसला प्रखंड का हिस्सा है वहां बांध से अलग तरह की तबाही मची। यहां करीब 20,000 एकड़ उपजाऊ जमीन डूब गई और बीस गांवों को खाली करवाया गया था। नीचा जल स्तर और जमीन के प्रकार के कारण यहां ट्यूबवेल और नहरों से सिंचाई संभव नहीं थी। हालांकि इस क्षेत्र में कई छोटे-छोटे झरने और जलधाराएं हैं परंतु छोटे बांधों के न होने के कारण इस क्षेत्र में पीने के पानी की भी लगातार कमी रहती है।

इस क्षेत्र में लगातार कई वर्षों से चली आ रही पानी की कमी के कारण खेती की

हालत भी बदतर हुई है। यहां के अधिकतर ग्रामवासी या तो छोटे किसान हैं या भूमिहीन मजदूर। जिनके पास जमीन के छोटे-छोटे टुकड़े हैं वे भी कोदो, कुटकी जैसा मोटा अनाज ही उगा पाते हैं। जंगलों के कटने से जंगली जानवर गांवों में घुस आते हैं और इनकी फसलें बरबाद करते हैं। फसलों के सबसे बड़े दुश्मन जंगली सूअर हैं। दि वाइल्ड लाइफ (प्रोटेक्शन) कानून, 1972 (धारा 9) के तहत ये संरक्षित पशु हैं। गांव वालों को लगातार चौकीदारी करनी पड़ती है क्योंकि सूअरों के झुंड कुछ ही घंटों में फसल बरबाद कर देते हैं। पहले, जंगली सूअरों का शिकार और उन्हें खाना आदिवासियों के जीवन का हिस्सा था। जंगली सूअर के मांस को सामूहिक रूप से जश्न मनाकर खाने का रिवाज था। अब यदि ये जंगली सूअर को मारते हैं तो इन पर इसी कानून की धारा 51 के तहत मुकदमा चलाया जा सकता है। इस प्रकार इनके भोजन का स्रोत कानूनी रूप से सुरक्षित होकर अब इनकी फसलों अर्थात भोजन को बरबाद करने वाला बन गया है।

इस तरह की विकास प्रक्रिया ग्रामीण समाज के सबसे अधिक उत्पीड़ित लोगों को हाशिए पर पटक रही है। यह देश के लगभग हर क्षेत्र में हुआ है। इसी जिले के केसला विकास खंड में (जो कोरक आदिवासी बहुल इलाका है) 1972 में केंद्रीय प्रूफ रेंज की स्थापना हुई। उससे इन आदिवासियों की जिंदगी और भी कठिन हो गई। यह रेंज करीब 117 वर्ग किलोमीटर में फैली हुई है। 23 गांवों में बसे करीब 1,000 से कुछ अधिक परिवारों को इस रेंज की स्थापना के लिए अपने गांव छोड़ने पड़े। इस तरह से विस्थापित लोगों का 36 अलग-अलग गांवों में पुनर्वास किया गया। बांध और प्रूफ रेंज से विस्थापन के कारण केसला का पहाड़ी क्षेत्र मैदानी बनखेड़ी क्षेत्र से अलग तरह की उत्पीड़न की परिस्थितियों से जूझ रहा है। 1972 में जब किशोर भारती बनखेड़ी क्षेत्र में आई थी तब बनखेड़ी और केसला, दोनों क्षेत्रों के शोषण और उत्पीड़न के मुद्दे दबे हुए थे और सरकारी भाषा में माहौल शांत था (पी.यू.डी.आर. 1992)।

पलिया पिपरिया गांव

पलिया पिपरिया शायद 100 साल पहले ही बसा था लेकिन यहां के लोग अपने साथ इस क्षेत्र का लगभग 400 सालों का धीमी गति से परिवर्तित होता इतिहास संजोए हुए हैं। शायद उससे पहले का इतिहास भी। मौखिक इतिहास से पता चलता है कि यहां की जमीन के मालिक गोंड आदिवासी और रज्झर लोग थे। औपचारिक इतिहास राजस्थान से आए पलिया परिवार के, जिनके नाम पर गांव का नाम है, बसने के साथ शुरू होता है। पलिया परिवार को अंग्रेजों के द्वारा गांवों के झुंडों की मालगुजारी और सागौन के पेड़ लगाने के अधिकार दिए गए थे। इस 1,200 एकड़ में फैले पलिया पिपरिया के हार के बीच में पलिया परिवार के घर, अनाज और चारे के गोदाम, आटा चक्की और जानवर बांधने की जगह हैं। गांव

दुधी नदी, जो तवा नदी की शाखा है और जो खुद नर्मदा की उपनदी है, के तट पर बसा है। रज्झर लोग नदी से मछली पकड़ते हैं और कहार गरमियों में नदी के तट पर सब्जियां और खरबूजा-तरबूज उगाते हैं। यहां से 10 किलोमीटर दूर झिरिया का जंगल है जहां रज्झर और आदिवासी जलाऊ लकड़ी, इमारती लकड़ी और अन्य वन उत्पाद के लिए जाते हैं।

'पलिया पिपरिया गांव बनखेड़ी से सात किलोमीटर दूर पूर्व में है और सड़क से करीब आधा किलोमीटर दूर पर बसा है। बनखेड़ी और किशोर भारती के निकट होने के कारण यहां बिजली, रिंग के कुएं तथा सरकारी नलकूप (ट्यूबवेल) बहुत जल्दी ही बन गए थे। पिछले दो दशकों में भूमिहीन मजदूरों के लिए काम के मौके बढ़े हैं परंतु साथ ही अमीरों और गरीबों के बीच की खाई भी। गांव अमीरी और गरीबी का पैना विरोधाभास दरशाता है। पलिया परिवार के पास गांव की 200 एकड़ जमीन है और बाकी 40 ब्राह्मण परिवारों के पास 10 से 40 एकड़ तक जमीन है। बाकी करीब 150 परिवारों में 40 कहार, 20 मुसलमान, 40 आदिवासी, 40 रज्झर और छिटपुट चमार, बसोड़, अहीर और गड़रिए परिवार हैं जो या तो भूमिहीन हैं या इनके पास एक से पांच एकड़ तक जमीन है। सरकारी दृष्टि से गांव सिंचित कहलाता है, परंतु यदि छोटे और सीमांत किसान सिंचित खेती करना चाहते हैं तो उन्हें बड़े किसानों से, उनकी मर्जी के अनुसार, महंगी दरों पर पानी खरीदना पड़ता है। इसलिए वे सूखी खेती करते हैं। क्योंकि अब पास के गांवों, मछेरा, माल्हनवाड़ा, लामटा और ठैनी फार्म और शक्कर मिल में काम मिल जाता है इसलिए इन्हें दूर, नर्मदा किनारे के संपन्न तथा उपजाऊ जमीन वाले इलाकों में मजदूरी करने के लिए नहीं जाना पड़ता है' (पी.यू.डी.आर., 1992 : 14)।

किशोर भारती द्वारा 1977 में तैयार पृष्ठभूमि के परचे के अनुसार, 'गांव में आम सामंती व्यवस्था है और सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों पर ब्राह्मणों का प्रभुत्व है। पलिया परिवार ग्राम पंचायत का नियंत्रण करता है और अंग्रेजों ने जब से इस परिवार को मालगुजारी का हक दिया था और इन्हें इस गांव में बसाकर आसपास के 20 मील तक के बसे गांवों में लगान वसूलने की जिम्मेदारी सौंपी थी तभी से यह परिवार 'पटेली' के अधिकार का भी उपयोग करता है। पलिया परिवार के कई शाखाएं हैं जिनकी इस क्षेत्र के अन्य गांवों में यही ऐतिहासिक भूमिका रही है और व्यापक प्रभावशाली सामंती व्यवस्था में इनका महत्वपूर्ण स्थान है' (किशोर भारती, 1977 ख)।

'1977 में पलिया पिपरिया गांव में मात्र एक प्राथमिक शाला थी और स्कूल जाने वाली उम्र के मात्र 40 प्रतिशत बच्चे स्कूल जाते थे' (किशोर भारती, 1977)। '1981-82 में किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार गांव की शिशु मृत्यु दर 190 शिशु/1,000 शिशु थी। गरीब परिवारों में यह दर 300 थी। एक से पांच वर्ष के उम्र के बच्चों की मृत्यु दर उतनी ही थी जितनी एक वर्ष तक के शिशुओं की मृत्यु दर' (एजूकेशन, 1987 : 4)। रोजगार की स्थिति गंभीर थी ही क्योंकि यह एकफसली इलाका था। सत्तर के दशक तक धान की रोपाई के बाद कटाई से पहले के तीन-चार महीने यानी मानसून का अधिकतर

समय गरीब परिवारों के लिए फांकों का वक्त होता था।

सामाजिक परिवर्तन—किशोर भारती की प्राथमिकता : ग्रामीण विकास और शिक्षा किशोर भारती की दो प्रमुख प्राथमिकताएं थीं। किशोर भारती की पहली वार्षिक रपट में इसके विषय में यों लिखा था, किशोर भारती ग्रामीण विकास और शिक्षा का एक प्रयोग है। पिछले कई वर्षों से हम इस दिशा में किए गए स्वैच्छिक और सरकारी प्रयासों का अध्ययन कर रहे हैं। इन अध्ययनों और अपने स्थानीय अनुभवों से हम गांवों में समाज परिवर्तन के दोतरफा तरीके इस्तेमाल करने के निष्कर्ष पर पहुंचे हैं। पहला, हमें एक आर्थिक संरचना बनाने की जरूरत है और दूसरा, हमें वर्तमान शिक्षा में आमूल परिवर्तन करके उसे गांवों की परिस्थितियों के अनुकूल बनाना होगा। इस तरह से हम उम्मीद कर सकते हैं कि हम ग्रामीण युवाओं का शहर की तरफ छोटे-छोटे काम ढूंढ़ने के लिए निरर्थक पलायन रोक पाएंगे' (किशोर भारती, 1973 : 1)।

किशोर भारती ने व्यवस्था में भी भरोसा-सा अभिव्यक्त किया, 'इन सभी कामों के आधार में यह मानकर चला जा रहा है कि अभी भी वर्तमान सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के भीतर से ही सार्थक परिवर्तन लाए जा सकते हैं' (किशोर भारती, 1973 : 1)।*

गतिविधियों की शुरुआत और विरोधाभासों का उभरना : इस हिस्से में उन विरोधाभासों का जिक्र है जो किशोर भारती की शिक्षा और विकास की गतिविधियों के शुरू होते ही उभरने लगे थे। किशोर भारती के संस्थापकों और समर्थकों के काफी प्रयासों के बाद 1970 में, मध्य प्रदेश सरकार को किशोर भारती संस्था के लिए तीस साल की नाममात्र

* 'किशोर भारती' के उदय की पृष्ठभूमि का सटीक विवरण और विश्लेषण पी.यू.डी.आर. की रपट 'सतपुड़ा की घाटी' में मिलता है. इस रपट के अनुसार औपनिवेशिक शासन के बाद साठ के दशक में भारतीय राज्य और अर्थव्यवस्था गंभीर संकट के दौरे से गुजर रही थी. इस संकट से दो वैकल्पिक परिप्रेक्ष्यों का जन्म हुआ. पहला परिप्रेक्ष्य था किसान आंदोलन का जो मौजूदा सामाजिक ढांचों में आमूल परिवर्तन की चाह पर टिका था और इसलिए सचेत रूप से राज विरोधी था. ये आंदोलन आज भी देश के कुछ हिस्सों में मौजूदा आर्थिक सामाजिक-व्यवस्था को चुनौती दे रहे हैं. दूसरा विकल्प स्वैच्छिक संस्थाओं में प्रतिबिंबित होता है. समय के साथ-साथ इनको मौजूदा संस्थानों, राजनीतिक दलों, खास तौर से वाम दलों, की असफलता के संदर्भ में देखा जाने लगा है. जमीनी स्तर पर इनका रास्ता लोगों की जागरूकता बढ़ाने का अहिंसक (चाहे धीमा ही हो) रास्ता लगता है. एक दूसरे स्तर पर, एक हद तक इसे ज्यादा समान विकास का वैकल्पिक रास्ता माना गया था जिसका जोर लोगों की भूमिका पर हो. लगभग इसी समय, पांचवीं पंचवर्षीय योजना के तहत, सरकार ने स्वयं भी चुनी हुई संस्थाओं द्वारा किए जा रहे विकास और कल्याणकारी कामों को प्रोत्साहन दिया. और इस प्रकार तरह-तरह की ढेरों संस्थाएं अस्तित्व में आईं और पूरे देश में बिखरे हुए ढेरों व्याकुल, असंतुष्ट और बेचैन युवा इनकी तरफ आकर्षित हुए. कई प्रकार से 'किशोर भारती' इस दूसरे विकल्प की प्रतीक बनी (पी.यू.डी.आर., 1992 : 16).

की लीज पर 150 एकड़ जमीन देने के लिए राजी कर लिया गया। जैसा कि पहले भी लिखा है कि यह जमीन बनखेड़ी तहसील के पलिया पिपरिया गांव में स्थित थी। उस समय होशंगाबाद जिले का यह हिस्सा एकफसली इलाका था और खेती का काम पूरी तरह से वर्षा पर निर्भर था।

पलिया पिपरिया गांव का भूमिहीन और सबसे गरीब समुदाय रज्झर किशोर भारती के इस जमीन का हकदार बनने से अत्यंत नाराज था। किशोर भारती को यह जमीन मिलने से पहले इस जमीन पर खड़े सैकड़ों कौसम के पेड़ों की लीज पलिया परिवार के पास थी। यह परिवार रज्झरों को मजदूरी पर लगाकर कौसम के पेड़ों पर लाख उगवाता था और इसके लिए उन्हें नाममात्र की मजदूरी मिलती थी। लेकिन मजदूरी से ज्यादा महत्वपूर्ण बात थी कि लाख लगाने-तोड़ने के बहाने रज्झर लोगों को इस घने जंगल में घुसने का मौका मिलता था जिससे वे न केवल थोड़ा लाख चोरी करके बेचते थे, वरन जंगल उनके पशुओं के लिए हरे चारे और जलाऊ लकड़ी, महुआ, हर्र, बहेड़ा, इमली, आंवला आदि जैसी लघु वनोपज का स्रोत उनके लिए उपयोगी था। किशोर भारती के आने से पहले उस जमीन पर लगे सागौन के सारे पेड़ सरकार ने कटवा दिए थे। पलिया परिवार ने कौसम के पेड़ों की लीज के लिए उच्च न्यायालय में केस कर दिया। अदालत का फैसला किशोर भारती के पक्ष में तो हुआ, लेकिन वर्षों बाद। इसलिए न तो इन कौसम के पेड़ों पर लाख उगाई गई न वनोपज इकट्ठी करने के लिए कोई गांव वाला किशोर भारती की जमीन में घुस सकता था। यानी किशोर भारती जो गरीब और पिछड़े लोगों की शिक्षा और विकास के काम के लिए उस क्षेत्र में स्थापित की गई थी, शुरुआत होते ही इस विरोधाभास में उलझ गई। किशोर भारती की स्थापना से रज्झर परिवार एकदम बेरोजगार हो गए और उनके इस गुस्से के कारण किशोर भारती को लेकर उनका गहरा अलगाव 1980 तक रहा।

किशोर भारती को दी गई रेवेन्यू की इस जमीन पर सागौन का घना जंगल था। इतना घना कि गांव वालों के अनुसार दिन के समय भी जंगल में अंधेरा होता था। सागौन के पेड़ों को रेवेन्यू विभाग ने कटवाकर जमीन किशोर भारती को दी थी। इसलिए किशोर भारती की पहली गतिविधि जमीन में बीस-बीस, पचीस-पचीस फुट की गहराई तक धंसे हुए सागौन के ठूंठों को निकलवाना था। इन सैकड़ों ठूंठों को निकलवाने का काम सैकड़ों मजदूरों ने ठेके पर किया। इसके बाद किशोर भारती ने बड़े पैमाने पर ट्रैक्टर आदि की मदद से खेती की शुरुआत की, कुएं खुदवाए, भवन इत्यादि बनवाए। शहर से गए वैज्ञानिकों के लिए यह साहसिक काम था, पर एकफसली खेती वाले गरीब इलाके में, जहां फरवरी-मार्च के आसपास गांव के गांव रोजगार की तलाश में चना और गेहूं काटने के लिए नर्मदा के कछार की तरफ पलायन कर जाते थे, वहां इतने बड़े पैमाने पर होने वाले काम से गांव वालों में किशोर भारती की छवि बहुत बड़े और धनी जमींदार की बनी। गरीब लोगों का यह अलगाव जिसकी जड़ें किशोर भारती के इतिहास में थीं, किशोर भारती के काफी सदस्यों के लिए लगातार चिंता का विषय रहा।

आर्थिक विकास कार्यक्रम : शुरुआत में किशोर भारती ने विकास के 'आधुनिकीकरण' के परिप्रेक्ष्य में काम किया। इसके परिसर पर एक प्रदर्शन फार्म बनाया गया जिसका उद्देश्य आत्मनिर्भरता के लिए खेती करना भी था। इसके साथ ही उद्देश्य बच्चों तथा युवाओं के लिए आधुनिक कृषि के माध्यम से शिक्षा का ढांचा खड़ा करना भी था। इसके तहत ट्रैक्टर उन्नत (संकर) बीज, सघन सिंचाई, रासायनिक खादों और कीटनाशकों के विषय में सीखना और उपयोग शामिल था। दुग्ध उत्पादन बढ़ाने के लिए गोसंवर्धन कार्यक्रम भी शुरू किया गया। सिंचाई के लिए रिंग के कुओं की सरल तकनीक का इस्तेमाल किया गया। इसके तहत खुदाई के साथ-साथ कुएं में पहले से तैयार सीमेंट के डेढ़ फीट ऊंचे तथा तीन-चार फीट व्यास के रिंग जमाए जाते हैं। इससे छोटे व्यास के गहरे कुएं, जो पानी के स्रोत तक पहुंच पाएं, काफी सस्ते में बनाना संभव हुआ था। ये कुएं मध्यम किसान की पहुंच में होने के कारण अत्यंत लोकप्रिय हुए और इनके प्रभाव से वह पूरा इलाका एकफसली से दो और तीन फसली हो गया। इसका एक महत्वपूर्ण प्रभाव चैत के दौरान रोजगार के लिए होने वाले पलायन पर पड़ा जो कुछ वर्षों के अंदर ही बहुत कम हो गया।

शुरुआती अनुभवों ने दरशा दिया था कि जमीनी वास्तविकताएं ज्यादा जटिल हैं। विकास के परिप्रेक्ष्य की गंभीर सीमाएं सामने आने लगी थीं और विरोधाभास उभरने लगे थे। कई स्तरों में बंटे उस ग्रामीण समाज में बीज की उन्नत संकर किस्मों, सिंचाई के लिए रिंग के कुएं, गोसंवर्धन कार्यक्रम आदि से (उनके बाद के वर्षों में समझ में आए पर्यावरण को नुकसान पहुंचाने वाले मुद्दों के अलावा) केवल उन लोगों की स्थिति और मजबूत हुई जिनके पास पहले ही जमीन, पैसा और अन्य संसाधन थे, जो न केवल आर्थिक रूप से ताकतवर थे बल्कि सामाजिक और राजनीतिक रूप से भी अपनी उच्च जाति, पूर्व मालगुजारी तथा वर्तमान के भूस्वामी के रुतबे के कारण ताकतवर थे। ताकत भी गांव तक ही सीमित नहीं थी बल्कि उसका जाल गांव से गांवों और गांवों से भोपाल तक फैला था।

किशोर भारती के अपने मूल्यांकन के अनुसार, 'हालांकि रिंगो के कुओं से इस क्षेत्र में संपन्नता आई परंतु धनी और गरीब लोगों के बीच की खाई भी बढ़ी' (सदगोपाल, 1979 : 7)। गोसंवर्धन कार्यक्रम में यदि ज्यादा गहराई में न भी जाया जाए तो भी यह स्पष्ट था कि संकर जाति के पशुओं का रख-रखाव, हरे चारे की जरूरत और व्यवस्था, रोगों से बचाव सभी कुछ भूमिहीन और सत्ताविहीन खेतिहर मजदूरों के बस के बाहर की बात है। पलिया पिपरिया गांव के आठ लोगों का एक समूह ग्रामीण बैंक से ऋण लेकर करनाल से संकर नस्ल की गाएं खरीदकर ले गया था। इससे एक किसान, और गांव वैद्य के ब्राह्मण परिवार के लड़के के अलावा बाकी सब भूमिहीन लोग कर्ज के दुश्चक्र में फंस गए थे। शुरू में दूध बेचने की समस्या आई और फिर एक के बाद एक मुसीबतें—पशु बीमार, वक्त पर कृत्रिम गर्भाधान संभव नहीं, पशु चिकित्सक उपलब्ध नहीं, हरा चारा नहीं, आदि, आदि। कुछ की गाएं मर गईं। कुछ ने खूब घाटा उठाकर गाएं बेच दीं और कर्जा माफ करवाने के लिए ये भूमिहीन लोग 'किशोर भारती' और बैंक के अफसरों का

दरवाजा खटखटाते रहे।

इन अनुभवों ने किशोर भारती को काफी झंकझोरा और गहराई से सोचने के लिए मजबूर किया। परंतु समूह का वैज्ञानिक पद्धति और जनता में वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा करना, जो तार्किकता से समाज में व्याप्त अन्याय और गैर-बराबरी के सामाजिक कारणों की तह तक ले जाएगी, जैसी प्रक्रिया पर भरोसा हिला नहीं। प्रश्न पूछने की क्षमता और प्रेरणा अंततः अभिभावकों, शिक्षकों और विद्यार्थियों तथा आम जनता को सामाजिक और आर्थिक गैर-बराबरी पर सवाल उठाने और इसमें परिवर्तन के लिए जूझने को प्रेरित करेगी—समूह के नेतृत्व का इसमें गहरा भरोसा था। इस समयावधि के कुछ विचार 1979 में *दिनमान* में छपे लेख से स्पष्ट होते हैं। नीचे लिखे बिंदु इसी लेख से उद्धृत किए गए हैं :

- सही अवलोकन और वैज्ञानिक विवेचन हमारे आसपास के सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ को समझने के लिए आवश्यक साधन हैं।
- समाज विज्ञान में यथार्थ का अवलोकन कई नजरियों से किया जाता है। यथार्थ का कौन सा पहलू किसे दिखेगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि देखने वाले की अपनी पृष्ठभूमि क्या है। इसकी तुलना में विज्ञान में यथार्थ का अवलोकन और विवेचन करने की प्रक्रिया कार्यकर्ता के मात्र वैज्ञानिक कौशल पर निर्भर करती है। उसकी वर्ग पृष्ठभूमि पर नहीं।
- विज्ञान में सही अवलोकन और विवेचन करने की क्षमता प्रशिक्षण द्वारा विकसित की जा सकती है। परंतु समाजविज्ञान में यह हमेशा संभव नहीं होता क्योंकि बात निहित स्वार्थों के टकराव तक पहुंच जाती है। इस प्रकार, समाजविज्ञान में कई ऐसे मुद्दे हैं जिनके कारण वैज्ञानिक पद्धति को लागू करने की सीमाएं आ जाती हैं।
- समाज के विकास के लिए सार्थक और उपयोगी योजनाएं तभी बन सकती हैं जब योजना बनाने वाले विशेषज्ञ शोषित लोगों के साथ जुटकर वैज्ञानिक पद्धति सीखेंगे।

इन परिकल्पनाओं से हमें जन आंदोलन में विज्ञान की भूमिका समझने में मदद मिलती है। हमारी आज की समझ के अनुसार विज्ञान की प्रमुख भूमिका शोषित लोगों को अपने सामाजिक और आर्थिक यथार्थ की वैज्ञानिक पद्धति से समझने के लिए तैयार करने में है, ताकि विकास और न्याय के लिए उनके संघर्ष ठोस आंकड़ों और तार्किक चिंतन पर आधारित हों। *अतः वैज्ञानिक पद्धति को अधिक-से-अधिक लोगों तक ले जाने की प्रक्रिया ही सही शिक्षा है जिससे लोग अपने विकास के अवरोधों को पहचान सकें और न्याय* के लिए अपने संघर्षों को और मजबूत कर पाएं। (सदगोपाल, 1979 : 9)

इन उद्धृत विचारों से यह स्पष्ट दिखता है कि विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति की वस्तुनिष्ठता तथा निष्पक्षता पर न केवल भरोसा था, बल्कि उसे सामाजिक जटिलताओं

को समझने का एकमात्र तरीका माना गया था। इसके विपरीत, समाज विज्ञान को आत्मपरक (सब्जेक्टिव) माना और इसलिए इसे सामाजिक व्यवस्था को समझने का सही तरीका नहीं माना गया। इस दृष्टिकोण में यह मान्यता निहित है कि समाज के वैज्ञानिक विश्लेषण में वैज्ञानिक की पृष्ठभूमि भी वस्तुनिष्ठता को प्रभावित नहीं करती इसलिए यही एकमात्र बेहतर पद्धति है। किशोर भारती के नेतृत्व के इस प्रत्यक्षवादी (पोसीटिविस्ट) तार्किकता के फ्रेमवर्क को समझना जरूरी है क्योंकि शिक्षा के कार्यक्रम इसी समझ के तहत विकसित हुए। स्कूली दायरों के बाहर के शिक्षा कार्यक्रमों ने इस फ्रेमवर्क को जमकर चुनौती दी तथा निष्पक्षता की धज्जियां उड़ीं जब सवाल उठा कि वन विभाग के अधिकारियों और पुलिस दमन और पूर्व जमींदारों के अन्याय के संदर्भ में कौन किसके पक्ष में खड़ा होगा? यह समझना इसलिए और भी महत्वपूर्ण है क्योंकि 70 और 80 के दशकों में विकसित जन विज्ञान की अवधारणा तथा अधिकतर जन विज्ञान आंदोलन भी ऐसी ही मान्यताओं और फ्रेमवर्क के तहत विकसित हुए और आज तक समाज के बुनियादी टकरावों तथा द्वंद्वों को अनदेखा करने में सफल हुए हैं।

शिक्षा कार्यक्रम : आर्थिक विकास कार्यक्रमों के साथ ही किशोर भारती ने शिक्षा के कार्यक्रम भी आरंभ किए। शालेय व्यवस्था के तहत यह कार्यक्रम औपचारिक व्यवस्था में हस्तक्षेप के रूप में होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम (होविशिका) के नाम से विकसित हुआ। स्कूल न जाने वाले और स्कूल छोड़ देने वाले बच्चों के साथ 'समग्र शिक्षा कार्यक्रम' (सशिका) विकसित किया गया। ये दोनों कार्यक्रम आधुनिक विकास के परिप्रेक्ष्य के साथ-साथ आगे बढ़ने लगे थे।

अपनी शुरुआती योजना में किशोर भारती ने अपने शैक्षिक और सामाजिक उद्देश्यों को पाने के लिए शालेय व्यवस्था से बाहर छूटे हुए बच्चों के लिए एक आवासीय शाला का प्रस्ताव रखा था। यह सोचा गया था कि ऐसी शाला में विद्यार्थी व्यावसायिक कौशलों के साथ-साथ परिवर्तन के अभिकर्ता (एजेंट) का प्रशिक्षण भी हासिल करेंगे। किशोर भारती की कार्यकारिणी और समूह के सदस्यों ने ग्रामीण समाज की बहुत सरलीकृत समझ के कारण यह उम्मीद लगाई थी कि सशिका में लगभग दो या तीन वर्षों के सघन प्रशिक्षण के बाद ये जागरूक विद्यार्थी अपने-अपने गांवों में वापस जाकर सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू कर सकेंगे। सशिका के सोच में गांधी की बुनियादी शिक्षा के दर्शन का प्रभाव साफ झलकता था। किशोर भारती आरंभ करने से पहले किशोर भारती की शुरुआत करने वाले लोगों ने गुजरात की कई आश्रम शालाओं को देखा भी था। लेकिन इस प्रकार की शिक्षा से परिवर्तन के एजेंट तैयार किए जाएंगे ये शायद सत्तर के दशक के मध्य में प्रचलित रचनात्मक काम की परिकल्पना से ली गई अवधारणा थी। उस समय परिवर्तन के अभिकर्ता तैयार करना जैसी बातें कई संस्थाएं कर रही थीं।

समग्र शिक्षा कार्यक्रम : यह कार्यक्रम 1974 में बच्चों के एक छोटे समूह के साथ शुरू किया गया था। इसमें कार्यक्रम में स्कूल न पहुंच पाने और जल्दी स्कूल छोड़ देने वाले 10 से 16 वर्ष की उम्र के बच्चे शामिल थे। सभी बच्चे भूमिहीन मजदूर या सीमांत किसान परिवारों के थे। कुछ कभी स्कूल गए ही नहीं थे। जो गए भी थे उन्होंने पिटाई के भय तथा पढ़ाई में मजा न आने के कारण स्कूल छोड़ दिया था। इस कार्यक्रम को शुरू करने के साथ ही आवासीय स्कूल की योजना को छोड़ दिया गया था। यह खास तौर से इस बात को मद्देनजर रखकर किया गया था कि आवासीय शाला में बच्चे अपने समुदाय से कट जाएंगे। शायद इस फैसले में भी गुजरात तथा महाराष्ट्र की गांधीवादी सिद्धांतों पर चलाई जा रहीं आश्रम शालाओं का अनुभव मार्गदर्शक बना था। आश्रम शालाओं में शिक्षा प्राप्त करने के बाद अधिकतर विद्यार्थी गांव वापस जाने के बजाए शहर में नौकरी ढूंढ़ते थे। आवासीय स्कूल न होने के कारण हालांकि सशिका के बच्चे किशोर भारती के परिसर पर नहीं रहे परंतु वे इस परिसर में अपना काफी समय बिताते थे।

इस काम में प्रमुख जोर इन मुद्दों पर था : (1) उत्पादन प्रक्रिया पर आधारित शिक्षाशास्त्र जिसमें उत्पादन की प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी के माध्यम से जागरूकता पैदा करने का काम किया गया, (2) पाठ्यक्रम जरूरत पर आधारित था और उसका पहले से निर्धारित कोई ढांचा नहीं था, और (3) जोर सामूहिक निर्णय प्रक्रिया पर था। शैक्षिक विषय—गणित, विज्ञान, भूगोल इत्यादि कृषि परियोजनाओं के माध्यम से सीखे गए। हालांकि सोचा गया था कि पूरी शैक्षिक प्रक्रिया संवाद आधारित या संवादात्मक होगी और कोशिश की जाएगी कि विद्यार्थी और शिक्षक के बीच असमानता या शिक्षा देने और ग्रहण करने वाला रिश्ता न बने पर क्योंकि विशेष बल आधुनिक खेती पर था इसलिए पूरी प्रक्रिया इकतरफा ही रही।

पहली दो कृषि परियोजनाओं के दौरान ही किशोर भारती समूह की चिंता बढ़ गई क्योंकि बच्चों की भाषा, आदतों और दृष्टिकोण से अपने समुदाय से अलगाव के लक्षण स्पष्ट रूप से दिखने लगे थे। इसलिए जिन बच्चों के परिवारों के पास आधा-एक एकड़ जमीन थी तीसरी परियोजना उसी के एक-एक हिस्से में शुरू की गई। कुछ बच्चों ने अपने जीवन में आधुनिक खेती की तकनीकें सीखने की निरर्थकता का प्रश्न उठाया था। तीसरी परियोजना के साथ ही यह मुद्दा और भी पैना हो गया। अन्य कारणों से भी इन बच्चों को 'वापस' अपने गांवों में भेजना कोई अच्छा अनुभव नहीं रहा। ये बच्चे 'किशोर भारती' और गांव दोनों से अलगाव महसूस करने लगे थे। इसके अलावा, किशोर भारती समूह की सामाजिक परिस्थितियों की सरलीकृत समझ ने तब तक न तो स्वयं सामाजिक परिवर्तन में द्वंद्व, टकराव और राजनीतिक संघर्ष की भूमिका को गहराई से समझा था और न ही इसकी कोई तैयारी शैक्षिक प्रक्रिया में हुई थी। हालांकि सशिका के कई अनुभवों ने बहुत शीघ्र ही यह सिखा दिया था कि यथास्थिति में किसी भी प्रकार के परिवर्तन का प्रयास सामंती प्रभुत्व को चुनौती देगा और ये निहित स्वार्थ इसका जमकर विरोध करेंगे।

यह कार्यक्रम लगभग तीन वर्षों (1975-77) तक जारी रहा। इससे किशोर भारती समूह ने कई गंभीर राजनीतिक बातें सीखीं। उत्पादन प्रक्रिया में हस्तक्षेप से, इस समूह ने आम जनता के खेती के मूल्यवान ज्ञान के बारे में सीखा जो किसी औपचारिक शिक्षा पाठ्यक्रम या विकास कार्यक्रमों और नीतियों का न तो हिस्सा बनता और न उस पर चर्चा होती है। यानी किस भाषा में व्यक्त कौन सा ज्ञान ज्ञान कहलाता है और मान्यता पाता है तथा कौन सा नहीं यह बहुत स्पष्ट रूप से सामने आया। सशिका के बच्चे जब ग्रामीण विकास अधिकारियों, खास तौर से कृषि अधिकारियों से कृषि संबंधी जानकारियां और सूचनाएं लेने जाते थे तो उनका हमेशा यह अहसास बनता था कि कृषि अधिकारी उस क्षेत्र की फसलों, फसलों की बीमारियों, जमीन के प्रकार, बीजों, सिंचाई की परिस्थितियों, भूमि के वितरण आदि के बारे में कुछ जानता ही नहीं था; जानता नहीं और फिर भी रुआब दिखाता था; वह केवल बड़े किसानों से बात करता था; इत्यादि। ये विद्यार्थी हमेशा कहते थे, 'अरे बे का जानें बे तो अफसर हैं। बे का गांव में फिरत हैं। उम्दा जीप में बैठ के आत हैं। पटेलों के घरे मिजबानी करत हैं, चाय-नास्ता करत हैं और ये जा कि वो जा।' इस प्रकार ज्ञान विद्यार्थियों से ज्यादा सशिका के शिक्षकों और किशोर भारती समूह ने गांव की परिस्थितियों और ब्लाक स्तरीय नौकरशाही पुलिस और पटेलों और बड़े किसानों के गठबंधन के बारे में सीखा था।

यह भी सीखा कि शिक्षा न तो टकराव रहित है और न ही निष्पक्ष है। पंचायत के काम और भूमिका पर जानकारी लेने ये विद्यार्थी जब सरपंच तथा पंचों के पास पहुंचने का प्रयास करने लगे तो गांव वालों से मालूम हुआ था कि सालों से न तो पंचायत की बैठक हुई थी, न पंचायत के काम और आय-व्यय की कोई भी जानकारी किसी के पास थी। पर इस अहानिकारक सी लगने वाली गतिविधि ने गांवों में, खास तौर से सबसे निकट के गांव पलिया पिपरिया में, हलचल मचा दी थी। एक तरफ तो विद्यार्थियों और शिक्षकों के पंचायत के बारे में तथा अन्य गांव स्तरीय जानकारी हासिल करने के सामूहिक प्रयास ने शक पैदा कर दिए थे और सामंती ताकतों और ऊंची जाति के लोगों को भड़का दिया था। दूसरी तरफ, सशिका कार्यक्रम के माध्यम से गरीब, पिछड़ी हुई जातियों के बच्चों को जो महत्व मिला उससे पीढ़ियों से चला आ रहा वर्गाधारित और जाति आधारित सत्ता का ढांचा, जिस पर कभी किसी ने (उन गांवों में) कुछ कहने की जुर्रत नहीं की थी, वह प्रश्नों के घेरे में आ गया था। सत्तर के दशक में उस क्षेत्र में हालात इतने खराब थे कि इन विद्यार्थियों के पास सस्ते पेन देखकर भी सामंती लोग भड़क उठते थे और थप्पड़ मारकर या डांटकर यह कहते हुए कि 'बड़ा लाट-गवर्नर बनने चला है' पेन छीन लेते थे। उस पूरे क्षेत्र में पुस्तकालयों और शिक्षा के लगातार हुए काम से तथा रिंग के कुओं, सोयाबीन की खेती, शक्कर मिल, रेशम केंद्र आदि के कारण हुए थोड़े-बहुत आर्थिक विकास से इस सामंती जकड़न में कुछ तो ढील पड़ी थी, पर अब ध्रुस्कुटे ट्रस्ट की उपस्थिति उसे किस तरफ ले जाएगी यह देखने की बात है।

इस शैक्षिक कार्यक्रम के खत्म होते-होते किशोर भारती समूह को यह समझ में आ गया था कि जीवन निर्वाह के संघर्षों से जुड़ी समस्याएं जैसे रोजगार, मजदूरी, भूमि पर अधिकार, जंगल, पानी, आर्थिक शोषण और सांस्कृतिक उत्पीड़न से मुक्ति, आदि वहां के लोगों की दृष्टि में 'शिक्षा' की तुलना में ज्यादा अहम मुद्दे थे। यह स्पष्ट रूप से उभरा कि शिक्षा कार्यक्रम, इस व्यापक सचाई के संदर्भ में, इससे जोड़कर ही बनाए और चलाए जा सकते हैं, इससे अलग-थलग मात्र शिक्षा कार्यक्रमों की तरह नहीं। यह भी स्पष्ट था कि बच्चों को प्रशिक्षण देकर परिवर्तन के एजेंट बनाकर गांव में भेजना और यह उम्मीद करना कि वे इन सामंती ताकतों, पुलिस तथा नौकरशाही के गठबंधन से टक्कर लेंगे, किशोर भारती की राजनीतिक अपरिपक्वता ही दरशाता था।

आवासीय शाला बनाने का विचार छोड़ देने के साथ ही यह प्रश्न भी उठा कि फिर किशोर भारती इतनी अधिक जमीन का क्या करेगी? 'किशोर भारती' को अपनी शिक्षा और विकास की गतिविधियों के लिए कभी भी इतनी ज्यादा जमीन नहीं चाहिए थी। बल्कि इतनी अधिक जमीन मुसीबत और परेशानी का जरिया ही बनती गई थी। जमीन रेतीली थी इसलिए उस पर खेती करना भी लाभदायक नहीं था। इसलिए, 1979 में 120 एकड़ जमीन सरकार को वापस लौटाने का इकतरफा फैसला 'किशोर भारती' ने किया था और सरकार को सुझाव दिया था कि यह 120 एकड़ भूमि पलिया पिपरिया गांव के भूमिहीन आदिवासी और रज्झर परिवारों में बांट दी जाए। यह सुझाव यह जानते हुए भी दिया गया था कि सरकार ऐसा कभी नहीं करेगी। 1980 तक उस इलाके के गांवों में यह प्रथा थी कि अधिकतर गरीब और भूमिहीन परिवारों के राशन कार्ड गांव पटेल अपने पास रखते थे और सारा सस्ता राशन, मुख्यत: शक्कर, स्वयं लेते थे। कभी किसी ने अपना राशन कार्ड मांगने की हिम्मत नहीं की थी। 1980 में जब कुछ परिवारों ने इकट्ठे होकर इसका विरोध किया और अपने-अपने राशन कार्ड मांगे तो गांव में तहलका-सा मच गया। इस छोटे से संघर्ष में सफलता के बाद गांव के लोगों ने इकट्ठे होकर अपना मजदूर संगठन बनाने का निर्णय किया और किशोर भारती ने भी इसका समर्थन किया। किशोर भारती ने परिसर की 80 एकड़ भूमि मजदूर संगठन के सदस्यों को खेती के लिए देने का फैसला किया। एक तरह से, किशोर भारती के लिए गांव के उन रज्झर और आदिवासी परिवारों को जीतने का एक मौका था जो संस्था और उसके विकास कार्यक्रमों से आरंभ से ही कटे हुए रहे और कभी भी संस्था के विरोध के लिए भड़काए जा सकते थे।

हालांकि इस सबका एक दूसरा पक्ष भी था। अस्सी के दशक के मध्य तक आते-आते 'किशोर भारती' ब्राजील के शिक्षा चिंतक, पाओलो फ्रेरे के गिनी, बिसाऊ और ब्राजील के काम से परिचित हो चुकी थी। इस काम से प्रेरणा पाकर किशोर भारती के कार्यकर्ता भी अभावग्रस्त प्रौढ़ों के बीच चेतना जागरण का काम करना चाहते थे। मजदूर संगठन के बनने से किशोर भारती के उन कार्यकर्ताओं को जो सशिका के अनुभव के बाद अत्यंत बेचैन थे प्रौढ़ शिक्षा में अवधारणात्मक स्तर पर नई राह खोजने का मौका मिला था। हालांकि,

जमीन जैसे भावनात्मक और राजनीतिक रूप से संवेदनशील मुद्दे को इस तरह से उठाकर किशोर भारती बिना ज्यादा सोचे-समझे, विस्फोटक क्षेत्र में घुस गई थी। इससे पैदा हो सकने वाली संभावित राजनीतिक उथल-पुथल और प्रतिक्रिया को संभालने की तैयारी इसकी नहीं थी। बहुत शीघ्र ही आसपास के गांवों से गरीब तथा भूमिहीन लोगों का समूहों में किशोर भारती आना शुरू हो गया था। ये सब उस सामाजिक तबके के लोग थे जिन्हें किशोर भारती के शिक्षा और विकास के काम आकर्षित नहीं कर पाए थे। ये अपनी जमीन संबंधी समस्याओं के हल पाने और जमीन पाने की उम्मीद में आते थे। इनमें ऐसे लोग थे जिन्हें बीससूत्री कार्यक्रम के अंतर्गत बहुत खराब, कृषि के अयोग्य भूमि मिली थी, जिस पर कड़ी मेहनत करके उन्होंने कृषि योग्य बनाया था परंतु पट्टे नहीं मिले थे। ऐसे छोटे किसान आए जिनके पास जमीन के पट्टे थे परंतु उनकी जमीन बड़े किसानों और पटेलों ने हथिया ली थी। इसी के साथ धोखाधड़ी और सीधे डकैती के मामले भी थे जिसमें स्थानीय ताकतवर अभिजनों ने पटवारी और पुलिस को साथ मिलाकर छोटे-छोटे लोगों की जमीनें अपने नाम करा ली थीं। ढेरों ऐसे मामले थे जिसमें छोटे-छोटे किसान वर्षों से जमीन के टुकड़े पर खेती कर रहे थे, जुर्माना भर रहे थे, पट्टे के लिए अपील कर रहे थे, पर पट्टे नहीं मिले थे।

मजदूर संगठन बनने और किशोर भारती की जमीन के वितरण की खबर फैलाने से इन सब लोगों को यह उम्मीद हो गई कि किशोर भारती उनकी जमीनें पटेलों और उनके गुंडों के हाथों से छुड़वाकर उनको दिलवा देगी। विडंबना यह थी कि किशोर भारती की जमीन का वितरण संघर्ष का परिणाम नहीं था जबकि जमीन का छिना हुआ हक ताकतवर लोगों के खिलाफ संघर्ष से ही मिलता है। इस संदर्भ में और वास्तव में भी 'किशोर भारती' द्वारा किया गया जमीन वितरण, जमीन वितरण था ही नहीं। लेकिन इन खामियो, कृत्रिमताओं के बावजूद यह एक ऐसे क्षेत्र में उम्मीद की किरण थी जहां उस समय गरीबों के पक्ष में आवाज उठाने या जमीन को लेकर संघर्ष करने के लिए न कभी कोई संस्था रही थी, न जन संगठन। लेकिन अपने जीवन के लिए औद्योगिक संस्थानों के दान और सरकारी अनुदानों पर निर्भर रहने वाली किशोर भारती बहुत बड़ी गहरी दुविधा में पड़ गई। हालांकि, किशोर भारती शिक्षा द्वारा सामाजिक परिवर्तन चाहती थी लेकिन सामाजिक जटिलताओं और बुनियादी ढांचागत समस्याओं की समझ—सामंती ताकत का अंदाज और इनका, पुलिस और नौकरशाही का गठबंधन, इत्यादि—अभी बननी ही शुरू हुई थी। शिक्षा जगत में कुछ आधार जरूर बना था, पर आम जनता के बीच राजनीतिक आधार यानी वास्तविक जनाधार नहीं था। यानी जमीन जैसा संवेदनशील मुद्दा उठाने की तैयारी और हिम्मत (शायद ताकत और राजनीतिक स्पष्टता भी) नहीं थी। इस मुद्दे को गंभीरता से उठाने का अर्थ होता स्थानीय सत्ताधारी अभिजनों यानी पटेलों, पुलिस, वन अधिकारी, स्थानीय नौकरशाही और इनके गुंडों (इनके हाथ भोपाल तक लंबे थे) के भयंकर गठबंधन के साथ लंबे संघर्ष में पड़ जाना। यह भी समझ में आ चुका था कि ये गठबंधन राजनीतिक नेताओं से प्रश्रय पाकर

वास्तव में संगठित माफिया गिरोह की तरह काम करता था जो बीड़ी पत्तों की ठेकेदारी, जंगल से बड़े पैमाने में लकड़ी चोरी, शराब के ठेकों और तस्करी आदि में संलग्न था। यह भी स्पष्ट था कि गरीबों में शिक्षा से जागरूकता पैदा करने का अर्थ था इस तीखे राजनीतिक द्वंद्व में पड़ना और शिक्षा के साथ ही इसके खिलाफ लोगों को संगठित करना।

किशोर भारती समूह के कुछ लोगों के लिए यह एक गंभीर दुविधा थी। एक तकलीफदेह दौर से गुजरने के बाद किशोर भारती ने अपनी शिक्षा की भूमिका को ही निभाने का फैसला किया। इसके साथ ही यह भी तय किया कि इस क्षेत्र में किसान और मजदूरों के संघर्षों के समर्थन के लिए शहरी क्षेत्र में, मध्यम वर्ग में, खास तौर से कालेज के विद्यार्थियों में प्रगतिशील काम करेंगे। यह एक प्रकार से पीछे हटना था—सबसे अभावग्रस्त तबकों के बच्चों और बड़ों की शिक्षा से दूर हटना। हालांकि दुविधा बनी रही जिसने किशोर भारती समूह में लगातार आंतरिक संघर्ष और द्वंद्व को जन्म दिया। इन द्वंद्वों का प्रतिबिंब अगले पांच-छह वर्षों की गतिविधियों में लगातार झलका और इस संघर्ष ने इस समूह के कुछ लोगों को लगातार बेचैन रखा। इसके कारण ही किशोर भारती के कुछ लोग कभी मजदूर संगठन में सक्रिय हुए तो कभी भोपाल गैस कांड के जन मोरचे में, फिर इस सबके बाद वापस गांव स्तर पर शिक्षा के काम में।

संगठन का किशोर भारती से स्वतंत्र होना

दिसंबर 1984 के भोपाल गैस कांड से किशोर भारती में एक बार फिर बड़ी उथल-पुथल मच गई। यह वह वक्त भी था जब किशोर भारती के लोग अपने लिए दिशाएं खोज रहे थे और एक अस्थिर-सी परिस्थिति थी। यह एक निष्क्रियता का दौर भी था। वैज्ञानिक पद्धति से विश्लेषण के तार्किक ढांचे यानी वैज्ञानिक निश्चयात्मकता (पाजीटिविज्म), सामाजिक जटिलताओं की काफी सरलीकृत समझ, औरों के कामों पर इसी विश्लेषण के ढांचे के तहत ढेरों टिप्पणियां और सवाल उठाते हुए समूह ने अपने लिए काम के बहुत कम विकल्प छोड़े थे। तार्किकता इस एकआयामी निष्कर्ष पर पहुंचाती थी कि सबसे बुनियादी काम है राजसत्ता के अन्यायपूर्ण ढांचों पर चोट करने के लिए जन संगठन बनाना और बनखेड़ी जैसे सामंती प्रभुत्व वाले इलाके में भूमिहीनों और सीमांत किसानों को संगठित करना। पर संस्था का जिंदा रहना और ये काम, एक स्तर पर परस्पर विरोधाभासी भी थे। न केवल विरोधाभासी बल्कि समूह में सक्रिय सदस्यों की क्षमता और हिम्मत भी शिक्षा के स्तर पर जूझने की ही थी। इस प्रकार एकरेखीय सैद्धांतिक समझ बनाने के कारण, व्यावहारिक स्तर पर, कई तरह के कामों के मौके किशोर भारती द्वारा खो दिए गए। इतने वर्षों तक इतने सक्षम लोगों का एक गांव में बसे रहने के बावजूद उस इलाके की आर्थिक, सामाजिक, जातीय व्यवस्था, संस्कृति, स्वास्थ्य, कानून, अदालतों आदि के बारे में कोई

गहरा शोध न किया गया, न करवाया गया। रिंग के कुओं से उस क्षेत्र में कई प्रकार के परिवर्तन आए, मजदूर संगठन ने कई आशाएं जगाईं, गांव-गांव में चले पुस्तकालयों ने दूरदराज़ के गांवों में बसे हर उम्र के लोगों में पुस्तकों की भूख बढ़ाई, सामंती शोषण के भी नए तरीके विकसित हुए...पर इस सबकी समझ अत्यंत सतही स्तर की रही। शोध और अध्ययन के साथ एक नैतिक मूल्य जोड़ दिया गया था कि शोध यानी इनसान शोध के विषय बन जाते हैं, इत्यादि। विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के जरिए सरकारी शिक्षा व्यवस्था में दखलंदाजी भी कम महत्वपूर्ण लगने लगी। इस, आंतरिक दिशाहीनता और अस्थिरता के दौर में भोपाल कांड ने कुछ करने का दबाव बनाया, किशोर भारती पर भी उसका असर पड़ा। किशोर भारती के कई लोग भोपाल चले गए। भोपाल हादसे से हुई तबाही, कष्ट और इससे भी ज्यादा इसकी तह में राजसत्ता की जनविरोधी नीतियां और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साथ गठबंधन ने किशोर भारती को हिलाया था। यहां के सदस्यों की विज्ञान, आयुर्विज्ञान और तकनालाजी की पृष्ठभूमि के कारण शुरुआत में इन्होंने गैस से प्रभावित जनता के संघर्ष में जुड़कर इलाज, राहत और पुनर्वास के साथ-साथ जानकारी का अधिकार, आयुर्विज्ञान में शोध की नैतिकता, औद्योगिक प्रदूषण, बहुराष्ट्रीय कंपनियों की भूमिका, खतरनाक तकनीकी का विकासशील देशों में पटका जाना जैसे मुद्दों को जमकर उठाया।

भोपाल में इस संलग्नता का स्थानीय स्तर पर एक सहत्वपूर्ण असर हुआ। मजदूर संगठन में युवा और जुझारू नेतृत्व उभरा जिसने किशोर भारती के अरजी लिखकर अधिकारों की मांग करने वाली पद्धति की जमकर आलोचना की और उसे अस्वीकार किया। नए नेतृत्व में संगठन ने किशोर भारती के तौर-तरीकों से स्वतंत्र होकर कड़े मुद्दे जैसे, न्यूनतम मजदूरी, जंगल की उपज पर अधिकार, पुलिस और वन विभाग के अत्याचार, भ्रष्टाचार, इत्यादि उठाने के लिए आंदोलनों का रास्ता चुना। 1986 की शुरुआत में इसने गांव की जमीन पर स्थापित रेशम केंद्र के अधिकारियों के खिलाफ न्यूनतम मजदूरी दिलवाने के लिए दस-बारह दिन लंबी हड़ताल करवाई और मजदूरों को न्यूनतम वेतन दिलवाया। यह इस होशंगाबाद जिले के पूर्वी क्षेत्र में एक ऐतिहासिक शुरुआत थी। किशोर भारती के सदस्य सामंती ताकत का अंदाज लगाकर कभी इन्हें खुली चुनौती नहीं दे पाए जो मजदूर संगठन के जुझारू नेतृत्व ने पूरा खतरा मोल लेते हुए किया था। किशोर भारती के पीछे हट जाने के बावजूद अन्याय की खिलाफत का रास्ता और संदेश मजदूर संगठन तक पहुंच गया था।

इसी क्रम में अपने दो सदस्यों को 1986 में हुए पंचायत चुनावों में पंच और सरपंच के पद के लिए परंपरागत ताकतवर शक्तियों के खिलाफ खड़ा करने का फैसला किया था। ये दोनों सदस्य उस समय किशोर भारती के गांव-गांव में चल रहे बाल गतिविधि कार्यक्रम के वरिष्ठ कार्यकर्ता भी थे। ये इनकी रुचि का काम था और रोजी-रोटी का स्रोत भी। मजदूर संगठन के इस निर्णय से इस क्षेत्र की सामंती व्यवस्था में खलबली मच गई। मजदूर संगठन ने सामंती अभिजनों की लगभग एक सदी की सत्ता को खुली चुनौती दी

थी। संगठन ने, बहुत हिम्मत से, जान की धमकियों और अन्य दबावों के बावजूद अपने उम्मीदवारों को चुनाव से नहीं हटाया। यह चुनौती केवल सामंतशाही को चुनौती नहीं थी, वरन स्थानीय भ्रष्ट नौकरशाही, पुलिस और सामंती ताकतों के गठबंधन को चुनौती थी। इसलिए एस.डी.ओ. ने तिकड़म भिड़ाकर उम्मीदवारों के परचे ही अस्वीकार कर दिए। परंतु इससे किशोर भारती के कुछ सदस्यों की भूमिका भी संदेहों के घेरों में आ गई थी। संगठन ने बहुत पैने ढंग से किशोर भारती के कुछ कार्यकर्ताओं और पटेलों, स्थानीय नौकरशाहों जैसे, एस.डी.ओ., तहसीलदार, थानेदार, वन अधिकारियों आदि के बीच दोस्ताना संबंधों पर आपत्ति की। इसके बावजूद संबंधों के जारी रहने से संदेह, अविश्वास और कड़वाहट बढ़ती गई। इस विचारधारात्मक विभाजन या ध्रुवीकरण को किशोर भारती के एक सदस्य की 1986 में की गई एक टिप्पणी से सटीक ढंग से समझा जा सकता है, 'जिन कुत्तों को हमने भौंकना सिखाया वे आज हमारे ऊपर ही भौंक रहे हैं।'

मजदूर संगठन के जुझारू तेवरों ने और अन्याय के खिलाफ लगातार आंदोलन करते रहने तथा पुलिस दमन झेलने के कारण 'किशोर भारती' के कुछ सदस्यों ने इससे अपने आपको दूर करने का निर्णय लिया। किशोर भारती के नवंबर 1991 में छपे दस्तावेज* जिसमें औपचारिक रूप से संस्था को बंद करने की घोषणा की गई थी, के अनुसार, 'आज ग्राम पलिया पिपरिया का जो संगठन 'किसान-मजदूर संगठन' के नाम से जाना जाता है वह उस मजदूर संगठन से सर्वथा भिन्न है जो 'किशोर भारती' की पहल पर 1981 में शुरू हुआ था' (किशोर भारती, 1991 : 5)।

1986-87 में किशोर भारती के समूह के भीतर ही बुनियादी रूप से विचारधारा के स्तर के मतभेद गहरे होते गए जिससे समूह में ध्रुवीकरण हुआ। 1992 में, नागरिक अधिकारों के हनन पर आवाज उठाने वाले समूह पी.यू.डी.आर. (पीपुल्स यूनियन फार डेमोक्रेटिक राइट्स) की एक रपट छपी थी। यह रपट पुलिस और बजरंग दल के द्वारा मजदूर संगठन के कार्यकर्ताओं की जमकर की गई मारपीट की घटना की जांच के आधार पर लिखी गई थी। पी.यू.डी.आर. ने इस रपट में लिखा है, 'दो दशक पहले पलिया पिपरिया के पटेलों (भूस्वामियों) को किशोर भारती एक खतरे की तरह दिखी थी। आज किशोर भारती के कुछ सदस्य उनके दोस्त बन गए हैं। किशोर भारती बनखेड़ी क्षेत्र में आधुनिक खेती या समानता के आर्थिक ढांचे और प्रगतिशील तथा वैज्ञानिक मूल्य पैदा कर पाई है या नहीं, यह तो कहा नहीं जा सकता परंतु ऐसा लगता है कि यह अपने कुछ साथियों का पुनः सामंतीकरण करने में अवश्य सफल हुई है' (पी.यू.डी.आर., 1991 : 17)।

---

* इस दस्तावेज का शीर्षक है 'एक सामाजिक प्रयोग को समेटने पर'. 'प्रयोग' जैसी शब्दावली वैज्ञानिकों और धीरेंद्र भाई जैसे गांधीवादी के शिष्यों के माध्यम से किशोर भारती में आई थी. यह शीर्षक सजीव जानवरों पर जीवविज्ञान के प्रयोगों की छवियां जगाता है जिसमें विच्छेदन करके जानवर को छोड़ दिया जाता है. जानवर, हो सकता है तब भी जिंदा हो और तड़प रहा हो, परंतु 'प्रयोग' 'समेटा' जा चुका है और वैज्ञानिक को अब कोई चिंता नहीं है.

इस संदर्भ में उपरोक्त दो दस्तावेजों—किशोर भारती रपट और पी.यू.डी.आर. रपट—को एक बार फिर ध्यान से देखने की जरूरत है। किशोर भारती की रपट में 1989 में संस्था की गतिविधियों को रोक देने का (यानी संस्था बंद करने का) कारण नेतृत्वहीनता और दिशाहीनता बताया गया है (किशोर भारती, 1991 : 2, 3)। आश्चर्यजनक बात है कि पी.यू.डी.आर. ने अपनी रपट में ऐसी कोई बात नहीं की है, बल्कि इस रपट ने एक अन्य गंभीर मुद्दे की ओर ध्यान आकर्षित किया है—कुछ समर्थकों और किशोर भारती सदस्यों का 'पुनः सामंतीकरण'। पी.यू.डी.आर. अपनी रपट का अंत एक अत्यंत महत्वपूर्ण और गंभीर प्रश्न से करती है, 'प्रमुख बात है कि आप किसकी तरफ हैं' (पी.यू.डी.आर., 1992 : 22)? यानी निष्पक्षता कुछ नहीं होती। आप या तो गरीबों के पक्ष में हैं या सामंती ताकतों के। किशोर भारती की रपट में जिस दौर (1985-89) को नेतृत्वहीन और दिशाहीन बताया गया है, वह दौर वास्तव में एक लंबे अरसे की दिशाहीनता और निष्क्रियता के बाद पुनर्गठन और पुनः सक्रिय होने का दौर था। जिन एक-दो व्यक्तियों को लगता था कि वे देशव्यापी काम करना चाहते हैं, उन्हें किशोर भारती की सघन और स्थानीय स्तर की सक्रियता बंदिश और सीमित लगने लगी थी, वे किशोर भारती छोड़कर जा चुके थे। इनमें पुराना नेतृत्व भी था।

इसीलिए यह दौर नेतृत्व और नेतृत्व के प्रकार में परिवर्तन का दौर भी था। यानी एक पुरुष नेतृत्व से—जिस पर कार्यकारिणी को असीम भरोसा था—महिलाओं का सामूहिक नेतृत्व जिसे कार्यकारिणी शुरू से ही नरम, प्रशासन में कमजोर और कठोर निर्णय लेने में अक्षम मानती थी। महत्वपूर्ण बात यह है कि इस समूह ने सारे ऊहापोह और क्रांतिकारी चर्चाओं के जाल में से निकलकर गरीबों के बीच—पुरुषों, बच्चों और स्त्रियों के साथ—शिक्षा का सघन काम करने में, बजाए अभियानों और नारों के अपनी आस्था दिखाई थी। इस दौरान एक तरफ तो मजदूर संगठन की तरफ से ज्यादा स्पष्ट विचारधारात्मक पक्ष लेने का दबाव था क्योंकि मजदूर संगठन की सक्रियता काफी बढ़ चुकी थी और शिक्षा का काम भी उन्हीं गांवों में चलाया जा रहा था। दूसरी तरफ, किशोर भारती के अंदर से ही कुछ सदस्यों का खासा विरोध था और नए नेतृत्व पर दबाव था कि किशोर भारती घोषित रूप से अपने आपको संगठन से दूर करे। नेतृत्व की सहानुभूति संगठन के साथ थी लेकिन संस्था के काम, सीमाएं और संगठन की अपेक्षाओं के बीच संतुलन बैठाना एक अत्यंत संवेदनशील, मुश्किल और जटिल काम था। कार्यकारिणी ने अपने अधैर्य, स्थानीय परिस्थिति की कम समझ, कुछ सदस्यों के स्पष्ट रूप से राजसत्ता के पक्ष में रुझान और मजदूर संगठन की तीखे राजविरोधी तेवरों, भाषा, नारों और तरीकों से नाराजगी ने नए नेतृत्व को संभलने, संतुलन बनाने का मौका ही नहीं दिया। नए नेतृत्व के सिर पर पुराने नेतृत्व का भूत छोड़ दिया गया और छोटी सी गलती की गुंजाइश भी नहीं छोड़ी गई। जटिलता का एक और स्तर था पितृसत्तात्मकता। दोनों—किशोर भारती की कार्यकारिणी और मजदूर संगठन—का पुरुषप्रधान नेतृत्व किशोर भारती के नए महिला नेतृत्व को लेकर बहुत असहज

था। मजदूर संगठन और उनका समर्थन समूह पिपरिया का समता संगठन की राजसत्ता के वर्ग चरित्र और सामंती प्रभुत्व की समझ तथा पकड़ गहरी थी, परंतु संगठन में भी महिलाओं की भागीदारी जुलूस में आगे चलने तक सीमित थी। इन बहुस्तरीय समस्याओं के कारण बहुत जल्दी ही कई तरह के टकरावों की स्थिति पैदा हुई—राजसत्ता से टकराव और किशोर भारती समूह में अंदरूनी टकराव तीखे हुए और कार्यकारिणी ने बिना सक्रिय जमीनी समूह को भरोसे में लिए संस्था की गतिविधियां बंद करने का फैसला किया।

तीव्र राजनीतिक संघर्ष और शिक्षा कार्यक्रमों की जरूरतों में निहित द्वंद्व विभाजन ने व्यावहारिक समस्याएं भी खड़ी कीं जो अंत तक हल नहीं हुईं। ऐसे प्रश्न विवादास्पद रहे कि किशोर भारती के सदस्यों को धरने या जुलूस में भाग लेना चाहिए या नहीं, या शिक्षा कार्यक्रम के शिक्षक को अपनी कक्षा बंद करके आंदोलन का हिस्सा बनना चाहिए या नहीं? क्या प्राथमिकता होनी चाहिए? एक संगठन और समर्थन समूह में काम विभाजन और सीमाओं की समझ संगठन की परिपक्वता पर भी निर्भर करती है। यह परिपक्वता संगठन के नेतृत्व में नहीं थी।

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन से जुड़े कई मुद्दे आज भी परेशान करते हैं। 'सशक्तीकरण के लिए साक्षरता' जैसी सतही नारेबाजी के पार जमकर क्या हम अभावग्रस्त लोगों की शैक्षिक जरूरतों और आकांक्षाओं को समझते हैं? प्रचलित शैक्षिक सोच और प्रक्रियाएं क्या ऐसी जरूरतों और आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करने की गुंजाइश भी छोड़ती हैं? ऐसी शिक्षा कितनी राजनीतिक भी होगी यह जानते हुए क्या इससे जुड़ी चिंतन धारा से जुड़ी रूढ़ियों और रुकावटों के ऊपर उठाना संभव है? मध्यमवर्गीय कार्यकर्ताओं की भूमिका क्या हो यदि शैक्षिक हस्तक्षेप उत्पीड़न और अन्याय की परिस्थितियों में आंदोलनात्मक मोड़ ले लें तो?

समस्या शिक्षा की मौजूदा बहस में भी है जो अभावग्रस्त लोगों की शिक्षा और समता, समानता, और न्याय का संघर्ष को अलग-अलग दायरे मानती है। असल में शिक्षा देने वाले अधिकतर लोग ऊपरी वर्ग और ऊपरी जाति के हैं या दलित शिक्षित लोगों ने भी प्रभुत्ववादी, मुख्य धारा की मान्यताओं, पूर्वग्रहों और समझ को आत्मसात कर लिया है। ऐसे में उत्पीड़ितों की शिक्षा या तो आत्मसात करवाने वाली होगी या आमूल परिवर्तनवादी, लेकिन इसमें टकराव निहित है ही। शिक्षा की बहस में अभी भी वर्ग, जाति और लिंग के मुद्दे सैद्धांतिक बहसों के संदर्भ में मुश्किल से ही उठते हैं।

यह लंबी भूमिका और पृष्ठभूमि किशोर भारती के अन्य शैक्षिक कार्यक्रमों और संस्था के बंद होने के बाद स्थानीय समूह द्वारा चलाए शैक्षिक कार्यक्रम को वहां के ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भ में रखकर देखने के लिए दी गई है। किशोर भारती का समग्र शिक्षा कार्यक्रम के अलावा 1972 में शुरू हुआ एक कार्यक्रम औपचारिक शिक्षा व्यवस्था में हस्तक्षेप का था जिसे होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के 'होविशिका' के नाम से जाना जाता है। 1981-82 से इस कार्यक्रम की जिम्मेदारी एकलव्य संस्था ने उठा ली है। यह

कार्यक्रम अब भी जारी है और एकलव्य द्वारा इसे मध्य प्रदेश के नए-नए जिलों में फैलाया जा रहा है। बाल गतिविधि और प्रजनन जागरूकता शिक्षण कार्यक्रम 1986-89 के बीच क्रमशः स्कूल न जाने वाले बच्चों और महिलाओं के बीच चलाए गए। किशोर भारती की गतिविधियां बंद होने के बाद जन शिक्षण कार्यक्रम बनखेड़ी और पिपरिया विकास खंडों के कुछ गांवों में चलाया गया। इन तीनों कार्यक्रमों के लिए आर्थिक अनुदान मानव संसाधन विकास मंत्रालय से लिया गया था। हालांकि जन शिक्षण सीमित क्षेत्र में (करीब तीस गांव), सीमित समयावधि के लिए चलाया गया कार्यक्रम था और जिसे चलाने में असंख्य आर्थिक दिक्कतें आईं फिर भी यह अभावग्रस्त परिवारों के बच्चों के साथ चलाए शिक्षा कार्यक्रमों से उभरी संभावनाओं और सीमाओं पर प्रकाश डालता है, खास तौर से उस क्षेत्र में जहां जन संगठन भी सक्रिय था।

स्कूली शिक्षा का कार्यक्रम : होविशिका

यह कार्यक्रम सत्तर के दशक की शुरुआत में एक प्रयोग और गतिविधि आधारित विज्ञान शिक्षण के कार्यक्रम के रूप में, मध्य प्रदेश शिक्षा विभाग की अनुमति से होशंगाबाद जिले के दो प्रखंडों बनखेड़ी और होशंगाबाद में, दो स्वैच्छिक संस्थाओं—किशोर भारती और मित्र मंडल केंद्र द्वारा 16 माध्यमिक शालाओं में शुरू किया गया था। 1976 में इन्हीं संस्थाओं द्वारा यह कार्यक्रम जिले की सभी माध्यमिक शालाओं (200 से अधिक) में लागू हुआ। इसके बाद 1981-82 के दौरान एकलव्य द्वारा इसका प्रसार पश्चिमी मध्य प्रदेश के 13 और जिलों में एक-एक शाला संकुल में किया गया। कुल मिलाकर इन संकुलों में लगभग 450 माध्यमिक शालाएं हैं। एकलव्य ने नवाचार का काम प्राथमिक शालाओं और समाजविज्ञान का काम माध्यमिक शालाओं में भी किया है।

इस कार्यक्रम का प्रमुख उद्देश्य माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों, बच्चों और समाज में वैज्ञानिक मानसिकता का विकास करना था। यह कार्यक्रम छठी से आठवीं कक्षाओं की किताबों में परिवर्तन करके, विज्ञान को गतिविधि आधारित बनाकर, शिक्षक प्रशिक्षण करके और परीक्षा पद्धति को बदलकर किया गया। परंतु मध्य प्रदेश सरकार द्वारा निर्धारित शर्त कि पाठ्यक्रम में परिवर्तन नहीं किया जाएगा इसके अनुसार उपरोक्त परिवर्तन माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के पाठ्यक्रम के तहत ही किए गए।

विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम ने देश के प्रमुख विज्ञान संस्थानों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के वैज्ञानिकों और विज्ञान के विद्यार्थियों को आकर्षित किया और जोड़ा। इन लोगों ने सालों तक नियमित रूप से होशंगाबाद और माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों के प्रशिक्षण में नए प्रयोग और अध्याय विकसित करने में तथा उन्हें स्थानीय स्तर पर उपलब्ध सामग्री से करके देखने, सस्ती विज्ञान किट तैयार करने, शिक्षक निर्देशिकाएं और कार

पुस्तिकाएं बनाने, शाला स्तर पर शिक्षकों की मदद करने इत्यादि में सक्रिय योगदान किया। इन्होंने ऐसी परीक्षा पद्धति विकसित की जो कार्यक्रम के उद्देश्यों पर आधारित है। इस प्रकार, यह एकमात्र ऐसा नवाचार का कार्यक्रम है जिसमें न केवल कक्षा आठ की बोर्ड की परीक्षा पद्धति को बदलने की अनुमति भी प्राप्त की गई बल्कि परीक्षा के दौरान विद्यार्थियों को अपनी किताबें और कापियां ले जाने की अनुमति भी मिली।

सरकारी व्यवस्था की सीमाओं के बावजूद इस प्रकार माध्यमिक कक्षा में विज्ञान पढ़ाने की पद्धति विषयवस्तु और सोच में बुनियादी परिवर्तन ला पाना संभव हुआ। इस कार्यक्रम से माध्यमिक शाला स्तर पर भी अकादमिक कड़ाई और गुणवत्ता की परंपरा बनाना संभव हुआ जिसे शिक्षकों ने अपने गांव या छोटे शहरों के, बिना साधनों, परंतु समृद्ध पर्यावरणीय ज्ञान वाले स्कूलों में लागू करके दिखाया। इस कार्यक्रम ने स्कूलों की कड़ी और स्थिर सोपानात्मक व्यवस्था में लोकतांत्रिक मूल्यों के विकास की संभावना के लिए गुंजाइश बनाई।

कार्यक्रम के शुरुआती दौर में यह उम्मीद थी कि वैज्ञानिक मानसिकता के विकास से सामाजिक, गैर-बराबरी और अन्याय को समझने में स्वाभाविक रुचि पैदा होगी। यानी वैज्ञानिक पद्धति में सवाल उठाने की प्रक्रिया सामाजिक विरोधाभासों पर सवाल पूछने तक पहुंचेगी। बहुत से वैज्ञानिकों और बाद में भाषा तथा समाज वैज्ञानिकों ने इस उम्मीद पर शुरू से शक जाहिर किए थे। किशोर भारती का भी बहुत शीघ्र यह अनुभव हुआ कि समग्र शिक्षा कार्यक्रम और विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम दो स्वतंत्र दायरों में चलता रहे कम से कम विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के शिक्षकों में सामाजिक मुद्दों को लेकर स्वतः कोई रुचि नहीं बनी।

विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम पूरी तरह से वस्तुनिष्ठता और निष्पक्षता जैसे निश्चयात्मक वैज्ञानिक सोच को समर्पित था। इसलिए शालेय व्यवस्था के अंदर और शाला जिस समाज में 'स्थित' है इसके विरोधाभासों, द्वंद्वों, असमानताओं, अन्यायों से कार्यक्रम का कुछ लेना देना नहीं था। हालांकि हमेशा यह कहा जाता था कि विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम गांवों में घुसने का एक माध्यम भर है लेकिन यह साधन साध्य नहीं बन पाया। यहां तक कि कार्यक्रम की कार्य पुस्तक के अध्याय भी 'विज्ञान' से 'विज्ञान और समाज' के दायरों में नहीं घुस पाए। अधिकतर वैज्ञानिक विज्ञान पढ़ाने आए और देश के प्रमुख संस्थानों से 'उतरकर' गांवों में पहुंचकर भी, विज्ञान पढ़ाकर ग्रामीण व्यवस्था के बुनियादी विरोधाभासों से लगभग अनछुए, प्रभावित हुए बिना ही वापस चले गए।

यहां प्रश्न छठी, सातवीं और आठवीं की कार्य पुस्तकों में विज्ञान तथा समाज के विषय को लाने का उतना नहीं है जितना इस कार्यक्रम से जुड़े शिक्षकों, प्रशिक्षकों, वैज्ञानिकों, विद्यार्थियों और अन्य कार्यकर्ताओं के बीच बहसों तथा चर्चाओं के दायरे विज्ञान के वस्तुनिष्ठता के दायरों के बाहर ले जाने के मौकों और उन मौकों का उपयोग करने की बात है। असल में एक हद तक यह रहस्य-सा है, क्योंकि बावजूद कमियों के किशोर

भारती का परिप्रेक्ष्य व्यापक था जिसमें शिक्षा व्यवस्था समाज से अलग नहीं थी। परंतु वैज्ञानिक पद्धति पर अटूट आस्था ने, जैसा कि ऊपर *दिनमान* के लेख में दिखता है, या तो मजदूर संगठन जैसे विकल्प पेश किए या फिर विचारधारा का फ्रेमवर्क तय किए बिना 'वैज्ञानिक पद्धति' से विश्लेषण का चस्का। इस कारण पूरे सोच और चिंतन-मनन की प्रक्रिया में समाज वैज्ञानिकों की भूमिका को भी नकारा सा गया। करके सीखने वाला चिंतन हावी रहा।

कार्य पुस्तक, 'बाल वैज्ञानिक' के 'भोजन और पोषण' के अध्याय के साथ कुपोषण और कुपोषण के सामाजिक कारणों की समझ विकसित करने के उद्देश्य से 'कुपोषण सर्वेक्षण' नामक गतिविधि इस पाठ में जोड़ी गई थी। परंतु यह गतिविधि प्रशिक्षक या शिक्षक की इच्छा पर निर्भर रही और प्रशिक्षणों के दौरान भी, स्रोत शिक्षकों के साथ भी, अनौपचारिक चर्चाओं में भी, इस संदर्भ में भूख, गरीबी और बीमारी जैसे दुश्चक्र पर चर्चा में रुचि जाग्रत नहीं होती थी। विडंबना यह थी कि इनमें से काफी शिक्षक ऐसी ही परिस्थितियों में काम करते थे, कम से कम बनखेड़ी क्षेत्र के शिक्षक, जो बारिश से पहले पानी की कमी के कारण और बारिश के दौरान पानी गंदा हो जाने के कारण पेचिश, कॉलरा और दस्त से होने वाली मौतें देखते थे; ये ही मौतें गांवों के उच्च बाल और शिशु मृत्यु दर के लिए जिम्मेदार हैं। इसी तरह, एक अन्य महत्वपूर्ण उदाहरण लें। पानी के साथ बहस, जो कक्षा सात की बाल वैज्ञानिक का अध्याय है, उसमें चर्चा पानी की शुद्धता, कठोर और मृदु जल परीक्षण के दायरे के बाहर बहुत कम जाती थी। सिंचाई के लिए पानी की राजनीति, नलकूपों जैसे सत्ता के केंद्रों के संदर्भ में कभी चर्चा का विषय नहीं बने। सिंचित और असिंचित फसलों के अध्याय के संदर्भ में भी नहीं।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसी दौरान (1978-79), किशोर भारती के स्वास्थ्य कार्यक्रम के अंतर्गत स्वास्थ्य और शिक्षा की टीम शिशु और बाल मृत्यु दर, कुपोषण, कॉलरा, दस्त और निर्जलन के दुश्चक्र पर ध्यान केंद्रित कर रही थी तथा गांव के लोगों को प्रदर्शनी बनाकर समझाने और जागरूक करने में भिड़ी हुई थी। जैसा कि पहले कहा है, दो गांवों के छोटे से अध्ययन से इस टीम ने उच्च शिशु और बाल मृत्यु दर की जानकारी हासिल की थी। इसी टीम ने यह भी पाया था कि उस पूरे क्षेत्र में क्षय रोग बहुत व्यापक रूप से फैला हुआ था। उसका संबंध भी कम भोजन मिलने से था। यह स्थिति समय पर दवाइयां न मिलने, पूरी दवाइयां न मिलने तथा कुपोषण आदि कारणों से और भी भयावह हो गई थी। इसी तरह विटामिन ए की कमी से बच्चों में रतौंधी व्याप्त थी जो बिगड़कर अंधेपन तक पहुंच जाती हैं। ये सभी बातें देशव्यापी हैं क्योंकि इनका संबंध भोजन और पोषण से है। पर विज्ञान के प्रशिक्षणों में शिक्षक और प्रशिक्षक समुदाय—बुद्धिजीवी अभिजनों—के बीच इनका न उठना या न उठाया जाना ऐसे कार्यक्रम के परिप्रेक्ष्य की स्पष्टता पर सोचने को मजबूर करता है।

इसी प्रकार जन भाषाओं, कृषि, दवाइयों, पेड़-पौधों, तारों, वास्तुकला, शरीर रचना,

इत्यादि का ग्रामीण समुदायों में उपलब्ध ज्ञान कभी विज्ञान शिक्षण के अंतर्गत खोज और विश्लेषण का विषय नहीं बना। असल में कहीं न कहीं सब बहसें शालेय व्यवस्था के प्रचलित ढांचों, मूल्यों, विषयवस्तु (पाठ्यक्रम समेत) से निर्धारित और परिभाषित होती रहीं तथा उससे आगे नहीं बढ़ीं। क्या यह वैज्ञानिक पद्धति, जिस तरह से किशोर भारती ने परिभाषित किया, उसमें निहित थी? इस प्रकार होविशिका के माध्यम से वैज्ञानिक वर्गों और जातियों में बंटे ग्रामीण समाज की बुनियादी असमानताओं के ढांचों, जो स्कूली व्यवस्था में भी परिलक्षित होते हैं, से अनजान बने रहे और अंतत: एक प्रकार से ताकतवर अभिजनों की अनकही शर्तों पर गांवों से जुड़े।

सत्तर और अस्सी के दशक की शुरुआत में एक ब्राह्मण शिक्षा अधिकारी, जो बहुत नम्र, गंभीर तथा अपने काम में होशियार थे और विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम को लेकर बहुत प्रतिबद्ध थे, कार्यक्रम के समर्थक थे—वे शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों के लिए नियमित रूप से भोपाल से आते थे। परंतु उनकी एक शर्त थी। वे खाना किसी ब्राह्मण के हाथ का बनाया हुआ ही खाते थे। काफी बातचीत और समझाने के बावजूद उनकी इस शर्त को बदलना संभव नहीं हुआ। हालांकि ये अधिकारी स्वयं काफी माफी-वाफी मांगते रहते थे परंतु किशोर भारती में बसा ब्राह्मण परिवार, जिसने उनके लिए उन दिनों खाना बनाया वह अपने इस विशेष 'ओहदे' से बहुत प्रसन्न थे। यह बात इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि जाति व्यवस्था से जुड़े उत्पीड़न के कई गहरे और गंभीर पहलू किशोर भारती में या तो ढंके-छिपे रह जाते थे या जानबूझकर अनदेखा कर दिए जाते थे। ऐसी पृष्ठभूमि में यह विशेष स्थान जातिवादी परंपराओं को सशक्त ही करता था। इनका उपयोग किशोर भारती समूह के भीतर ही बहुत चतुराई से और अप्रत्यक्ष रूप में होता था। संस्था के परिसर से मात्र सात किलोमीटर की दूरी पर स्थित बनखेड़ी प्रखंड मुख्यालय की माध्यमिक शाला में 1972 से विज्ञान शिक्षण का काम चल रहा था। वहां लगने वाले शुक्रवार बाजार से सभी किशोर भारती के मेहमान स्थानीय जूते खरीदते थे। वहां की हरिजन बस्ती के लोग दुकानों पर चाय नहीं पी सकते थे या उनके लिए अलग गिलास होते थे और ये लोग बाल कटवाने तीस किलोमीटर दूर पिपरिया शहर जाते थे क्योंकि बनखेड़ी के सराठे (नाई) इनकी जाति और सामंती आतंक के कारण इनके बाल नहीं काटते थे। यह बात 1984-85 में संगठन की सक्रियता के कारण प्रकाश में आई।

एक और उदाहरण है औरतों को अछूत मानने का। प्रशिक्षण शिविरों में सामूहिक भोजन के समय सभी लोग बारी-बारी से भोजन परोसते थे लेकिन महिलाएं बहुत कम भोजन परोसने के काम में हाथ बंटाती दिखती थीं। पता चला कि महिलाओं की 'अशुद्धि' खास तौर से पुरुष शिक्षकों के लिए एक बड़ा मुद्दा था। विज्ञान शिक्षकों के साथ इस मुद्दे पर पहली बार बहस 1988 में हुई। शरीर की आंतरिक रचना, प्रक्रियाओं और मासिक धर्म का विज्ञान समझने के बाद भी शिक्षक और शिक्षिकाओं ने 'अशुद्धि' की अपनी धारणा को बदलने में मुश्किल महसूस की। असल में ऐसे ढेरों उदाहरण हैं जो एक दशक से

भी ज्यादा समय के दौरान रहे इस सामाजिक अंधेपन को दरशाता है। क्या यह उदारवादी शिक्षा की सीमा है?

उदारवादी शिक्षा, जान डिवी का दर्शन और होविशिका

होविशिका के दर्शन पर जान डिवी के शैक्षिक सिद्धांतों का असर साफ झलकता है। इसलिए शालेय व्यवस्था में सफलतापूर्वक नवाचार कार्यक्रम के माध्यम से हस्तक्षेप करने के बावजूद दर्शन के स्तर पर होविशिका की वही सीमा रही जिससे डिवी ने अपने को बचाया। वह था शिक्षा का एक समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य। डूवी के दर्शन के संदर्भ में आरोनोविट्ज और गीरु लिखते हैं, 'डिवी के लिए शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थी को सोच- समझकर एक दिशा तय करने और सीखने की प्रक्रिया का नियंत्रण हासिल करने में मदद करना है। काम और खेल सैद्धांतिक ज्ञान के ठोस सामाजिक तथा संज्ञानात्मक हिस्से हैं और विद्यार्थी के लिए ज्ञान हासिल करने के साधन हैं। इसलिए डिवी के शिक्षा दर्शन में, शालाओं को ऐसे पाठ्यक्रम बनाने के लिए निर्देशित करना है जो आलोचनात्मक सोच पैदा करें' (आरोनोविट्ज और गीरु, 1986 : 8-9)।

लेकिन आमूल परिवर्तनवादी (रेडीकल) सिद्धांतकारों ने आम तौर पर डिवी के दर्शन की तरफ उसकी समाजशास्त्रीय और राजनीतिक अंतर्दृष्टि की कमी के कारण ध्यान ही नहीं दिया। इस संदर्भ में आरोनोविट्ज और हेनरी गीरु लिखते हैं, 'हालांकि डिवी को यह स्पष्ट है कि शालाएं कैसी होनी चाहिए पर वास्तव में वे शालाएं कैसी हैं इसका सामाजिक और राजनीतिक विश्लेषण करने से कतराते हैं...इसलिए डिवी के दर्शन में निहित शालाओं की धारणा खाली बरतनों की है जो सीखने के—ज्ञानोदय करने वाले, प्रजातांत्रिक, आलोचनात्मक मॉडलों के द्वारा भरे जाने के इंतजार में हैं' (आरोनोविट्ज, 1986 : 9)।

ऐसा नहीं है कि समूह जिसने होविशिका आरंभ किया वह जाति और वर्ग के प्रश्नों के प्रति वैसे ही आंखें बंद किए हुए था जैसे शायद डिवी था या इस समूह में इस संवेदनशीलता या अंतर्दृष्टि की कमी थी। किशोर भारती का शालेय व्यवस्था के बाहर जाने वाले उन बच्चों के प्रति चिंता और उन तक और उनके मां-बाप तक पहुंचने के प्रयास स्पष्ट रूप से इसकी प्राथमिकताएं और चिंताएं दरशाता है। यह जागरूकता होविशिका के जिला स्तरीय प्रसार के प्रस्ताव में, जो मध्य प्रदेश सरकार को 1978 में दिया गया था, स्पष्टता से अभिव्यक्त होती है। इसमें 'विरोधाभास' नामक उपशीर्षक के तहत लिखा है, 'यह आम तौर पर स्वीकारा जाता है कि 60-70 प्रतिशत तक गांवों के बच्चे या तो स्कूलों में दाखिला ही नहीं लेते या बहुत जल्दी ही स्कूल छोड़ देते हैं। यह भी ज्ञात है कि बहुसंख्यक ग्रामीण बच्चे जो माध्यमिक कक्षा पास कर भी पाते हैं वे आगे उत्तर माध्यमिक शालाओं में दाखिला नहीं लेते। ये सीमाएं गरीबी की परिस्थिति के कारण आती हैं। इन विरोधाभासों

के बावजूद स्कूल उन लाखों ग्रामीण बच्चों के साथ जो किसी तरह से, चाहे कम वक्त के लिए ही स्कूल पहुंच पाते हैं—संवाद का एकमात्र जरिया है' (रसूलिया, 1978 : 6)।

यहां वृहत समाजशास्त्रीय समझ की कुछ झलक तो अवश्य मिलती है। लेकिन शाला में आने वाले बच्चों को एक ही समूह के रूप में देखा गया। स्कूलों को द्वंद्व स्थलों के रूप में नहीं देखा गया। इसलिए किशोर भारती समूह स्कूल की राजनीति और सामाजिक संरचना तथा प्रक्रियाओं, उसके जाति, वर्ग और लिंग से जुड़े भेदभाव तथा उत्पीड़न के ढांचों के प्रति अंधा रहा जो उतनी ही ताकत से स्कूली व्यवस्था में भी काम करते हैं जितनी कि बाहरी समाज में। इन सीमाओं के कारण होविशिका का दर्शन डूवी के दर्शन के निकट दिखने लगता है यानी शालाएं क्या होनी चाहिए इस पर पूरा ध्यान है, पर क्या हैं, इसे देखने की इच्छा नहीं।

जन शिक्षण अभियान (जशिअ)

यह समूह किशोर भारती की गतिविधियों को बंद कर देने के बाद 1990 में बना। जन शिक्षण अभियान कार्यक्रम ने किशोर भारती के पिछले कार्यक्रमों, खास तौर से गांवों में साइकिल पर चले सचल पुस्तकालयों, बच्चों की रचनाओं की साइक्लोस्टाइल पत्रिका—'बाल चिरैया' और स्कूल न जाने वाले बच्चों के साथ बाल गतिविधि के काम के अनुभवों को अपना आधार बनाया। जन शिक्षण कार्यक्रम के कई सदस्य पहले इन कार्यक्रमों में काम भी कर चुके थे। जशिअ समूह ने उस क्षेत्र में धीरे-धीरे विकसित होते हुए संघर्ष और संगठन के काम के संदर्भ में शैक्षिक काम करने का निर्णय किया था। इस समूह ने अपना ध्यान औपचारिक शिक्षा व्यवस्था के बाहर रहे बच्चों और युवाओं पर केंद्रित किया। इस समूह ने बनखेड़ी और पिपरिया प्रखंडों के गांवों में बच्चों और युवाओं के लिए शिक्षा का काम 1991-94 के बीच किया। इस दौरान करीब 25 गांवों में रात्रि शालाएं चलीं तथा करीब 50 गांवों में सचल पुस्तकालय। इन्होंने मजदूर संगठन के संपर्कों का पूरा-पूरा उपयोग किया। काफी हील-हुज्जत के बाद मानव संसाधन विकास मंत्रालय से इस कार्यक्रम के लिए अनुदान मिला। लेकिन इस अनुदान की किश्तें कभी भी समय पर नहीं पहुंचीं इसलिए कार्यक्रम गंभीर आर्थिक समस्याओं से जूझते हुए उधार के पैसों पर चला। इससे कार्यकर्ताओं में अत्यंत निरुत्साह पैदा होता था। कार्यक्रम को इसलिए भी मुसीबतें झेलनी पड़ीं क्योंकि इसका फोकस अभावग्रस्त तबके के बच्चे थे। यह कार्यक्रम मजदूर संगठन की सक्रियता वाले संवेदनशील इलाके में चलाया जा रहा था और किसी भी अन्य सरकारी अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम की तरह यह न तो घिसे-पिटे पाठ पढ़ाता था, न ही घिसी-पिटी पद्धति का इस्तेमाल करता था। लीक से हटकर इन बच्चों और युवाओं की जरूरतों के आधार पर, स्थानीय भाषा का इस्तेमाल करते हुए और विकसित दुनिया के अनुभवों से सीखकर

पाठ्यक्रम विकसित करने का यह प्रयास स्थापित अनौपचारिक शिक्षा अधिकारियों के गले नहीं उतर रहा था।

भूमिहीन और सीमांत किसान परिवारों की जागरूकता और उनकी अपने बच्चों की शिक्षा को लेकर चिंता के कारण जन शिक्षण अभियान के कार्यकर्ताओं को उस इलाके में शिक्षा का काम उठाने की प्रेरणा मिली थी। एक तरह से किशोर भारती के काम और बाद में मजदूर संगठन की सक्रियता तथा संघर्ष ने राजनीतिक जागरूकता के साथ-साथ शिक्षा की मांग भी पैदा कर दी थी। यह मांग प्राथमिक शालाओं के न होने या होने पर भी काम न करने या काम करने पर भी शिक्षकों के गरीबों के बच्चों के साथ तिरस्कारपूर्ण व्यवहार के कारण पूरी नहीं होती थी। जब जन शिक्षण ने शुरुआत में कुछ गांवों में शिक्षा केंद्र चलाने शुरू किए तब दूर-दूर के गांवों से अपने-अपने गांवों में ऐसी शालाएं और सचल पुस्तकालय चलवाने की पालकों की तरफ से मांग आने लगी।

जन शिक्षण अभियान और राजसत्ता के बीच टकराव

संगठन द्वारा जंगल पर जनता के अधिकारों, सरकार द्वारा कृषि आधारित उत्पादन केंद्रों, रोजगार केंद्रों और भ्रष्टाचार का विरोध आदि मांगों को लेकर संघर्ष के कारण तथा पुलिस, वन अधिकारियों और स्थानीय नौकरशाही के दमन के कारण संगठन का राजसत्ता के प्रतिनिधियों, स्थानीय सामंती ताकतों और अन्य निहित स्वार्थों के साथ द्वंद्व तथा टकराव बढ़ता ही गया था। इस पूरे संदर्भ में जन शिक्षण का गांवों में शिक्षा का काम करना और मजदूर संगठन का समर्थन करने तथा उससे सहानुभूति रखने से इस समूह को भी इसी प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ा।

इसके साथ ही भ्रुस्कुटे ट्रस्ट के साथ संघर्ष ने टकराव में नया आयाम जोड़ दिया था। यह ट्रस्ट भी उसी दौरान गांवों में सरस्वती शिशु मंदिर चलाने के लिए गांव संपर्क में संलग्न थी और 'हिंदू धर्म' का प्रचार कर रही थी। बाबरी मसजिद गिराने के बाद उससे जुड़ा अत्यंत सांप्रदायिक प्रचार भी जारी था। जन शिक्षण की कक्षाओं में चर्चा, कविताओं, गीतों और 'सहमत' समूह द्वारा निर्मित पोस्टरों आदि से एक प्रकार से इस दुष्प्रचार का विरोध भी हो रहा था। संगठन और जन शिक्षण में जुड़े लोग भी भिन्न-भिन्न पृष्ठभूमि के थे और आर.एस.एस. के सांप्रदायिक प्रचार को, खास तौर से गांव-गांव में, बहुत गलत मानते थे। इस प्रकार अपने मतों और शैक्षिक गतिविधियों के कारण जन शिक्षण के कार्यकर्ताओं का भ्रुस्कुटे ट्रस्ट के कार्यकर्ता, बनखेड़ी के बजरंग दल और भाजपा के साथ टकराव बढ़ा। इसी दौरान संगठन ने किशोर भारती की जमीन पर प्रशिक्षण और उत्पादन केंद्र बनाने की मांग भी तीव्र कर दी थी। इन सबको खतरे की घंटी मानकर स्थानीय आर.एस.एस. और भाजपा इकाई ने राज्य सरकार और स्थानीय सामंती ताकतों के पूर्ण समर्थन के साथ संगठन

और जन शिक्षण के कार्यकर्ताओं को सबक सिखाने का फैसला किया।

1991 में संगठन के नेता को उस समय गिरफ्तार कर लिया गया जब वह बनखेड़ी थाने में बिजनहाई गांव की चार महिलाओं के साथ वन विभाग के कर्मचारियों द्वारा किए बलात्कार की घटना की रपट लिखवाने थाने पहुंचा था। गिरफ्तारी के बाद उसे और उसके साथ गए अन्य ग्रामवासियों के साथ मारपीट की गई। इसका विरोध करने जब सैकड़ों ग्रामवासी बनखेड़ी थाने पहुंचे तो बजरंग दल के गुंडों, वन और पुलिस विभाग के कर्मचारियों ने उन्हें घेरकर लाठियों और लोहे के सरियों से मार-मारकर बहुत से लोगों को घायल कर दिया था। बनखेड़ी के इतिहास में यह अनहोनी घटना थी जिसे आज भी लोग आतंक और डर के साथ याद करते हैं। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप ग्रामवासियों ने भी लाठियों और पत्थरों से वापस हमला किया। इसके परिणामस्वरूप पुलिस ने 'हत्या का प्रयास' के मामले बनाकर करीब पचास लोगों को गिरफ्तार किया जिसमें पांच जन शिक्षण समूह के सदस्य समेत, बूढ़ी औरतें, आदमी तथा बच्चे भी थे।

शिक्षा की विषयवस्तु और राजसत्ता

इस घटना के बाद एल.आई.बी. का एक व्यक्ति जन शिक्षण की गतिविधियों की जांच करने के लिए गांवों में भेजा गया। उसने कुछ केंद्रों का दौरा किया और हाथ से लिखे कविताओं के पोस्टरों के फोटो खींचे। कुछ पोस्टर जो दीवारों पर चिपके या लटके हुए थे उन्हें गुस्से से फाड़ दिया। ये व्यक्ति जंगल के बीच, सतपुड़ा की पहाड़ियों की तलहटी में बसे एक अत्यंत दूरदराज के गांव मुर्गी-ढाना के केंद्र में पहुंचा जो उस समय शिक्षक के जेल में होने के कारण बंद था। यहां एल.आई.बी. का व्यक्ति कुछ पोस्टरों को देखकर काफी उत्तेजित हो गया। उसने सुधा चौहान, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, सोहनलाल द्विवेदी, धर्मपाल शास्त्री, नवीन सागर, रवींद्रनाथ ठाकुर आदि प्रसिद्ध कवियों के पोस्टरों को फाड़ दिया और कविताओं की नकल अपनी डायरी में उतारी। दो पोस्टरों के सामने खड़े होकर वह विशेषत: आशंकित हुआ और चिढ़ा हुआ लगा। इन पोस्टरों में नीचे लिखी हुई दो कविताएं थीं :

फोन उठाकर कुत्ता बोला। सुनिए थानेदार
घर में चोर घुसे हैं। बाहर सोया चौकीदार*

इस कविता से वह इसलिए नाराज था क्योंकि इसमें थानेदार और नाकेदार की तौहीन थी। आम परिस्थिति में शायद ऐसी कविताओं पर एल.आई.बी. के व्यक्ति का ध्यान भी नहीं

---

* यह बच्चों की कविता विष्णुकांत पांडे की लिखी हुई है और *बाल सखा* में छपी थी. *बाल सखा* चालीस और पचास के दशक में इलाहाबाद से छपने वाली एक लोकप्रिय बाल पत्रिका थी.

जाता परंतु क्योंकि पोस्टर जन शिक्षण के केंद्रों पर थे इसलिए उनका राजनीतिक महत्व कई गुना बढ़ गया था।

दूसरी आपत्तिजनक कविता इस प्रकार थी :

टप्पर टप्पर घूमे रे, नाकेदार थानेदार
दारू मुर्गा मांगे रे, नाकेदार थानेदार
रुपिया पैसा लूटे रे, नाकेदार थानेदार
लातें घूंसे मारे रे, नाकेदार थानेदार
हुक्का पानी मांगे रे, ...
झोंपड़ी हमारी तोड़े रे, ...

पलिया पिपरिया गांव से करीब दो किलोमीटर दूर जुन्हैटा गांव है। यह गीत 1989 में जुन्हैटा गांव में वन विभाग के कर्मचारियों द्वारा छापा मारने और गरीबों को मारने-पीटने के परिणामस्वरूप बना था। इस छापे के दौरान, इमारती लकड़ी ढूंढ़ने के बहाने बहुत सारे गांव वालों के घर तोड़ दिए गए थे। फारेस्ट गार्डों और अन्य अधिकारियों ने उन गांव वालों को मारा-पीटा जिन्होंने झोंपड़ियां तोड़ने का विरोध किया था। इसके बाद इनमें से कइयों को झूठे आरोप लगाकर गिरफ्तार कर लिया था। यह गीत दमन की एक वास्तविक घटना से उभरा था और अपने बोल और धुन के कारण गांव वालों में अत्यंत लोकप्रिय हुआ था। यह मौलिक गीत पश्चिमी मध्य प्रदेश और राजस्थान में इसी प्रकार के जन संगठनों के सक्रिय कार्यकर्ताओं के माध्यम से बनखेड़ी पहुंचा था और हमेशा स्थानीय परिस्थिति के अनुसार इसके बोल बदलकर जुलूसों, धरनों और पदयात्राओं में झूम-झूमकर इसे गाया जाता था। गीत के बोल से ही यह देखना मुश्किल नहीं है कि कैसे प्रभावशाली ढंग से यह मध्य भारत में फैले हुए वनों में निवास करने वाले आदिवासियों की भावनाओं और कष्टों को अभिव्यक्ति देता है।

एल.आई.बी. के व्यक्ति ने गांव वालों के सामने इन दोनों पोस्टरों को फाड़कर उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिए और ऊपर अपनी रपट भेजी कि इस क्षेत्र में नक्सलवादी आ गए हैं। बाद में एक स्थानीय पत्रकार को एल.आई.बी. के व्यक्ति ने बताया कि जन शिक्षण गांव वालों को भड़काने का काम करता है। इसलिए उसने भोपाल यह सिफारिश भेजी है कि इसकी गतिविधियों को बंद करवा देना चाहिए। पढ़ने-लिखने की सामग्री की विषयवस्तु का इस तरह का असर भी हो सकता है, यह समझना महत्वपूर्ण है।

विडंबना यह है कि ये दोनों कविताएं जन शिक्षण के 'पाठ्यक्रम' की सफल कविताएं हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि ये दोनों तथा कई अन्य कविताओं, साइक्लोस्टाइल पुस्तकों और पोस्टरों के रूप में पठन सामग्री का हिस्सा है। इसका निर्माण किसी ऊपर बैठी हुई समिति के द्वारा नहीं बल्कि लोगों की अपनी समझ और जुड़ाव से हुआ और पढ़ने की प्रक्रिया में मददगार भी हुई। यह 'विषयवस्तु' वहीं 'उपलब्ध' थी और शिक्षक

जिसकी जिम्मेदारी विद्यार्थियों के लिए रुचिकर और अर्थपूर्ण, लोकप्रिय पठन सामग्री तैयार करना था, उन्होंने इसे तुरंत पोस्टरों पर लिखकर इसे पठन सामग्री में बदल दिया। शिक्षकों को क्योंकि अतिरिक्त पठन सामग्री के निर्माण में सक्रिय भागीदारी निभानी होती है इसलिए उनके लिए कविताओं और गीतों को ढूंढ़ते रहना स्वाभाविक क्रिया थी। एक और शिक्षाशास्त्रीय सिद्धांत भी यहां जुड़ा है। बनी-बनाई वस्तुओं के साथ ही आम जन वह सामग्री भी पढ़ना चाहते हैं और शायद ज्यादा दिलचस्पी से पढ़ते हैं जिसमें उनके स्वयं के अनुभव, संघर्ष, कहानियां, कविताएं और गीत लिखे हों। यह लगभग सर्वमान्य सिद्धांत भी है कि लोग परिचित 'विषयवस्तु' पढ़ना (अवकोडन करना) ज्यादा शीघ्र कर पाते हैं बजाए अपरिचित और नई विषयवस्तु के। यदि लिखित विषयवस्तु में मौखिक परंपराओं से ली गई विषयवस्तु भी होती है तो पढ़ने की गति और रुचि कई गुना बढ़ जाती थी। मौखिक परंपराओं को लिखित रूप में देखना वैसे भी आम लोगों में अपने महत्व की भावना पैदा करती है। यह आत्मविश्वास साक्षरता और पढ़ने में मददगार होता है इसीलिए जन शिक्षण में इसको प्रोत्साहन दिया गया था। बच्चों और प्रौढ़ों दोनों के बीच में ढेरों और कविताएं भी लोकप्रिय थीं जो लोगों की समझ तथा जागरूकता की परिचायक हैं।

ऐसी कुछ अन्य कविताएं और गीत नीचे लिखे हैं :

मिंदों बाई पानी दे, कोदो कुटकी धानी दे।
सबहे गल्ला पानी दे, ढोर बचेरू सानी दे।
चाहे कितना पानी दे, बचबे छप्पर छानी दे।
राजा दे ना रानी दे, हमें तो कैनो नानी दे।

यह बच्चों के लोकप्रिय गीत पर आधारित है। यह कविता जन शिक्षण के एक सदस्य वीरेंद्र द्वारा उसकी पिपरिया की कक्षाओं के दौरान रची गई थी। ऐसी ही प्रक्रिया से बना एक और गीत जो कक्षाओं में लोकप्रिय हुआ उसकी शुरू की पंक्तियां इस प्रकार थीं :

लड़त जा रे, लड़त जा रे, हमरे जंगल वारे वीर
लड़त जा रे.... ...
काहे में कट रहे रूख पखेरू
काहे में कुट रहे गांव, लड़त जा रे
थोक में कट रहे रूख पखेरू
फुटकर कुट रहे गांव। लड़त जा रे

पर्यावरण शिक्षा के लिए इससे बेहतर गीत क्या होगा? लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। पर्यावरण का आम जनों द्वारा रचित गीत खतरनाक होता है और यदि वह साक्षरता कक्षाओं में पोस्टर पर लिख दिया जाए तब तो 'विध्वंसकारी' हो जाता है।

एक अन्य कविता जो बहुत लोकप्रिय हुई वह निरंकारदेव सेवक रचित बाल कविताओं

के संग्रह से ली गई है। कविता की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं :

नेहरू चाचा गिर पड़े,
एक दिन वो दिन चढ़े,
घोड़े पर चढ़कर चले,
नेहरू चाचा गिर पड़े.... . .

ऐसी कविताओं को कक्षा में गाने और पढ़ने के बाद बहस के दौरान हरेक व्यक्ति कविता के विषय में अपना मत अभिव्यक्त करता है। उदाहरण के लिए, चर्चा के दौरान मिंदोबाई कविता की अंतिम दो लाइनों के बारे में लगभग सभी लोग कविता में अभिव्यक्त भावना से सहमति जताते हैं यानी न तो राजा और न ही रानी हमारी चिंता करते हैं। हमारे अपने लोग (नानी) ही हमें कैनो (चना-चबैना) देते हैं। हालांकि, कुछ लोगों को ऐसा लगता था कि 'सच में ऐसा होता है कि राजा-रानी (राजसत्ता) हमारी चिंता नहीं करती, पर हमारे पास कोई विकल्प भी नहीं है। इसलिए ऐसा कहकर राजा-रानी की तौहीन नहीं करनी चाहिए।'

सरकारी शिक्षा कार्यक्रम और सशक्तीकरण : इस तरह के अनुभव शिक्षा के सरकारी कार्यक्रमों, खास तौर से अभावग्रस्त समूहों, बच्चों और बड़ों के लिए बनाए गए—अनौपचारिक, प्रौढ़ तथा साक्षरता—शिक्षा कार्यक्रमों के द्वारा शक्तीकरण जैसे उद्देश्यों के प्रति एक स्वाभाविक संदेह और उदासीनता, अविश्वास का भाव पैदा करता है। शिक्षा का व्यावहारिक मतलब इस हद तक दब्बू बनाना, वश में करना और समाजीकरण सीखना होता है कि इस पथ से नाममात्र का विचलन भी यानी पाठ्यक्रम में जरा सी मस्ती, सृजनात्मकता, मजाक या व्यंग्य राजसत्ता के एजेंटों के मन में शक और भय पैदा कर देता है। इस प्रकार वर्ग और उत्पीड़न के द्वंद्वों और टकरावों के ऊपर चढ़ा दिखावे का अस्तर चिंदी-चिंदी हो जाता है और सरकारी प्रचारों की प्रगतिशीलता का मुखौटा यानी 'शिक्षा गरीबों के सशक्तीकरण के लिए' उतर जाता है। और यदि ऐसी गतिविधि वास्तव में जागरूकता बढ़ाने में सफल होती है जिससे जन संगठन बनने की शुरुआत होने लगती है तो इसे सरकारी एजेंसियों द्वारा विनाशकारी गतिविधि का दर्जा दे दिया जाता है अर्थात कानून और व्यवस्था की समस्या जिसे रोकने के लिए दमन का सहारा लिया जाता है।

पर साथ ही, जन संगठन भी बनते हैं और भूमिहीनों के लिए भूमि, न्यूनतम मजदूरी, उत्पादन के सही मूल्य, वनों पर अधिकार, पुनर्वास के अधिकार, इत्यादि मुद्दों को उठाते हुए राजनीतिक संघर्ष करते हैं। शैक्षणिक कामों का महत्व तभी है जब वह लोगों को वास्तव में ताकतवर बनाए और उनके संगठन और संघर्ष को सशक्त करे। साथ ही वह उन मुद्दों को प्रतिबिंबित करे जो आम जनों के जीवन और संघर्षों के लिए केंद्रीय महत्व के हैं।

एल.आई.बी. के एक व्यक्ति का अनौपचारिक शिक्षा का केंद्र देखने आना शिक्षा,

वन और पुलिस विभागों के बीच का गठबंधन दरशाता है। इसलिए यह धारणा कि शिक्षा एक अलग, स्वायत्त विभाग है जिसके माध्यम से राजसत्ता जागरूकता फैलाने या बुनियादी परिवर्तन की मांगों को उठाने के लिए प्रतिबद्ध है, एक भ्रम है। शिक्षा की निष्पक्षता की बात एक मिथक है।

सार : सत्तर के दशक में किशोर भारती शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाली एक प्रगतिशील संस्था के रूप में पहचानी गई। औपचारिक शिक्षा में किशोर भारती ने अपनी शालाएं खोलने के बजाए सरकारी शालाओं में पढ़ाई का स्तर सुधारने के लिए काम किया और प्रशासन पर इस नवाचार कार्यक्रम को लागू करने के लिए दबाव बनाया। इस कार्यक्रम की उपलब्धियों के बावजूद बहुत सारी व्यावहारिक समस्याओं (जिनका संबंध बुनियादी सामाजिक और आर्थिक ढांचों से है) के न तो हल निकले, न हल निकलने के रास्तों की समझ बनी और न ही, ये दोनों क्यों नहीं हो पाता इसके सैद्धांतिक पहलू समझे जा सके। उदाहरण के लिए, एक स्तर पर शाला भवन, शिक्षकों की कमी, छोटे कमरे और ज्यादा विद्यार्थी, शिक्षकों की नियुक्ति की राजनीति और उसमें व्याप्त भ्रष्टाचार आदि जैसी बुनियादी समस्याओं को छुआ नहीं जा सका। दूसरी तरफ बहुत से वैज्ञानिक, शिक्षक और महाविद्यालयीय स्तर के विद्यार्थी, जिन्होंने होविशिका के माध्यम से पिछड़े क्षेत्रों की शिक्षा व्यवस्था में दखलंदाजी की उन्होंने स्वयं 'शाला' नामक संस्था के दमनात्मक और अप्रजातांत्रिक तौर-तरीकों, जाति, वर्ग और लिंग जैसे पूर्वग्रहों के विषय में बहुत कम सीखा।

किशोर भारती का उद्देश्य शिक्षा के माध्यम से सवाल पूछने की क्षमता और वैज्ञानिक मानसिकता का विकास करके सामाजिक परिवर्तन करना था। इसलिए इसकी गतिविधियां केवल औपचारिक शाला व्यवस्था के दायरों तक सीमित नहीं रहीं। इसने ग्रामीण समाज में अनौपचारिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा (मजदूर संगठन के काम), महिला शिक्षा, आदि के माध्यम से हस्तक्षेप किया। इस प्रकार, अभावग्रस्त वर्गों के साथ सतत प्रयासों के कारण समाज के द्वंद्व, विरोधाभास और टकरावों से सीधा जूझना पड़ा। इसकी तार्किक परिणति मजदूर संगठन बनने से हुई। मजदूर संगठन का बनना अभावग्रस्त लोगों के साथ शिक्षा के काम के परिणामों का द्योतक भी है। जैसा कि आंध्र महासभा के मामले में हुआ था। वहां भी जब शिक्षाशास्त्रियों ने गांवों के स्तर तक पुस्तकालय अभियान और साक्षरता का काम फैलाना शुरू किया तो नीचे से शिक्षा के साथ ही जिंदा रहने के सवाल उठाने के लिए और उत्पीड़न का विरोध करने के लिए जनता का दबाव बनना शुरू हुआ। शैक्षिक गतिविधियों ने आपस में मिलने के स्थल (मौके) पैदा किए और ये ही स्थल विरोध की शुरुआत के केंद्र भी बने।

किशोर भारती एक ऐसा उदाहरण है जहां शिक्षा के कार्यक्रमों को कुछ कार्यकर्ताओं की हठधर्मिता और मजदूर संगठन के दबावों के कारण उनकी अंतिम परिणति तक पहुंचना पड़ा। यह परिणति हमेशा दिखती रही, शुरू में स्कूलों के बाहर के हस्तक्षेपों के दौरान

भी। लेकिन अपनी दिशा या कार्यक्रम बदलकर किशोर भारती ऐसी स्थितियों से बचती रही। मजदूर संगठन का बनना इस दृष्टि से एक निर्णायक मोड़ था। किशोर भारती ने तो इसे अपने और गरीब लोगों के बीच की खाई को पाटने के लिए बनाया था। इससे गरीब लोगों की आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति भी मिली जिसका दबाव कभी कम नहीं हुआ। बिलकुल आंध्र महासभा की तरह इससे किशोर भारती के मिश्रित समूह में आंतरिक मतभेद बढ़े। इन मतभेदों के बुनियादी कारण विचारधारात्मक (ideological) थे जो समय-समय पर की गई टिप्पणियों और पक्षपाती रवैए से जाहिर थे। इसने समूह में ध्रुवीकरण किया और कानूनी रूप से ताकतवर कार्यकारिणी ने सभी शैक्षणिक कार्यक्रम बंद कर दिए।

किशोर भारती पर शायद सबसे सटीक टिप्पणी पी.यू.डी.आर. की रपट में ही की गई है :

> मजदूर संगठन जो किशोर भारती द्वारा बनाया गया, आगे बढ़ा और किसान-मजदूर संगठन कहलाया और अन्य संगठनों की मदद से स्थापित सामंती ताकतों को, किशोर भारती से स्वतंत्र होकर, चुनौती दे रहा है। इस संदर्भ में शायद किशोर भारती जैसी संस्थाओं की सफलता उनके असफल होने में ही है (1991 : 17)।

निष्कर्ष : इतने विभिन्न, समृद्ध, लंबे और गूढ़ अनुभवों से कुछ सामान्य निष्कर्ष निकालना आसान नहीं है। पर इन अनुभवों को बिना व्यापक संदर्भ में विश्लेषण किए मात्र कह देने भर से भी काम नहीं चलेगा। यह तो अच्छी तरह से मालूम है कि एक समूह के एक क्षेत्र के अनुभवों के आधार पर सामान्यीकरण भी नहीं किया जा सकता। परंतु किशोर भारती समूह इस पूरे दौरान विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक समूहों के साथ अपने अनुभवों की तुलना करने, बांटने और दूसरे के अनुभवों से सीखने की परस्पर क्रिया से जुड़ा था। इस अध्याय में इस क्रिया के विषय में विस्तार से लिखना संभव नहीं है, लेकिन जो भी सामान्यीकरण किया है वह ऐसे अन्य बहुत से अनुभवों के निष्कर्षों को भी प्रतिबिंबित करता है।

एक निष्कर्ष यह हो सकता है कि आमूल परिवर्तनवादी शिक्षाशास्त्र या समाज परिवर्तन के लिए शिक्षा एक विशेष सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक संदर्भ में ही परिभाषित की जा सकती है। जो हमें हमारे शहरी झुकावों और मध्यमवर्गीय संरचना के कारण आमूल परिवर्तनवादी या प्रगतिशील लगे वह जिन लोगों के बीच यह काम हो रहा है उनको बिलकुल अर्थहीन और बेकार लग सकती है। यह गरीब और उत्पीड़ित लोगों के संदर्भ में और भी सच है। जब पता चलता है कि शिक्षा कार्यक्रम की हमारी अवधारणा उनके लिए निरर्थक है तो उनकी इस कारण से रुचि की कमी या अस्वीकृति को हम लोग उनकी अज्ञानता और जागरूकता की कमी के रूप में समझते हैं। हमारे जैसे मध्यमवर्गीय कार्यकर्ता हालांकि 'लोगों से सीखना' जैसे नारों से बहुत प्रभावित होते हैं, लेकिन कई बार सोचते

इससे बिलकुल उलटा हैं कि हम तो ज्ञाता हैं और हमें तो इन अज्ञान लोगों को सिखाना है। चाहे यह सरकारी साक्षरता कार्यक्रम हो या राजनीतिक आंदोलनों द्वारा चलाई जा रहे परिवर्तनवादी आंदोलन हों, इस कमी से उबरना आसान नहीं रहा है। एक सुधारवादी कार्यक्रम के रूप में भी शिक्षा तभी मददगार होती है यदि सक्रिय कार्यकर्ता की सामाजिक और राजनीतिक समझ भी ईमानदारीपूर्वक खोज और मानवीय सरोकारों से मजबूत बने। और इसके उद्देश्य किसी भी प्रकार के प्रभुत्व या दमन का विरोध करना हो। कई बार मध्यमवर्गीय कार्यकर्ता अपनी महत्वाकांक्षाओं, निहित स्वार्थों और असुरक्षाओं के कारण अंधे हो जाते हैं तथा इस खोज की प्रक्रिया में बाधक हो जाते हैं।

दूसरे, परिवर्तनवादी-शिक्षाशास्त्र का इस्तेमाल या समाज परिवर्तन के लिए शिक्षा को लागू करना बहुत बार मात्र कार्यक्रम की प्रभावशीलता और कार्यक्षमता से तय नहीं होता, बल्कि उन परिस्थितियों से होता है जिनमें कार्यक्रम काम करते हैं। व्यापक सामाजिक-राजनीतिक माहौल शैक्षणिक प्रयासों के विपरीत हो सकता है, खास तौर से इसलिए क्योंकि यह यथास्थिति बनाए रखने के नाजुक ताकत संतुलन को और मौजूदा सामाजिक ढांचे के मूल्यों को गड़बड़ा सकता है।

शिक्षा टकराव का स्थल भी है। टकराव के मूल कारण सामाजिक और राजनीतिक हैं और यह परिस्थिति तब तक नहीं बदलेगी जब तक आम जनों के हाथ में उत्पादन और उत्पादन की प्रक्रिया का नियंत्रण न हो। शिक्षा को लागू करने वाले समूह को बहुत शीघ्र ही यह तय करना पड़ता है कि ऐसे टकराव में मध्यमवर्गीय कार्यकर्ता किस तरफ हैं? आम जन के पक्ष में खड़े होने का अर्थ होता है राजनीतिक आंदोलन को न केवल समर्थन देना बल्कि नेतृत्व देना और राज के दमन को भोगना। निष्पक्ष रहने या उससे भी बदतर राजसत्ता या ताकतवर समूहों के पक्ष में खड़े होना बेहतरीन परिस्थितियों में पूरे प्रयास को अर्थहीन बना सकता है और बदतर परिस्थितियों में जनता के क्रोध का पात्र भी बना सकता है।

इन दिनों राजसत्ता और अन्य राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों द्वारा वंचित लोगों के 'सशक्तीकरण' के लिए शिक्षा के 'सर्वव्यापीकरण' और 'साक्षरता' जैसे कार्यक्रमों की बाढ़-सी आ गई है। जिस आसानी से रेडीकल शब्दावली का इन कार्यक्रमों में उपयोग होता है, वही इन पर शक पैदा करने के लिए काफी है। सरकार द्वारा प्रायोजित वृहत शिक्षा 'आंदोलनों' और छोटे शिक्षा कार्यक्रमों में कहीं भी द्वंद्व के पहलू का बोध भी नहीं दिखता है। सरकारी शैक्षिक 'आंदोलनों' में इस बोध के अनुपस्थिति तो होगी ही क्योंकि स्पष्टतः ऐसे कार्यक्रम राजसत्ता को अपनी वैधता और विश्वसनीयता बनाने के लिए जरूरी है परंतु स्वायत्त समूहों द्वारा ऐसे अशांत करने वाले द्वंद्व के पहलुओं को नजरअंदाज करना और सरकारी एजेंडा में बह जाना गहरी चिंता पैदा करता है।

फिर भी, ऐसी शिक्षा जिसमें परिवर्तन की संभावनाएं निहित होती हैं, बहुत सारे संगठनों, आंदोलनों और चिंतित व्यक्तियों को आकर्षित करती है। विषयवस्तु पद्धति की

प्रकृति, लागू करने की रणनीतियां, उन्हें व्यापक सामाजिक प्रक्रियाओं और आंदोलनों से जोड़ना, जनता के सपनों, आकांक्षाओं और परिप्रेक्ष्यों को समझना तथा महत्व देना, टकराव के परिणामों से जूझने के तरीके विकसित करना, इत्यादि ऐसे सभी प्रयासों के लिए महत्वपूर्ण मुद्दे होंगे। यह भी स्पष्ट होना जरूरी है कि मात्र परिवर्तनवादी पद्धतियां और विषयवस्तु सामाजिक ढांचागत रुकावटों को बदल नहीं सकतीं। मध्यम वर्ग के इस दंभ या गरूर कि हम समस्याएं और बेहतरीन हल सब जानते हैं, इसे गंभीरता से चुनौती देना जरूरी है। 'अशिक्षितों' के लिए कार्यक्रम बनाना आसान है लेकिन 'शिक्षितों' को 'शिक्षित' करना कहीं ज्यादा मुश्किल काम है क्योंकि इसमें, पहला सीखा हुआ मिटाकर, नए सिरे से लोगों में सीखने का माद्दा और प्रेरणा चाहिए।

7. नेल्लोर में शराब विरोधी आंदोलन

(1990-94)

भूमिका

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन साक्षरता का एक सरकारी कार्यक्रम है जिसकी शुरुआत अस्सी के दशक के अंतिम वर्षों में हुई थी। इसके तहत साक्षरता कक्षाओं के अलावा अभियानों के माध्यम से साक्षरता में रुचि और जागरूकता पैदा करने का प्रयास किया गया। इस कार्यक्रम के विषय में शुरुआत में ही दो बातें कहना जरूरी है। पहली, यह कि आजादी के बाद से चले प्रौढ़ों की शिक्षा के सभी कार्यक्रमों में कम से कम नीतिगत स्तर पर बात प्रौढ़ शिक्षा की होती थी, मात्र साक्षरता की नहीं। राष्ट्रीय साक्षरता मिशन पहला कार्यक्रम है जिसमें प्रौढ़ शिक्षा मात्र साक्षरता रह गई है। दूसरी, महत्वपूर्ण बात यह है कि पहली बार ऐसे कार्यक्रम में अभियान चलाने के लिए आर्थिक प्रावधान किया गया। एक स्वायत्त संगठन, भारत ज्ञान विज्ञान समिति के अध्यक्ष श्री एम.पी. परमेश्वरन, जिन्होंने 1978 के राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम की असफलता के बाद इस अभियान आधारित कार्यक्रम की कल्पना की और इस विचार को मूर्त रूप दिया, उनके अनुसार, 'अभियान आधारित इस तरीके की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इसने साक्षरता के मुद्दे को इतना महत्व दिलवा दिया कि वह राष्ट्रीय एजेंडा में आ गया' (*होशंगाबाद विज्ञान,* 1991)। यह जरूर हुआ है। कम से कम 1990-94 की समयावधि के दौरान ऐसा लगता था कि शिक्षा का कोई कार्यक्रम है तो वह है राष्ट्रीय साक्षरता मिशन का काम। लेकिन शायद ऐसा भी हुआ कि इसने बहुत सारे ऐसे मुद्दों को राष्ट्रीय एजेंडा पर आने ही नहीं दिया जो या तो इतने ही या इससे कहीं अधिक गंभीर और महत्वपूर्ण मसले थे। इस बात को और गहराई से समझने के लिए आंध्र प्रदेश के नेल्लोर जिले के साक्षरता अभियान को समझना जरूरी है जो शराब के खिलाफ आंदोलन के लिए ज्यादा मशहूर हुआ।

राजसत्ता समर्थित सशक्तीकरण अभियानों का उदय

अस्सी का दशक अभियानों तथा असाक्षर जनता, खास तौर से महिलाओं को, राजसत्ता

द्वारा इकट्ठे जुटाने और उन्हें ताकतवर बनाने के वादों का दशक था। इससे उम्मीदों और भ्रमों का एक माहौल बना क्योंकि देश के बुद्धिजीवियों और शिक्षाशास्त्रियों ने राजसत्ता द्वारा पैदा की गई इस गुंजाइश की चर्चा शुरू की। इन सभी लोगों का ध्यान इस ओर बंट गया कि कैसे इस गुंजाइश का उपयोग ज्यादा बुद्धिमानी से सामाजिक और ढांचागत मुद्दों को उठाने के लिए किया जाए। इस आशा ने बुद्धिजीवियों और कुछ महिला समूहों में एक नई तरह की बहस को जन्म दिया जो इस 'सरकार द्वारा बनाई गुंजाइश का फायदा उठाने' के इर्द-गिर्द केंद्रित थी। इन सभी आशावान लोगों ने उन 'सनकी' और शक्की लोगों की आलोचना की जो राजसत्ता की भूमिका पर अंतहीन शक जाहिर करते हैं और सरकार के ऐसे 'प्रगतिशील' प्रयासों में भी कुछ छिपा हुआ एजेंडा देखते हैं। हालांकि शिक्षा, खास तौर से प्रौढ़ शिक्षा पर अस्सी के दशक के अंत से बढ़ते हुए जोर तथा साथ ही भूमंडलीकरण की शुरुआत, दोनों एक साथ होने को एक इत्तफाक नहीं माना जा सकता था। इस 'गुंजाइश' के सिद्धांत के कारण सत्तर के एक अत्यंत उठा-पटक और हलचल वाले दशक के बाद अस्सी के दशक में सरकार द्वारा गरीब और अभावग्रस्त लोगों, खास तौर से औरतों के सशक्तीकरण के लिए कई कार्यक्रमों की शुरुआत ने राजसत्ता को एक नई विश्वसनीयता और वैधता प्रदान की। यह वह वक्त था जब 'गरीबी हटाओ' जैसे खोखले नारे और बीससूत्री जैसे जनपक्षीय दिखने वाले कार्यक्रमों की पोल खुल चुकी थी। अपना जनविरोधी चेहरा छिपाने के लिए राजसत्ता को हमेशा जनपक्षीय कार्यक्रमों को रचने और घोषणाएं करते रहने की जरूरत तो होती ही है। लेकिन अस्सी के दशक के कार्यक्रम एक दृष्टि से काफी मोहक, मध्यम वर्गों के लिए सुविधाजनक और अहानिकारक कम से कम दिखने में टकराव के अंदेशा रहित और सरकारी एजेंडा (जनसंख्या शिक्षा, पर्यावरण शिक्षा, पंचायती राज इत्यादि) को आगे बढ़ाने वाले लगे। बुद्धिजीवियों और खास तौर से गैर-सरकारी संस्थाओं के कार्यकर्ताओं ने इन कार्यक्रमों में निहित विचारधारात्मक परिवर्तन को अनदेखा किया यानी राजसत्ता द्वारा विकास और स्रोतों के बंटवारे की जिम्मेदारी को छोड़कर लोगों को साक्षर करके ताकतवर बनाने (सशक्तीकरण) की बात करना। जैसे बीससूत्री कार्यक्रम का एक महत्वपूर्ण सूत्र था सीलिंग में निकली जमीन का भूमिहीन लोगों में बंटवारा, पर अब ऐसे मुद्दे ही पृष्ठभूमि में चले गए हैं।

महिला स्रोत केंद्र, 'सहेली' की राजस्थान के महिला विकास कार्यक्रम के संदर्भ में की गई टिप्पणी साक्षरता कार्यक्रमों के लिए भी बहुत सटीक है। इसके अनुसार, 'समाज के अन्य तबकों के लिए विकास योजनाएं बनाने के बजाए औरतों के संदर्भ में सरकार का जोर नीतिगत मामलों, स्रोतों के वितरण या विकास को पुनः परिभाषित करने आदि पर नहीं है बल्कि जोर 'जागरूकता पैदा करने, औरतों को लामबंद करने पर है, यानी विकास के बजाए संघर्ष पर है। महिला विकास कार्यक्रम के तहत विकास की इस परिभाषा ने एक अद्भुत परिस्थिति का निर्माण कर दिया है जहां संघर्ष स्थापित शक्तियों के खिलाफ न होकर उन्हीं शक्तियों द्वारा यानी राज समर्थित (उन्हीं के खिलाफ?) संघर्ष है। राजसत्ता ने सोच-समझकर प्रगतिशील शब्दावली का उपयोग किया है और इस प्रकार राजसत्ता और जनता के हितों के बीच के विरोधाभासों को धुंधला कर दिया है। इस प्रकार वर्ग और वर्गों के बीच टकराव और विरोधाभासों के मसले महिला विकास कार्यक्रमों में लिंगाधारित सरोकारों में ही डूब (शामिल हो) गए हैं। और इस प्रकार समाज के मुख्य बुनियादी ढांचागत विरोधाभासों से ऊर्जा को हटाने का प्रयास किया गया है' (*सहेली*, 1995 : 3)।

जन प्रतिक्रिया का महत्व

इन परिस्थितियों में उम्मीद और रास्ता मात्र जनता, स्त्री और पुरुषों दोनों के कर्म में दिखती है। उदाहरण के लिए, राजस्थान में महिला विकास कार्यक्रम के सरकारी अधिकारी, जो अपने काम से आत्मसंतुष्ट हुए बैठे थे, उनको साथिनों ने झकझोरकर रख दिया था (दुबे, 1996)। नेल्लोर की औरतों ने भी इसी प्रकार पहले हैदराबाद में राज्य सरकार को और अंततः दिल्ली सरकार को हिला दिया था।

जनता द्वारा राजसत्ता के एजेंडा का प्रतिरोध और विरोध करने की संभावना, जिसके विषय में पिछले दो अध्ययनों के संदर्भ में भी चर्चा हुई है और इस अध्याय में खास तौर से नेल्लोर की महिलाओं के संदर्भ में चर्चा करेंगे, जनता भी ऐसी शिक्षा की मांग करने की क्षमता दरशाता है जो उनके लिए जरूरी, उपयोगी और अर्थपूर्ण हो। फिर भी सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन ज्यादा जटिल प्रक्रिया है। यहां मकसद न तो इस प्रक्रिया को सरलीकृत करना है और न ही छोटे-छोटे आंदोलनों का जश्न मनाना है क्योंकि इस प्रकार बड़े ढांचागत मुद्दों से ध्यान बिलकुल हट जाता है। लेकिन यहां उद्देश्य जन विद्रोह और विरोध की झलक जहां भी मिले तो उसे पहचानना, उसे समझना और उस पर ध्यान केंद्रित करना है।

हेनरी जीरो प्रतिरोध सिद्धांत पर चर्चा करते हुए एक सवाल सामने रखते हैं कि क्या हरएक विरोध को प्रतिरोध कहा जा सकता है? वे स्वयं ही स्पष्टीकरण भी देते हैं। वह विरोध जिसमें कम से कम नीचे लिखे कुछ लक्षण मौजूद हों उसे ही प्रतिरोध कहा जा सकता है :

- आमूल परिवर्तनवादी चेतना पैदा करने की क्षमता हो;
- या आलोचना, सामूहिक आलोचनात्मक कर्म, मुक्ति की संभावना जैसे तत्व उठाए;
- या ऐसे सब विरोधी व्यवहार जिनकी जड़ें प्रभुत्व और सत्ता के विरोध की प्रतिक्रिया में हों (जीरो, 1983)।

प्रतिरोध के सिद्धांत पर चर्चा करते हुए जीरो इस मुद्दे पर ध्यानाकर्षित करते हैं कि इन

सिद्धांतों ने भी कुछ महत्वपूर्ण सवालों को नहीं उठाया है जैसे पितृसत्ता का प्रश्न (जीरो, 1983 : 104)। लेकिन क्या पितृसत्ता पर चर्चा बिना वर्ग उत्पीड़न किए की बात की जा सकती है? नेल्लोर के संघर्ष में दोनों तत्व शामिल थे—महिलाओं ने घरेलू क्षेत्र में पितृसत्ता का विरोध किया तो सार्वजनिक स्थलों पर और राजसत्ता—शराब ठेकेदार गठबंधन के खिलाफ संघर्ष में पितृसत्ता और वर्ग उत्पीड़न, दोनों का विरोध किया था।

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन (एन.एल.एम.) और विभिन्न साक्षरता विशेषज्ञों—अत्रेया (1992), शत्रुघ्ना (1993) और रामचंद्रन (1995) आदि की रपटें देखने से एक स्तर पर ऐसा लगता है कि जैसे नेल्लोर में शराब विरोधी आंदोलन राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के काम के कारण ही उभरा और ऋण व धनवृद्धि (क्रेडिट और थ्रिफ्ट) की सोसाइटियां बनना इस आंदोलन का सबसे तार्किक चरम बिंदु है। यदि साक्षरता कार्यक्रम में जुड़ी विभिन्न सरकारी एजेंसियों, उनके एजेंडा और निहित स्वार्थों को स्पष्ट रूप से पहचाना नहीं गया और उन पर बहस नहीं की गई और उस क्षेत्र में शराबबंदी आंदोलन के पिछले इतिहास को समझने का प्रयास नहीं किया गया तो ऐसा ही लगेगा कि यही सतही चित्र सही है।

शराब विरोधी आंदोलन का इतिहास और राजसत्ता की भूमिका

नेल्लोर का आंदोलन राज्य सरकार द्वारा चलाए गए शिक्षा के कार्यक्रम पर एक तरह से महिलाओं का प्रत्युत्तर है। ज्यादा निर्भीक या मुंहफट प्रत्युत्तर वास्तव में सरकार की इस मान्यता को अस्वीकार करना है जिसमें उनके कष्टों, अभावों और गरीबी का कारण उनका अशिक्षित होना बताया जाता है। नेल्लोर की महिलाओं का यह मूड एक महिला कार्यकर्ता के द्वारा स्पष्टता से अभिव्यक्त मनोभाव में देखने को मिलता है। इसके अनुसार, 'नहीं, नहीं, साक्षरता कार्यक्रम का हमारे ऊपर खास असर नहीं हुआ है। हमें साक्षरता की चिंता नहीं है। हमें बेहतर मजदूरी, रोजगार और बिना भय के जीने का अधिकार चाहिए' (रामनारायण, 4 दिसंबर 1992 : 57)। यह जरूर है कि शराब विरोधी आंदोलन का पहले नेल्लोर जिले में और बाद में पूरे आंध्र प्रदेश में फैलने में साक्षरता के लिए बने ढांचे (इनफ्रास्ट्रक्चर) मददगार हुए, पर शायद अनजाने में। और नेल्लोर एकमात्र ऐसा जिला भी नहीं है जहां ऐसा आंदोलन शुरू हुआ। आंध्र प्रदेश में शराब विरोधी आंदोलन का इससे पहले का दस-पंद्रह साल पुराना इतिहास है। यह इतिहास आम तौर पर साक्षरता पर लिखी रपटों और लेखों में स्थान नहीं पाता है क्योंकि इन आंदोलनों का नेतृत्व और शुरुआत का श्रेय भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी-मा.ले.) को है। इस संदर्भ में आंध्र प्रदेश के मानव अधिकार संगठन के लंबे अरसे तक अध्यक्ष रहे डॉ. बालगोपाल लिखते हैं, 'लेकिन शराब विरोधी आंदोलन की कहानी का कोई भी ईमानदारीपूर्वक किया गया प्रस्तुतीकरण धोखाधड़ी में भागीदार नहीं हो सकता। जैसे यह न कहा जाना कि वर्तमान

आंदोलन पिछले डेढ़ दशक से सी.पी.आई. (मा.ले.) समूहों द्वारा चलाए गए शराब विरोधी आंदोलनों का नैरंतर्य है या कि जिन औरतों ने शराब के विरोध में नेल्लोर के गांवों में आंदोलन चलाया वे सी.पी.आई. (एम.एल.) समूहों के पिछले आंदोलनों के बारे में जागरूक थीं और उनसे उन्होंने प्रेरणा पाई थीं' (बालगोपाल 1993 : 2459)।

नेल्लोर आंध्र प्रदेश का दक्षिणी समुद्र तटीय जिला है। यहां 1969 तक शराब पर प्रतिबंध था। यहां की परिस्थिति तेलंगाना की परिस्थिति से फर्क थी। निजाम के समय में और उसके बाद 1956 में भी जब तेलंगाना आंध्र प्रदेश में मिला गया यहां कभी भी शराब पर प्रतिबंध नहीं था। पुरानी मद्रास प्रेसीडेंसी में शराब पर प्रतिबंध 1949 में लगाया गया और क्योंकि समुद्र तटीय जिले मद्रास रेसीडेंसी का हिस्सा थे, यहां और रायल सीमा क्षेत्र में भी 1969 तक प्रतिबंध जारी रहा। इसके बाद उस समय मुख्यमंत्री श्री कासू ब्रह्मानंद रेड्डी द्वारा प्रतिबंध यह कारण देकर हटाया गया कि इससे मिलावटी शराब के विक्रय को बढ़ावा मिल रहा है।

नेल्लोर में साक्षरता कार्यक्रम के योगदान को अलग करके देखा जाता है, न कि वहां की मौजूदा सामाजिक-राजनीतिक वास्तविकता को ध्यान में रखकर। इस आंदोलन के संदर्भ में राजसत्ता की भूमिका को जनपक्षीय करार देने का प्रयास किया जा रहा है। साक्षरता कार्यक्रम, इसके परिणाम, राजनीतिक आंदोलन का उदय, इन सभी पहलुओं को प्रदेश और क्षेत्र के कम से कम हाल के दस-पंद्रह सालों के इतिहास के संदर्भ में देखा जाना जरूरी है अन्यथा एक अत्यंत गड़बड़ छवि उभरती है जो वास्तविकता से परे है।

आंध्र प्रदेश के ही तेलंगाना के इलाके में एक दशक से ज्यादा समय से शराब विरोधी आंदोलन चल रहे हैं। शराब की बिक्री के खिलाफ सी.पी.आई. (एम.एल.) के विभिन्न समूहों के नेतृत्व में तेलंगाना के वारंगल, करीमनगर और आदिलाबाद जिलों में आंदोलन शुरू किया गया था। एक दशक पहले इन आंदोलनों को पुलिस की सहायता से दबाने का प्रयास किया गया था। आंदोलन को खत्म करने के लिए पुलिस नीचता की इस हद तक गई थी कि उसने शराब न केवल पुलिस सुरक्षा में बेचना शुरू किया, बल्कि पुलिस थानों से भी शराब बेची।

'पुलिस दमन के बावजूद वारंगल, करीमनगर और महबूबनगर जिलों में शराब की बिक्री पर व्यापक जन प्रतिबंध है जिसके कारण इन जिलों में वर्ष 1990-91 में 1,739 शराब की दुकानों के लिए नीलामी नहीं हो सकी' (रेड्डी और पटनायक, 1993 : 1059)। ये आगे कहते हैं, 'सी.पी.आई. (मा.ले.) द्वारा प्रायोजित शराब की बिक्री पर लगे प्रतिबंध के कारण आंदोलनकारी महिलाओं को राजसत्ता के हिंसक दमन का सामना करना पड़ा था। ऐसा लगता है कि ये आंदोलन स्वयंस्फूर्त था पर वास्तव में यह सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारकों के मिले-जुले परिणामों के कारण था। शुरू में राजसत्ता का रुख उदासीन था शायद इस उम्मीद में कि धीरे-धीरे यह आंदोलन खत्म हो जाएगा' (रेड्डी और पटनायक, 1993 : 1059)।

और बालगोपाल के अनुसार पुलिस और सरकार सी.पी.आई. (मा.ले.) के राजनीतिक कार्यक्रमों को दबाने के लिए किसी भी हद तक जा सकती है। बालगोपाल लिखते हैं, 'अभी तक पिछले दो वर्षों में वारंगल और करीमनगर जिलों में पुलिस स्टेशनों को शराब की दुकानों में बदले जाने और आटोमेटिक राइफलों से लैस पुलिस वालों के शराब के पैकेटों और केटों पर नजर रखने तथा शराब बेचने के घृणित नजारे देखने को मिलते हैं। ये सब इस बेहूदा स्तर तक पहुंच चुका है कि पुलिस वाले गांवों में जाकर ऐसे गरीब लोगों को ढूंढ़-ढूंढ़कर गालियां देते हैं और पीटते हैं जिन्होंने शराब पीना बंद कर दिया है और जो नक्सलवादी आंदोलन से सहानुभूति रखते हैं' (बालगोपाल, 1992 : 2459)।

प्रसाद ने *फ्रंटलाइन* में लिखा था, 'करीब दो वर्ष पहले, पी.डब्ल्यू.जी., एक नक्सलवादी समूह ने सिंगरैनी इलाके की कोयला खदानों में शराब पर प्रतिबंध लागू करवाया था। इस प्रतिबंध में बेलमपल्ली, और रामागुडम शहर और करीमनगर और वारंगल जिले शामिल थे। पी.डब्ल्यू.जी. ने शराब की दुकानें जलाकर प्रतिबंध लागू करवाया था। एक बार के मालिक को, जिसने अपना धंधा चलाने के लिए पुलिस की मदद ली थी, गोली मार दी गई थी। इस प्रतिबंध का, जो लगभग एक वर्ष तक प्रभावशाली रहा, कोयला खदान मजदूरों और आसपास के जिलों में बसे गरीब लोगों की आमदनी पर जबरदस्त असर पड़ा था। इस वर्ष मई से, जब से पी.डब्ल्यू.जी. की गतिविधियों पर सरकार द्वारा प्रतिबंध लगा दिया गया है, शराब की दुकानें फिर से फल-फूल रही हैं' (प्रसाद, 1992 : 52)।

इसलिए नेल्लोर और आसपास के अन्य जिलों के 1992-93 के दौरान पनपे शराब विरोधी आंदोलन को उसी समय उभरा स्वयंस्फूर्त आंदोलन कहना एक अऐतिहासिक कथन होगा। ऐसा कथन न केवल पूर्व में हुए संघर्षों और दमन को पूरी तरह से नकारता है बल्कि जो सरकार, पुलिस तथा प्रशासन, लगातार शराब विरोधी आंदोलनों को दबाकर शराब के ठेकेदारों को प्रश्रय देती रही है, उसी के एक सरकारी कार्यक्रम को इस आंदोलन का श्रेय देता है। बल्कि सभी साक्ष्यों से यह स्पष्ट होता है कि शराब ने लोगों की जिंदगी में इतनी तबाही मचा दी थी कि इसको लेकर असंतोष पनप ही रहा था। हाल के महीनों और दिनों में भी साक्षरता अभियान से पहले नेल्लोर जिले के गांवों में भी छोटे-छोटे शराब विरोधी संघर्ष हुए थे। इसमें गांव के स्तर पर धरने और पंचायत द्वारा गांव के अंदर शराब आने तथा गांव की दुकान से शराब बिक्री पर रोक संबंधी प्रस्ताव पारित करना भी शामिल है।

1996 में जब यह लेखिका नेल्लोर जिले में गई तब गांवों के दौरों के दौरान औरतों ने साक्षरता कार्यक्रम से पूर्व के अपने गांव स्तरीय संघर्षों को याद किया। डॉ. अंकैय्या रेड्डी, जो नेल्लोर जिले के कनिगिरी मंडल में एक अस्पताल चलाते हैं, उन्होंने लगभग दस वर्ष पहले घटी एक घटना का जिक्र किया। इस घटना के दौरान पहले चरण में एक गांव की औरतों ने इकट्ठे होकर अपने गांव में शराब आने पर रोक लगा दी। गांव के पुरुषों की इस रोक पर प्रतिक्रिया बहुत नकारात्मक और तिरस्कारपूर्ण थी। लेकिन औरतों

द्वारा इस मुद्दे को पंचायत स्तर पर उठाए जाने से पंचायत के ऊपर कुछ फैसला लेने का दबाव बना था। मंडल के निकट के गांव दोबागुंटा के रहने वाले डॉ. रेड्डी का मत था कि आसपास के बहुत से गांवों के इतिहास में इस प्रकार की घटनाएं घटी होंगी लेकिन ये न तो खबर बनती हैं और न ही इनका असर नीतियों पर पड़ता है क्योंकि ये बिखरी हुई होती हैं और इनसे एक सामाजिक और राजनीतिक दबाव नहीं बन पाता।

तो जहां तेलंगाना के जिलों में पिछले करीब दस वर्षों से शराब का मुद्दा एक संगठित संघर्ष का मुद्दा रहा था, वहीं नेल्लोर और अन्य समुद्र तटीय जिलों में यह ग्राम स्तरीय विरोध स्तर तक ही सीमित रहा। किसी भी शराब विरोधी संघर्ष को समझने के लिए तेलंगाना तथा अन्य जिलों के इस इतिहास को नजरअंदाज कर देना सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रिया की गलत समझ पैदा करती है जैसा कि शायद 1992 में नेल्लोर और चित्तूर जिलों में शराब विरोधी आंदोलन के दौरान हुआ। यहां परिकल्पना यह है कि 1992 में शराब का मुद्दा नेल्लोर जिले में एक ज्वलंत समस्या थी जिसके अत्यंत नकारात्मक प्रभाव घरेलू आमदनी और जिंदगी पर पड़ रहे थे। स्थितियां तेलंगाना के इलाके की तरह विस्फोटक थीं और शायद तेलंगाना में हुए दमन के डर और संगठन की अनुपस्थिति के कारण व्यापक आंदोलन का रूप नहीं ले पा रही थीं। ऐसी परिस्थिति में साक्षरता के काम ने खास तौर से इसलिए भी क्योंकि यह नेल्लोर जिलाधीश आधारित काम नहीं था बल्कि इसकी बागडोर राज्य स्तरीय 'भारत ज्ञान विज्ञान जत्था' के हाथ में थी, इस ज्वलंत मुद्दे पर बहस की गुंजाइश पैदा की। वैसे जब गांव के स्तर पर कार्यकर्ता और औरतें इस मुद्दे को उठा ही रही थीं तो भारत ज्ञान विज्ञान समिति के जिले और राज्यस्तरीय नेतृत्व के पास इसे समर्थन देने के अलावा कोई चारा भी नहीं था। मुख्य बात यह है कि किसी जन संगठन की अनुपस्थिति के कारण लोगों ने साक्षरता सुविधाओं के आधारभूत ढांचे का उपयोग आंदोलन को फैलाने और संगठन को सशक्त करने में किया।

शराब का राजनीतिक अर्थशास्त्र

आइए अब हम आंध्र प्रदेश राज्य में शराब के धंधे और इस धंधे को बढ़ावा देने में विभिन्न राजनीतिक दलों की संदिग्ध भूमिका संबंधी चौंकाने वाले कुछ तथ्यों की तरफ ध्यान दें। महिलाओं के प्रतिरोध के कारण शासक कुछ भी कहें, शराब का धंधा शासकों के समर्थन और प्रश्रय से फैल तथा फल-फूल रहा है।

हालांकि, शराब पर प्रतिबंध संविधान के दिशा निर्देशक सिद्धांतों का हिस्सा है लेकिन यह सरकार के लिए राजस्व का भी एक प्रमुख स्रोत रहा है। आंध्र प्रदेश सरकार को भारत में बनी विदेशी शराब पर लगे उत्पादन कर से मिलने वाले राजस्व की मात्रा 1970-71 में 39 करोड़ से बढ़कर 1990-91 में 812 करोड़ हो गई थी। 1991-92 का अनुमानित

राजस्व 839 करोड़ रुपए था। यह जीवन शैली और आदतें बदलने के कारण हुए मासूम परिवर्तनों का परिणाम भर नहीं है वरन राज्य सरकार की तयशुदा नीतिगत निर्णयों का नतीजा है। सरकार की धनी लोगों के ऊपर लगे करों को लेने की अनिच्छा और ग्रामीण धनी लोगों, जिनकी संख्या राज्य में काफी है, पर कर लगाने में बिलकुल अरुचि के कारण राजस्व का एकमात्र प्रमुख स्रोत शराब का उत्पादन और बिक्री बन गया है। और क्योंकि बढ़ता उत्पादन कर, लगभग 60-70 प्रतिशत (लगभग 656 करोड़ रुपए) केवल शराब पर लगे राजस्व से आता है यानी गरीब लोगों के पेय, देशी शराब से, इसलिए सरकारी नीति का अर्थ गरीबों पर कर लगाना ही हो गया है (रेड्डी, 1993 : 1063; बालगोपाल, 1993 : 2457)।

सत्तर के दशक की शुरुआत से बहुत सारे शराब के ठेकेदारों ने चुनावों में पैसा लगाना शुरू कर दिया था। इसलिए शराब की बिक्री से प्राप्त बहुत सारा काला धन चुनावों के दौरान इस्तेमाल होने लगा। इसके एवज में शराब के ठेकेदारों को राजनीतिक संरक्षण मिलने लगा। बहुत जल्दी ऐसी स्थिति बनी जब राजनीतिक सत्ता हासिल करने के लिए शराब ठेकेदारों ने चुनाव लड़ने का निर्णय किया और पैसा कमाने के लिए राजनेताओं ने राजनीति के साथ-साथ लाभप्रद शराब के धंधे में सीधे शामिल होने का फैसला किया।

'और इस तरह सार्वजनिक जीवन की दो विधाओं का मिलन हुआ और आंध्र में राजनीतिज्ञों की एक नई प्रजाति पैदा हुई' (बालगोपाल, 1992 : 2458)। यानी राजनीतिज्ञ शराब के ठेकेदार बने तथा शराब के ठेकेदार नए सफेदपोश राजनीतिज्ञ बने।

आबकारी कर 1991-92 में राज्य के कुल करों का करीब आठ प्रतिशत थे। 'और क्योंकि आबकारी कर (बिक्री कर) शराब के कुल दाम का मात्र एक-तिहाई पर होता है—बाकी शराब ठेकेदारों की जेबों में जाता है—इस प्रकार पिछले वर्ष सरकार द्वारा प्रदेश के सबसे अभावग्रस्त नागरिकों से करीब 2,000 करोड़ रुपए चूस लिए गए' (अन्वेषी, 1993 : 87)। और कांचा इलाहा के अनुसार, 'राज्य को मिलने वाले हर 25 पैसे के साथ-साथ 75 पैसे शराब के ठेकेदारों के पास जाते हैं' (इलाहा, 1992 : 2408)। 'जब करीब 23 प्रतिशत जनसंख्या शराब की आदी है, केवल नेल्लोर जिले में ही पिछले वर्ष 21 करोड़ रुपए की शराब की नीलामी हुई थी और यदि आंदोलन नहीं होता तो इस वर्ष यह रकम बढ़कर 25 से 30 करोड़ रुपए तक पहुंच जाती' (रामनारायण, 1992 : 58)।

शराब के उत्पादन का एकमात्र अधिकृत उत्पादक सरकार है। उत्पादन की कीमत 1992 में करीब एक रुपया प्रति लीटर आती थी। गरीब लोग शराब 45 और 90 मिली लीटर के पालीथीन के थैलियों में खरीदते हैं। 1991-92 में राज्य सरकार ठेकेदारों को शराब 10.50 रुपए लीटर की दर से देती थी और ठेकेदार उपभोक्ता को शराब 50 से 60 रुपए लीटर तक की दर पर बेचता था। यदि पैकिंग, बिक्री कर, परिवहन और गुंडों के गैंग (जिनकी आवश्यकता धंधा चलाने के लिए पड़ती है) का खर्चा आदि शामिल भी कर लिया जाए तो ऐसा लगेगा कि शायद शराब के ठेकेदारों की खास आमदनी नहीं होती

या शायद वे नुकसान में रहते हैं। असल में, ठेकेदारों की प्रमुख आमदनी गैरकानूनी बिक्री और उत्पादन से होती है जिस पर से सरकार नजर फेर लेती है। 'सभी जानते हैं कि शराब के सरकारी आंकड़े सचाई का मजाक भर हैं। स्वाभाविक है कि शराब की खपत इन आंकड़ों से कहीं ज्यादा है और यह, सरकारी शराब के समानांतर, गैरकानूनी ढंग से चल रहे शोधन और पैकिंग से आती है' (रेड्डी, 1993 : 1063)।

सरकार शराब बेचने के अधिकार की नीलामी ऊंचे-ऊंचे दामों पर करने का पूरा प्रयास करती है। इसके एवज में ठेकेदार को मनमानी कीमत पर शराब बेचने की छूट मिलती है। 'एक जिलाधीश जो शराब की नीलामी करवाता था वह बोली लगाने वालों को यह कहकर लालच देता था कि फलां-फलां इलाकों में ग्रामीण विकास, आदिवासी विकास और रोजगार योजनाओं के तहत इतने लाख रुपए वितरित किए जा रहे हैं। इससे ठेकेदारों को बिना जोखिम उठाए बड़ी तादाद में शराब बिकने की गारंटी मिल जाती थी' (बालगोपाल, 1992 : 2458)। एक राजस्व अधिकारी ने यह कहकर रहस्य खोला, 'हम कमजोर वर्गों की विकास गतिविधियों के लिए 50 करोड़ रुपए खर्च करते हैं। हम उनके द्वारा शराब की खरीदी से 62 करोड़ रुपए बनाते हैं' (रामनारायण, 1992 : 58)।

और प्रसाद लिखते हैं, '1978 से डॉ. चेन्ना रेड्डी के पहली बार मुख्यमंत्री बनने के समय से ही प्रदेश में शराब और देसी शराब की दुकानों की संख्या गांवों और शहरों में बढ़ रही है। आज हैदराबाद में 1,000 राशन की दुकानों की तुलना में करीब 700 शराब की दुकानें हैं' (प्रसाद, 1992 : 54)।

महिलाओं के जीवन पर शराब का प्रभाव

शराब का महत्व राज्य में लगातार बढ़ता ही गया। सत्तर और अस्सी के दशक में एन.टी. रामाराव के शासन के दौरान भी (जो 1991-92 के दौरान शराब विरोधी आंदोलन के बहुत खुलकर बोलने वाले समर्थक बने!) और उन सभी कांग्रेस मुख्यमंत्रियों के शासन के दौरान भी जो रामाराव के बाद मुख्यमंत्री बने।

राजसत्ता द्वारा बढ़ावा मिलने के कारण शराब का धंधा तेजी से फैला और साथ ही फैलीं शराब की दुकानें। परंतु 1990-91 के दौरान दुकानों की संख्या कुछ घट गई। यह इसलिए हुआ कि इस दौरान रामाराव शराब बिकवाने के नए तरीके ईजाद करें। यह वह समय था जब शराब के ठेकेदारों ने नए तरीके ईजाद किए और शराब पालीथीन के पैकेटों में बेचनी शुरू कर दी गई और बेचने वालों ने शराब लोगों के घर तक पहुंचाना शुरू कर दिया। औरतों की शिकायतों से यह अंदाज लगता था कि इस प्रकार पीने की बढ़ती हुई आदत से, जिसमें न जगह, न वक्त को लेकर कोई चिंता रह गई थी (दिन रात, कभी भी पीना, बच्चों के सामने पीना), किस प्रकार के नुकसान हो रहे थे।

सरकार द्वारा प्रायोजित शराब बेचने के इन प्रयासों की नीचता और बेहूदगी का अंदाज इसी से लगाया जा सकता है कि रंगा रेड्डी जिले में औरतों को मजदूरी के एवज में शराब के पैकेट दिए जाने लगे थे। कुछ जिलों में पुरुषों को भी मजदूरी शराब के पैकेटों के रूप में दी जाने लगी थी। महबूबनगर जिले में जो बच्चे कपास के खेतों में काम करते थे उन्हें मजदूरी में ताड़ी की एक बोतल भी दी जाती थी ताकि वे चैन की नींद सोकर थकान मिटा सकें (चाहे खाना खाएं या नहीं) और दूसरे दिन आकर फिर से मेहनत से काम कर सकें। महबूबनगर के महिला समाख्या कार्यक्रम के तहत चलने वाले महिला शिक्षण केंद्र में पढ़ने वाली 10 से 16 साल तक की लड़कियों ने यह जानकारी इस लेखिका को 1996 में दी थी। और अन्वेषी की रपट के अनुसार, 'अधिकतम लाभ कमाने हेतु गांव के स्तर पर जोर-जोर से शराब बेचने के परिणामस्वरूप शराब की बाढ़ ने गांव के जीवन के बांध को कई जगह से तोड़ दिया था। केवल एक के बारे में बताएं तो, भूस्वामियों के यहां यह रिवाज रहा है कि वे अपने मजदूरों को मजदूरी में टोकन या कूपन देने लगे थे जिनके बदले वे गांव की दुकानों से शराब प्राप्त कर सकते थे। इस तरह दिन भर की कड़ी मेहनत के बाद परिवार को पैसे नहीं मिलते, मिलता है नशे में धुत एक आदमी' (अन्वेषी, 1993 : 87)।

पतियों द्वारा पत्नियों के साथ बढ़ती मारपीट औरतों के अनेकानेक कष्टों में से एक कष्ट है। बच्चे भूखे रहते और पारिवारिक जीवन अंतहीन गाली-गलौजों और कलह में बदल गया। परिवार और समुदाय का सामाजिक ताना-बाना छिन्न-भिन्न हो गया। महिलाओं के लिए न नींद थी, न शांति। अन्वेषी की रपट में लिखा है कि पिछले वर्षों में बहुत सी औरतें इस हालत में पहुंच गईं कि उन्होंने आत्महत्या कर ली। जीवन के बदतर होते स्तर पर रेड्डी और पटनायक लिखते हैं, 'महिलाओं के कष्ट, एक ऐसी परिस्थिति जिसमें पति-पत्नी घृणा से बोलें, घर के भीतर प्यार और स्नेह का खात्मा, बच्चों की अवहेलना और पीने के बाद के झगड़े और पारिवारिक जिंदगी का नष्ट हो जाना जीवन की गिरती गुणवत्ता के पर्याप्त सामाजिक सूचक हैं' (रेड्डी, 1993 : 1065)।

तो आंध्र प्रदेश और अन्य राज्यों में भी शराब की बढ़ती खपत सरकार की आम जनता के कल्याण की चिंता के मुखौटे की धज्जियां उड़ाता है। शराब के धंधे का फैलना और उसका भद्दा स्वरूप, जिसमें घर-घर तक शराब के पाउच पहुंचाना शामिल है, जहां एक तरफ तो सरकार और शराब ठेकेदारों की मिलीभगत को पुख्ता करती है और दूसरी तरफ राजस्व के लिए धनी लोगों से कर वसूल करने की शासन की प्रतिबद्धता की कमी और राजस्व की कमी को पूरा करने के लिए बेशर्मी से भोजन, पानी, दवाइयों की जगह सूझ-बूझ के साथ शराब पिलाई जा रही है। ऐसी जनविरोधी नीतियों के संदर्भ में सरकारी साक्षरता कार्यक्रम और उसके असर को समझना काफी जटिल भी हो सकता है।

साक्षरता अभियान और शराब विरोधी आंदोलन

नेल्लोर जिले में साक्षरता कार्यक्रम औपचारिक रूप से 2 अक्तूबर 1990 को शुरू हुआ और माहौल बनाने, तैयारी करने जैसे सघन काम के बाद इसे जनवरी 1991 से लागू किया गया (शत्रुघ्ना, 1992)। 1991 की जनगणना के अनुसार, आंध्र प्रदेश की साक्षरता दर 45.11 प्रतिशत थी जबकि राष्ट्रीय औसत 52.11 प्रतिशत थी (राव, एम.एम., 1992)। नेल्लोर जिले की साक्षरता दर 49.06 थी। साक्षरता कार्यक्रम का उद्देश्य नेल्लोर जिले के 9 से 35 वर्ष आयु के 4.5 लाख लोगों को साक्षर करना था। इस जिले में कुछ 45 मंडलों में 2,000 गांव हैं। यह कार्यक्रम सामूहिक रूप से भारत ज्ञान विज्ञान समिति और जिला प्रशासन द्वारा जिला साक्षरता समिति के माध्यम से शुरू किया गया था। साक्षरता कक्षाएं चलाने के लिए तैयारी के दौरान शिक्षक वालंटियरों की पहचान की गई थी। शत्रुघ्ना के अनुसार पूरे जिले के लिए 40,000 शिक्षकों की आवश्यकता थी जबकि लगभग 55,000 वालंटियरों ने साक्षरता की कक्षाएं चलाने की इच्छा जताई थी। महत्वपूर्ण बात यह है कि अधिकतर वालंटियर ग्रामीण इलाकों और पिछड़ी जातियों और भूमिहीन मजदूर वर्ग के थे। इन वालंटियरों को प्रशिक्षण देने वाले स्रोत शिक्षक बहुत सारे सरकारी स्कूलों से लिए गए थे। कम से कम 100 ऐसे स्कूल शिक्षकों को उनकी शालीय जिम्मेदारियों से मुक्त करके जिला साक्षरता समिति में प्रतिनियुक्ति पर लाया गया था ताकि वे प्रशिक्षण और अनुवर्तन (फालो अप) का कार्य कर सकें।

साक्षरता कक्षाओं के लिए प्रवेशिकाओं को बनाने की जिम्मेदारी जिला स्तर पर गठित एक समिति को सौंपी गई थी। प्रवेशिका बनाने की इस समिति में स्कूल और महाविद्यालयीय शिक्षक, भाषा विशेषज्ञ और भारत ज्ञान विज्ञान समिति के प्रतिनिधि भी शामिल थे। पाठ्य पुस्तकों की पांडुलिपियां इस समिति तथा राष्ट्रीय साक्षरता मिशन की आई.पी.सी.एल. समिति द्वारा जांची गई थीं।

साक्षरता की कक्षाएं शुरू होने के चार-पांच महीनों के अंदर ही दिक्कतें शुरू हो गई थीं। जो कहानी उस दौरान अखबारों और अनेकानेक पत्र-पत्रिकाओं में छपी और जिसे बाद में स्थानीय स्तर पर किए गए साक्षात्कारों के दौरान पुख्ता कर लिया गया उसे दोबागुंटा गांव की घटना ही कहा जाता है। कहानी ऐसी ही कानीगिरी मंडल के दोबागुंटा गांव की औरतों ने स्थानीय युवकों द्वारा साक्षरता कक्षा में गड़बड़ करने पर उसका विरोध किया था। शराब की समस्या को लेकर पाठ्य पुस्तक में एक कहानी थी जिसका शीर्षक था 'सीता कथा'। इस कहानी में एक औरत जो अपने पियक्कड़ पति को सुधार नहीं पाती है, वह आत्महत्या कर लेती है। बहुत सी ग्रामीण औरतों ने अपने जीवन को इस कहानी से जोड़कर देखा। उन्हें यह अपनी कहानी लगी। इसका उनके ऊपर बहुत भावनात्मक असर भी हुआ। इस कहानी से प्रभावित होकर और प्रेरणा पाकर दोबागुंटा गांव की औरतों ने संगठित होकर शराब के खिलाफ संघर्ष शुरू कर दिया। इस प्रकार, ये महिलाएं दोबागुंटा

गांव में शराब की आवक पर रोक लगा पाई थीं। 'सीता कथा' किसी वास्तविक घटना पर आधारित नहीं थी। यह कहानी आंध्र महिला सभा ने पाठ्य पुस्तक बनाते वक्त सोची थी। कहानी वास्तविक घटना पर आधारित नहीं होने के बावजूद उस क्षेत्र की सामाजिक वास्तविकता पर आधारित थी, जहां पुरुषों की पीने की आदत, घर में पैसे नहीं देने, पत्नी और बच्चों के साथ मारपीट आदि जैसे माहौल से तंग आकर औरतों ने आत्महत्याएं की हैं। इसके बाद दोबागुंटा की औरतों के द्वारा संगठन बनाने की घटना पर आधारित एक कहानी, 'औरतें संगठित हों तो' शीर्षक से उत्तर-साक्षरता की पुस्तकों में छापी गई। इस उत्तर-साक्षरता की पुस्तक को भी दिल्ली की आई.पी.सी.एल. समिति ने स्वीकृति दे दी थी। जब तक उत्तर-साक्षरता की पुस्तकें छपी थीं शराब विरोधी आंदोलन नेल्लोर, चित्तूर और कुरनूल जिलों के कई गांवों तक फैल चुका था।

साक्षरता की कक्षाएं कुछ महीनों के बाद बंद कर दी गई थीं। साक्षरता कक्षाएं चलाने वाले वालंटियर शिक्षकों और भारत ज्ञान विज्ञान समिति के कार्यकर्ताओं ने शराब विरोधी आंदोलन में सक्रियता से भाग लिया था। साक्षरता के ढांचों और मानव स्रोतों यानी वालंटियरों और साक्षरता कक्षाओं के लिए चुने गए स्थलों ने आंदोलन के विषय में चर्चा करने और जानकारी फैलाने में मदद की जिससे आंदोलन का प्रसार हुआ। इस प्रकार एक बार जब आंदोलन का प्रसार हुआ तो साक्षरता का मुद्दा पीछे रह गया। साक्षरता की कक्षाओं के लिए आने वाली महिलाएं इकट्ठी साक्षरता के नाम पर होती थीं परंतु मौका पाते ही शराब की समस्या की चर्चा शुरू कर देती थी और इस प्रकार यह मुद्दा आंदोलनात्मक रुख लेता जाता था। अपनी सबसे बुनियादी समस्या से जूझना महिलाओं के लिए पहली प्राथमिकता थी। भारत ज्ञान विज्ञान समिति के सदस्यों का भी यही कहना था कि आंदोलन शुरू होने से साक्षरता का काम पिछड़ गया था।

भारत ज्ञान विज्ञान समिति के नेल्लोर और हैदराबाद स्तर के कार्यकर्ताओं के लिए यह निर्विवाद सत्य था जिसे उन्हें स्वीकार करना था। गांव के स्तर के वालंटियर और औरतें आंदोलन में सबसे आगे थीं। उनकी यह मांग थी कि जो लोग साक्षरता का काम करने आए हैं वे इस आंदोलन में जुड़ें, आंदोलन का साथ दें। उन दिनों सफलता और प्रसार की जो चर्चाएं होतीं या छपती थीं वे साक्षरता की सफलता की नहीं बल्कि आंदोलन के प्रसार की सफलता की बातें होती थीं। बहुत सी ग्रामीण औरतों, वालंटियरों और भारत ज्ञान विज्ञान समिति के कार्यकर्ताओं से लिए गए साक्षात्कारों से यह साफ उभरता है कि उन अति कष्टदायक परिस्थितियों में वे महिलाएं शायद पहले साक्षरता के नाम पर इकट्ठी हुईं लेकिन उन्होंने शराब की समस्या और उभरते हुए शराब विरोधी आंदोलन पर चर्चा की और इस प्रकार आंदोलन में भिड़ गईं।

राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय साक्षरता मिशन की कार्यकारिणी के लोगों ने इस आंदोलन को साक्षरता कार्यक्रम का परिणाम माना और सभी लोग इस सफलता (महिलाओं के सशक्तीकरण) से अत्यंत प्रसन्न और प्रभावित थे। प्रगतिशील और गरीब औरतों के पक्ष

में होने का एक तमगा साक्षरता मिशन ने अपने आपको दे डाला था। राष्ट्रीय स्तर पर सब साक्षरता वाले एक-दूसरे की पीठ ठोंक रहे थे। शराब आंदोलन आंध्र प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री के लिए मुसीबत बनता जा रहा था। तब राज्य सरकार ने दो स्तरों पर कार्रवाई की। एक स्तर पर तो उसने साक्षरता प्रवेशिकाओं और उत्तर-साक्षरता पुस्तकों पर अपनी नाराजगी जाहिर की और उत्तर-साक्षरता की सारी पुस्तकों को अपने कब्जे में करके उनका वितरण रुकवा दिया और दूसरे, गांव के स्तर पर गरीब आंदोलनकारी औरतों पर पुलिस दमन शुरू किया।

नेल्लोर जिले में हमारे दौरे के दौरान हमें भारत ज्ञान विज्ञान समिति के कार्यकर्ताओं ने बताया कि हालांकि शराब विरोधी आंदोलन एक स्वयंस्फूर्त आंदोलन था। उसके माध्यम से जनता ने, खास तौर से महिलाओं ने, अपनी ज्वलंत समस्याओं को अभिव्यक्ति दी। लेकिन इससे राष्ट्रीय साक्षरता मिशन का मुख्य उद्देश्य पढ़ाई-लिखाई और साक्षरता का काम खत्म हो गया। हालांकि भारत ज्ञान विज्ञान समिति के लिए यह प्रमुख एजेंडा था लेकिन संघर्षशील औरतों के लिए उस दौरान साक्षरता एक गौण मुद्दा था। उन्हीं दिनों यानी 1993 में नेल्लोर संपूर्ण साक्षरता कार्यक्रम का मूल्यांकन हैदराबाद विश्वविद्यालय के बाहरी परीक्षकों के एक दल द्वारा करवाया गया। उनकी जांच के परिणामों के अनुसार नेल्लोर जिले की साक्षरता उपलब्धियां 'सी' ग्रेड की थीं और साक्षरता दर मात्र 34 प्रतिशत थी। सक्रिय कार्यकर्ताओं के अनुसार आंदोलन राज्य सरकार की नीतियों के विरोध में था और साक्षरता कार्यक्रम केंद्रीय सरकार का कार्यक्रम था। शायद वे राज्य और केंद्रीय सरकार के बीच के विरोधाभास की ओर इशारा कर रहे थे और बता रहे थे कि आंदोलनकारियों को इस विरोधाभास का फायदा मिल गया था। फिर भी आंदोलन को लंबे समय तक चलाया न जा सका और सरकार ने क्रूर दमन से इसे तोड़ने का प्रयास किया। राज्य सरकार की प्रतिक्रिया बहुत तीखी थी।

राज्य सरकार द्वारा उठाए गए कुछ दमनकारी कदम इस प्रकार थे :

(1) उत्तर-साक्षरता की सारी पुस्तकें जब्त करके उन पर प्रतिबंध सा लगा दिया गया और पुस्तकों का वितरण रोक दिया गया था। यह प्रतिबंध चार साल बाद हटाया गया हालांकि जब तक राज्य सरकार जागी और पुस्तकों का वितरण रोका तब तक करीब 6,000 प्रतियां बांटी जा चुकी थीं। इस प्रतिबंध के खिलाफ कुछ शोधकर्ताओं, पत्रकारों और राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा संस्थान की फैकल्टी ने राष्ट्रीय साक्षरता मिशन की कार्यकारिणी की बैठक में आवाज उठाई। उन्होंने राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के सदस्यों से पूछा कि जिस उत्तर-साक्षरता की पुस्तिका को केंद्र सरकार की आई.पी.सी.एल. की समिति से स्वीकृति मिली हुई है राज्य सरकार उस पर प्रतिबंध कैसे लगा सकती है? परंतु राष्ट्रीय साक्षरता मिशन की समिति ने राज्य सरकार के दमनात्मक रवैए के खिलाफ मुंह खोलने की जरूरत नहीं समझी हालांकि यह समिति कुछ दिन पहले ही नेल्लोर के शराब विरोधी आंदोलन को साक्षरता की सफलता मानकर पूरा श्रेय साक्षरता कार्यक्रम को दे रही थी। इस केंद्रीय समिति की निष्क्रियता से

राज्य सरकार को कार्यक्रम के प्रति कुछ भी करने की छूट मिल गई।

(2) भारत ज्ञान विज्ञान समिति के कार्यकर्ताओं ने बताया कि जिला साक्षरता समिति में प्रतिनियुक्ति पर आए अधिकतर शिक्षकों को समयावधि खत्म होने के पहले ही वापस स्कूलों में भेज दिया गया और कुछ शिक्षकों को शराब आंदोलन में शामिल होने के कारण निलंबित कर दिया गया। जिलाधीश के एक आदेश में शिक्षकों को चेतावदी दी गई थी कि शराब विरोधी आंदोलन एक सरकार विरोधी गतिविधि है। जो लोग इसमें भाग लेंगे उनको बख्शा नहीं जाएगा। शिक्षकों को यह भी चेतावनी दी गई कि वे पदयात्राओं में भाग लेना बंद करें।

शिक्षकों को दिए गए ये आदेश महत्वपूर्ण दस्तावेज होंगे जिनके कारण नेल्लोर जिले में साक्षरता कार्यक्रम खत्म जैसा ही हो गया था। परंतु बहुत प्रयास करने के बावजूद इस आदेश की प्रतिलिपि प्राप्त नहीं हुई। इस आदेश के मिलने के बाद भारत ज्ञान विज्ञान समिति के कार्यकर्ता दुविधा में पड़ गए थे। एक तरफ तो संघर्षरत ग्रामीण महिलाएं थीं जो ये उम्मीद रखती थीं कि भारत ज्ञान विज्ञान समिति के कार्यकर्ता उनको पूरा समर्थन देंगे और दूसरी तरफ सरकार इन्हीं कार्यकर्ताओं के ऊपर समर्थन न देने का दबाव बना रही थी। कुछ अत्यंत प्रेरित और प्रतिबद्ध कार्यकर्ताओं ने इसका हल ढूंढ़ निकाला था। उन्होंने अपना नाम बदलकर आंदोलन को समर्थन दिया। इस संबंध में एक अत्यंत सटीक टिप्पणी भारत ज्ञान विज्ञान समिति के एक युवा कार्यकर्ता ने की थी। उसने कहा था कि सबसे वास्तविक डर गरीब औरतों से और उनके जुझारूपन से था जिन्हें सरकार पेन से लिखे एक आदेश से वापस नहीं भेज सकती थी।

इस संदर्भ में *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली* में छपी एक टिप्पणी पढ़ने योग्य है :

> क्योंकि शराब विरोधी आंदोलन राज्य में तेजी से फैल रहा था, इसलिए जिलाधीशों की एक गोष्ठी को संबोधित करते हुए 26 नवंबर को मुख्य मंत्री कोटला विजय भास्कर रेड्डी ने इस बात पर अपना 'गुस्सा' जाहिर किया था कि कुछ जिलाधीशों ने साक्षरता कार्यक्रम लागू करते हुए पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से पढ़ने वालों में सरकार विरोधी भावनाएं भड़काई हैं। इस तरह की गलती करने वाले कलक्टरों की करतूत को गंभीरता से लेते हुए उन्होंने जिलाधीशों को भविष्य में सतर्क रहने की चेतावनी दी (शत्रुघ्न, 1992 : 2584)।

(3) नेल्लोर जिले का जिस दलित जिलाधीश ने साक्षरता कार्यक्रम में विशेष रुचि ली थी, उसका 1992 में स्थानांतरण कर दिया गया। यह कहा जाता है कि इस जिलाधीश का तबादला शराब के ठेकेदारों के दबाव के कारण किया गया क्योंकि जिलाधीश स्वयं पिछड़ी जाति का था और इस आंदोलन के प्रति उसका रुख सहानुभूतिपूर्ण था और इसीलिए नीलामी नहीं करवा पा रहा था। इसके सेवा काल में नीलामी 32 बार स्थगित हो चुकी थी (अन्वेषी, 1993 : 88)।

(4) जिलाधीश को यह चेतावनी भी दी गई कि भारत ज्ञान विज्ञान समिति के 'समाज-विरोधी' तत्वों को पाठ्य पुस्तकें बनाने और प्रकाशित नहीं करने दी जाएं। इसके पश्चात प्रकाशन से पहले पाठ्य पुस्तक की सारी सामग्री राज्य स्रोत केंद्र द्वारा बारीकी से जांची जाने लगी थी।

(5) उन औरतों को जो नीलामी रुकवाने में सफल हो जाती थीं। मारने-पीटने और धरने और पिकेटिंग को रोकने के लिए जिला प्रशासन ने पुलिस बल का उपयोग किया। इसके अलावा औरतों का नैतिक बल तोड़ने के लिए प्रशासन ने छिपे हुए तरीके इस्तेमाल किए जैसे बहुत से गांवों में यह अफवाह फैलाई गई कि यदि औरतें शराब की बिक्री रुकवाएंगी तो राशन के चावल के दाम तुरंत बढ़ जाएंगे। शराब के बड़े ठेकेदारों ने भी अपने गुंडों के माध्यम से यह अफवाह फैलाई कि जिन गांवों में औरतें शराब की बिक्री रुकवा पाएंगी उन गांवों में राशन के चावल भेजा जाना बंद कर दिया जाएगा।

और अंत में : हालांकि राष्ट्रीय साक्षरता मिशन से संबंधित अधिकारी वर्ग, पत्रकार और विभिन्न बुद्धिजीवियों के लिए नेल्लोर जैसे उदाहरण अपनी प्रगतिशील छवि को निखारने का (साक्षरता से औरतों का सशक्तीकरण हो गया!) जरिया बन गया था लेकिन वास्तविकता यह है कि सरकार ऐसे उमड़ाव के लिए तैयार नहीं थी। बावजूद प्रगतिशील और जनता के सशक्तीकरण जैसी नारेबाजी के ऐसा कुछ होगा इसकी कल्पना सरकार को नहीं थी। एक तरह से आम जन राजसत्ता से आगे निकल गए थे। साक्षरता से ऐसे परिणाम हो सकते हैं सरकार की न तो इसकी कल्पना थी, न ही उसकी यह मंशा थी। वैसे भी इस उमड़ाव का पूरा श्रेय साक्षरता को देना गलत है। साक्षरता कार्यक्रम एक सरकारी कार्यक्रम है जो सरकार की विश्वसनीयता के अपने संकट के कारण बना तथा आम जनता पर ऊपर से लादा गया जबकि शराब विरोधी आंदोलन जमीन से जुड़ा, नीचे से उभरा आंदोलन था। इस कार्यक्रम के कई जनविरोधी पक्ष हैं जिन पर कोई समझौता राष्ट्रीय साक्षरता मिशन नहीं करता और वही ऐसे कार्यक्रमों के असली रूप होते हैं। हालांकि शिक्षा का जनविरोधी पक्ष ज्यादा गहराई से जूझने पर ही समझ में आता है क्योंकि उसका उद्देश्य मानस बनाना होता है। इस मुद्दे में विस्तार से चर्चा की गुंजाइश यहां नहीं है इसलिए इसको फिलहाल यहीं छोड़ते हैं।

इस विश्लेषण के बावजूद इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मंशा चाहे कुछ भी रही हो, उद्देश्य चाहे जो भी हों, साक्षरता कार्यक्रम के नेल्लोर जिले में आने से और उसमें भारत ज्ञान विज्ञान समिति के लोगों, खास तौर से मंडल स्तरीय प्रतिबद्ध कार्यकर्ताओं और ग्रामीण स्तरीय वालंटियरों के जुड़ने के कारण शराब के आतंक से उत्पीड़ित महिलाओं को संगठित होने और अपने कष्ट ज्यादा महिलाओं के साथ बांटने का मंच और मौका मिला। इस कार्यक्रम के कारण साक्षरता कक्षाओं के बहाने औरतें समूहों में किसी के घर, पेड़ों के नीचे या माहौल निर्माण के दौरान शाला भवनों में इकट्ठी हुईं।

किसी भी राजनीतिक संगठन और आंदोलन के बनने के लिए इकट्ठे होना, मिलना और चर्चा करना जरूरी परिस्थिति होती है। इसके लिए प्रयास करना राजनीतिक कार्यकर्ताओं का नए क्षेत्र में जाने पर पहला महत्वपूर्ण कदम होता है। अनजाने में यह मौका और जगह गांवों के युवाओं और प्रौढ़ों को साक्षरता कार्यक्रम ने उपलब्ध करवाई। इसी के साथ ग्रामीण स्तरीय वालंटियरों की महत्वपूर्ण भूमिका को भी पहचानना जरूरी है। राजसत्ता भी इसी मानव स्रोत के द्वारा विकास, जनसंख्या नियंत्रण, पर्यावरण सुरक्षा...जैसे संदेश घर-घर पहुंचाना चाहती थी। परंतु इन कार्यकर्ताओं की अपनी वास्तविकता, जिसमें उन्होंने शराब के द्वारा होने वाली तबाही को न केवल देखा बल्कि भोगा भी है, ने इन्हें ज्यादा संवेदनशील और राजनीतिक रूप से जागरूक बना दिया था। जरा सा मौका मिलते ही ये साक्षरता के सतही संदेशों के पार देख पाने में सक्षम थे।

यह समझना भी जरूरी है कि दोबागुंटा गांव की एक छोटी सी घटना कैसे कुछ महीनों की अल्पावधि में ही उत्तर-साक्षरता की पुस्तकों का हिस्सा बन गई। यह पहचानना और समझना महत्वपूर्ण है कि सामाजिक संदर्भ किस प्रकार पुस्तकों की विषयवस्तु को भी प्रभावित करता है। हर सामाजिक परिस्थिति में राजसत्ता की ऊपर से लादी हुई मंशाओं और उद्देश्यों तथा आम जनता की आकांक्षाओं और उम्मीदों के बीच संघर्ष की स्थिति बनती ही है। लेकिन इस संघर्ष में जनता का पक्ष उभरने की संभावना उस क्षेत्र में जन संगठन बनने के इतिहास और उत्पीड़न के मुद्दों की तीव्रता पर निर्भर करता है। साक्षरता जैसे कार्यक्रम के विविध अनुभव इस परिकल्पना की पुष्टि करते हैं कि ऐसे कार्यक्रमों पर जन प्रत्युत्तर सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों से निर्देशित होगा। इस पर भी विस्तृत चर्चा यहां नहीं हो सकती। खैर, दोबागुंटा कहानी का उत्तर-साक्षरता की पुस्तकों का हिस्सा बनना, पीड़ितों, वालंटियरों, पुस्तक लिखने वालों की जागरूकता का परिचायक है। ये सभी लोग उसी समाज के हिस्से हैं जहां शराब पहले से ही अभावग्रस्त और मेहनतकश लोगों की जिंदगी, खास तौर से महिलाओं की जिंदगी को विनाश के कगार पर पहुंचा रही है। कानीगिरी मंडल के डॉक्टर अंकिया रेड्डी के अनुसार दोबागुंटा गांव में शराब की बिक्री रुकवाने की शुरुआत एक विधवा महिला रोजम्मा ने की थी। रोजम्मा साक्षरता कक्षा की विद्यार्थी नहीं थी, लेकिन शराब के विनाशकारी असर की भुक्तभोगी थी। उसका पति पियक्कड़ था और अधिक शराब पीने के कारण लिवर की खतरनाक बीमारी सिरोसिस से मरा था। और इसके बाद दोबागुंटा की कहानी का उत्तर-साक्षरता की पुस्तकों में आना प्रवेशिका बनाने के लिए जिला स्तर पर गठित समिति का सोचा-समझा फैसला था। इन्होंने इस कहानी को बहुत चर्चा तथा बहस के बाद शामिल किया था। इस अनुभव से यह समझना भी जरूरी है कि राजसत्ता क्यों पाठ्य पुस्तकों के बनने की प्रक्रिया के विकेंद्रीकरण से घबराती है। आजकल तो कारण सांप्रदायिकता का दिया जाता है लेकिन असली डर शायद राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय नेताओं की जीवनियों के स्थान पर दोबागुंटा जैसी अनेक कहानियों का पाठ्य पुस्तकों में आ जाने का है।

नेल्लोर के साक्षरता कार्यक्रम का एक अन्य फायदा यह हुआ कि बहुत से विद्यार्थी जिन्होंने शिक्षक वालंटियरों के रूप में काम किया था वे गांवों में पहुंचे और उन्होंने शराब से मचो तबाही और गरीबी की हद अपनी आंखों से देखी। इस अनुभव और अन्य बहुत से लोगों के अनुभव से यह स्पष्ट है कि गरीब पढ़े-लिखे या अनपढ़, देश के दूरदराज के गांवों में रहने वाले लोग, जिनके पास सूचनाओं के पहुंचने तक की सुविधा नहीं होती, ऐसे मौकों का स्वागत करते हैं और अधिकतम लाभ उठाने का प्रयास भी करते हैं। हालांकि जैसे ऊपर कहा है, हर जगह पहचाना हुआ ज्वलंत मुद्दा जिसने बड़ी संख्या में लोगों को प्रभावित किया हो वह आसानी से पकड़ में नहीं आता। और यदि क्षेत्र विशेष में संगठित राजनीतिक आंदोलन का थोड़ा बहुत भी इतिहास न हो तो आम तौर पर ऐसे मौके हाथ से निकल जाते हैं और राजसत्ता सफलतापूर्वक अपना एजेंडा लागू कर देती है। ऐसी परिस्थिति में ज्यादा से ज्यादा एक निष्क्रिय प्रतिरोध होता है जिसके तहत या तो बच्चे स्कूल छोड़ देते हैं या बड़े लोग शैक्षणिक कार्यक्रमों की अवहेलना करने लगते हैं। नेल्लोर में इन सब मामलों में थोड़ा फर्क था। वहां पूरे जिले के स्तर पर एक ज्वलंत समस्या थी जो उनके जीवन को, खास तौर से औरतों और बच्चों के जीवन को और गरीब लोगों की सामाजिक और पारिवारिक जिंदगी को तबाह कर रही थी। और इतना ही महत्वपूर्ण है उस क्षेत्र में शराब के विरोध में आसपास के जिलों में हुए जन संघर्षों का इतिहास। नेल्लोर में हमें बताया गया कि छोटे-छोटे बच्चों द्वारा पोलीथीन की खाली थैलियों में पानी भरकर पतली शराब पीने की आदत पड़ते देखकर औरतें अत्यंत चिंतित और भयभीत हो गई थीं।

दंड मुक्ति के माहौल में आंध्र प्रदेश में जिस बेशर्मी से शराब को बढ़ावा दिया जा रहा था, उसने बहुत से लोगों को एक सदमे की स्थिति में पहुंचा दिया था। राजसत्ता के शराब व्यापारियों, ठेकेदारों और गुंडों को दिए जा रहे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समर्थन ने एक प्रकार से असहाय होने का अहसास भी पैदा किया था। ऐसे में, पीड़ितों द्वारा वह भी दीन-हीन और गरीब कमबख्त महिलाओं द्वारा यह शुरुआत वास्तव में सामाजिक और राजनीतिक कार्यकर्ताओं के लिए भी शराब के दुश्चक्र को तोड़ने वाला एक जबरदस्त कर्म था। लेकिन इसने एक भ्रम भी पैदा किया। यह शायद हर स्वयंस्फूर्त आंदोलनों की नियति भी है क्योंकि साफ दिखते हुए भी इसमें राजसत्ता के जनविरोधी चरित्र को या तो भुला दिया जाता है या उस पर सीधा कोई प्रहार नहीं होता। भ्रम यह हो जाता है कि शायद राजसत्ता पर प्रहार किए बिना राजसत्ता द्वारा सोचते-समझते हुए पैदा की गई शराब जैसी समस्या से 'शांतिपूर्वक' जूझा जा सकता है। यानी सी.पी.आई. (मा.ले.) समूहों द्वारा अपनाई हिंसक नीतियों जैसे शराब ठेकेदारों, व्यापारियों और गुंडों को धमकियां देना आदि बातों के बिना निहित स्वार्थ मानवीय मूल्यों की दुहाई सुन लेंगे। राजसत्ता शायद यहीं विजयी हो जाती है।

और अंत में...इस जोरदार जन उमड़ाव के कारण 1991 में आंध्र प्रदेश में शराब पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। यहां से प्रेरणा लेकर हरियाणा में भी शराब पर प्रतिबंध लगाने की मांग के साथ शराब विरोधी आंदोलन उमड़ा और तीव्र हुआ। नेल्लोर में गांव के स्तर

पर औरतों ने जमीन, रोजगार, समान मजदूरी, न्यूनतम मजदूरी जैसी मांगों को उठाया था जैसा कि वेंकटाचलम मंडल के सल्ला गांव की औरतों ने किया था। इसके साथ ही नए जिलाधीश, सांबासिवा राव (जिस जिलाधीश का तबादला किया गया था उसका भी यही नाम था) के द्वारा गांव के स्तर पर महिलाओं के लिए लघु ऋण और लाभ सोसाइटियों की शुरुआत कर दी गई थी। यही जिलाधीश, बाद में मुख्यमंत्री के बहुप्रचारित कार्यक्रम 'सरकार आपके द्वार' का जन्मदाता बना था। गांव के स्तर पर बनी ऋण और लाभ सोसाइटियों ने महिला समूहों का अराजनीतिकरण करने की भूमिका अदा की। ग्राम स्तरीय अभाव की परिस्थितियों में लघु ऋण और लाभ जैसे समूहों का बनना और महिलाओं के हाथ में थोड़ा धन आना, खास तौर से वह पैसा जो शायद पहले शराब में बरबाद होता था, सोसाइटियों के धन आदि से बाहर के समाज के संपर्क में आना आदि जरूर सकारात्मक कदम हैं। परंतु ऐसे समूहों का बिना सामाजिक परिवर्तन जैसे राजनीतिक दृष्टिकोण को पुख्ता किए, मात्र आर्थिक गतिविधि के रूप में चलाना आपसी शक-शुबहा और मनमुटाव को ही जन्म देता है और सामूहिक भावना और शक्ति को तोड़ता है। पर क्या यही उद्देश्य नहीं था? इससे पहले कि कोई राजनीतिक समूह आकर बुनियादी मुद्दों को इन जुझारू महिला समूहों में उठा दे क्या राजसत्ता के लिए यह जरूरी नहीं था कि शराब विरोधी आंदोलन की जुझारू महिलाओं की एकता पर बिना हिंसा के चोट की जाए?

इन ऋण और लाभ सोसाइटियों में इकट्ठा हुआ पैसा कम ही होता था। कम से कम सभी महिलाओं की जरूरत के अनुरूप सबको एक साथ ऋण मिलना संभव नहीं था। इसलिए आपसी झगड़े शुरू हुए, पक्षपात के आरोप लगने शुरू हुए। समूहों के नेतृत्व में अपना काफी वक्त, इस उम्मीद में कि शायद उन्हें विशेष मदद या सहयोग या नौकरी मिल जाए, मंडल मुख्यालयों में अधिकारियों की नजर में रहने तथा उन्हें खुश करने में बिताना शुरू कर दिया। इन नए उभरते आयामों के प्रति गहरी चिंता भारत ज्ञान विज्ञान के जमीनी कार्यकर्ताओं और जिला नेतृत्व द्वारा जाहिर की गई थी। मुद्दा वास्तव में मात्र इतना नहीं है कि सोसाइटियां ठीक से चल रही हैं या नहीं। मुद्दा यह भी है कि ऐसी सोसाइटियां भी समता के लिए राजनीतिक संघर्ष का हिस्सा बनाकर ही चलाई जा सकती हैं जिसकी संभावना यहां थी। परंतु ऐसा नहीं हुआ। जो हुआ वह था सामाजिक और राजनीतिक रूप से सक्रिय, जागरूक और जुझारू महिलाओं को पैसों के लिए आपस में भिड़ा देना। इसी को अराजनीतीकरण कहा गया है। ऐसी महिलाओं का अराजनीतीकरण ने एक वर्ष से राजसत्ता को हिलाकर रखा था। 1996 में आंध्र प्रदेश सरकार ने राजस्व में होने वाले नुकसान का हवाला देकर शराब पर से प्रतिबंध हटा लिया था। जाहिर है कि दबाव व्यापारियों, गुंडों, राजनेताओं और शराब ठेकेदारों का भी रहा होगा जिनकी पहचान कम से कम आंध्र प्रदेश में गड्ड-मड्ड हो चुकी है। और ऋण तथा लाभ सोसाइटियों ने शायद अपना काम बखूबी से कर दिया था। इस बार प्रतिबंध हटने के बाद कुछ छोटे-मोटे धरने आदि हुए लेकिन विरोध के 1994 वाले तेवर फिर नहीं उभरे।

8. राजस्थान महिला विकास कार्यक्रम

राजस्थान में 1984 में शुरू हुआ महिला विकास कार्यक्रम आम तौर पर डब्ल्यू.डी.पी. (वीमेंस डेवलपमेंट प्रोग्राम) के नाम से जाना जाता है। स्वतंत्रता के बाद, छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) में पहली बार एक अध्याय महिला और विकास के मुद्दे पर था। इस अध्याय के अनुसार, 'महिलाओं की आर्थिक और सामाजिक स्थिति में परिवर्तन मूलतः देश के मौजूदा सामाजिक ढांचे, मूल्यों और दृष्टिकोणों में परिवर्तन पर निर्भर करेगा' (नेशनल, 1996 : 2)। यह महसूस किया गया कि महिलाओं की भागीदारी नहीं होने के कारण बहुत सारी सरकारी योजनाएं प्रभावी नहीं हो पाती हैं। खास तौर से स्वास्थ्य, शिक्षा, बाल और महिला कल्याण योजनाओं में महिलाओं की भागीदारी को अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया। इसके अलावा यह भी माना गया कि सामाजिक वानिकी, पशुपालन और ग्रामीण स्वच्छता जैसे कार्यक्रमों में समुदाय की भागीदारी बढ़ाने के लिए महिलाओं की भागीदारी मददगार होगी। इस संदर्भ में महिला विकास कार्यक्रम के सरकार द्वारा तैयार किए गए प्रस्ताव (1984) में लिखा है कि, 'यह प्रस्ताव महिला विकास नीति को व्यावहारिक रूप देने के लिए तैयार किया गया है। इस प्रस्ताव को तैयार करते समय इस बात पर विशेष ध्यान रखा गया है कि पहुंच के तरीकों की कमी के कारण अधिकतर सरकारी योजनाओं का लाभ महिलाओं को नहीं मिल पाता है और इसलिए गांव की महिलाओं की सक्रिय भागीदारी के आधार पर लचीले और व्यापक ढांचे खड़े करके यह कर पाना संभव है' (नेशनल, 1996 : 3)। यह भी स्पष्ट था कि महिला विकास कार्यक्रम का उद्देश्य *सरकारी योजनाओं को लागू करने की जिम्मेदारी उठा लेना नहीं था बल्कि महिलाओं, खास तौर से पिछड़े समुदायों की महिलाओं की भागीदारी बढ़ाना था।* इस प्रकार, पिछड़ी महिलाओं की स्थिति सुधारने के लिए नीतिगत निर्णय के अनुसार यह कहा गया कि महिला विकास कार्यक्रम के व्यापक उद्देश्यों में महिलाओं के प्रति करुणा और कल्याण के रवैए की जगह उनको परिवार में पुरुषों के साथ, सामाजिक परिस्थितियों, आर्थिक गतिविधियों, शिक्षा और संस्कृति में समान रूप से भागीदार माना गया है। संक्षेप में, 'महिला विकास कार्यक्रम के मूल में है सूचना, शिक्षा और प्रशिक्षण के द्वारा महिलाओं का सशक्तीकरण। इससे उन्हें अपनी सामाजिक और आर्थिक हैसियत को पहचानने और सुधारने में मदद मिलेगी' (नेशनल, 1996 : 3)।

महिला विकास कार्यक्रम में तीन तरह के योगदानों का समाविष्ट होना देखा गया

था। 'एक ऐसा ढांचा जिसमें मजबूती हो और जिसकी जड़ में मैदानी कार्य के लिए *स्वेच्छा की भावना होगी, सरकारी स्थायित्व और सुरक्षा होगी, और शोधकर्ताओं की आलोचनाओं की लगातार समाविष्टि होगी*' (सहेली, 1991 : 1)।

इस कार्यक्रम का उद्देश्य राजस्थान की आर्थिक और सामाजिक रूप से पिछड़ी, अभावग्रस्त और उत्पीड़ित महिलाओं तक पहुंचना और उन्हें सशक्त करना था। इसके लिए महिलाओं को सशक्तीकरण की प्रक्रिया के द्वारा विकास की मुख्यधारा में लाने की योजना बनाई गई थी। गांव के स्तर पर सामाजिक परिवर्तन के अभिकर्ता (एजेंट) के लिए मैदानी कार्यकर्ता के रूप में गांव की महिला को लेने की योजना बनाई गई जिसे 'साथिन' नाम दिया गया। कार्यक्रम की शुरुआत में यह कहा गया था कि साथिनों का चुनाव राजस्थान के उन गांवों और गांवों में उन समुदायों से किया जाएगा जो सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े हुए हैं। यह माना गया था कि खास तौर से अनुसूचित जातियों और जनजातियों की महिलाएं इस भूमिका के लिए सबसे उपयुक्त होंगी और इसलिए उनको ज्यादा महत्व दिया गया। यह माना गया कि इस पृष्ठभूमि की महिलाओं की पिछड़े क्षेत्रों और समुदायों तक पहुंच आसान होगी और इन समुदायों में इन्हें आसानी से स्वीकारा भी जाएगा। यह चिंता कार्यक्रम की कल्पना करने वालों को इसलिए थी क्योंकि उनके अनुसार कार्यक्रम का मुख्य फोकस यही पिछड़े हुए समुदायों की महिलाएं हैं।

महिला विकास कार्यक्रम के विषय में आगे जानकारी और विरोधाभासों पर चर्चा करने से पहले एक जरूरी बात पर यहां ध्यान आकर्षित करना मौजूं होगा। जैसा कि शुरू के अध्यायों में कहने की कोशिश की गई है, यहां भी ध्यान देने की बात यह है कि अस्सी के दशक से राजसत्ता का ध्यान विकास से हटकर चेतना जागरण और फिर सशक्तीकरण पर गया। स्वतंत्रता बाद के दो दशकों में यह साफ हो गया था कि 'विकास' का लाभ उत्पीड़ित और पिछड़े वर्गों तक नहीं पहुंच रहा है। ऊपरी वर्गों और जातियों के द्वारा सत्ता की ताकत से स्रोतों के दुरुपयोग और उनका अभावग्रस्त आम जनों तक नहीं पहुंचने संबंधित ढेरों तथ्य प्रकाश में आ चुके थे। ऐसी परिस्थिति में राजसत्ता द्वारा प्रतिबद्धता के साथ पिछड़े वर्गों तक स्रोतों की उपलब्धि करवाने के बजाए मात्र सशक्तीकरण जैसी बातें सरकारी कार्यक्रमों के माध्यम से करना राजसत्ता की नीतियों में वास्तव में एक बुनियादी और सोचा-समझा परिवर्तन था जिसने प्रगतिशील लोगों को खूब छकाया। 'विकास किसके लिए?' (डेवलपमेंट फार हूम?) में इस परिस्थिति पर एक सटीक टिप्पणी की गई है : 'कल्याणकारी राज्य के रूप में देश की पूरी जनता (दलितों और महिलाओं समेत) के विकास के लिए स्रोत उपलब्ध करवाना सरकार की जिम्मेदारी है। लेकिन सरकार, विशेषकर औरतों के संदर्भ में, विकास को पुनर्परिभाषित करने और स्रोत उपलब्ध करवाने वाली नीतियां बनाने के बजाए जागरूकता पैदा करने, संगठित होने, सशक्तीकरण करने पर जोर दे रही है, यानी विकास के बजाए संघर्ष। महिला विकास के संदर्भ में इस परिवर्तन से एक अद्‌भुत परिस्थिति निर्मित हो गई है जिसमें संघर्ष स्थापित ताकतों के खिलाफ

(राजसत्ता के खिलाफ भी) राजसत्ता के समर्थन और कार्यक्रमों के माध्यम से करने की बात हो रही है—आखिर नया लक्ष्य क्या है?' (सहेली, 1991 : 24)।

क्या राजसत्ता की नीतियों और शब्दावली में अस्सी के दशक में आया यह परिवर्तन कोई मासूम या जनपक्षीय प्रक्रिया है? 'विकास किसके लिए?' प्रपत्र में इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण सवाल पूछा गया है : 'क्या इस प्रकार सरकार अराजनीतीकरण करने वाली एक शक्ति के रूप में कार्य नहीं करेगी क्योंकि महिलाओं के वास्तविक राजनीतीकरण से बहुत से ऐसे सवाल उठेंगे जिनके उत्तर सरकार के पास नहीं होंगे। क्या सरकार महिलाओं को संगठित करने की संभावनाओं को अपने कब्जे में करके औरतों को संगठित करने की भविष्य की कोशिशों पर पानी नहीं फेर रही है?' (सहेली, 1991 : 29)।

राजस्थान के अधिकतर क्षेत्रों में सामंती दबदबे, सीमित खेती और कम उद्योगीकरण के कारण महिलाओं की स्थिति बहुत बदतर है। लगातार पड़ने वाले सूखा और अकाल वैसे ही जीवन दूभर करते हैं उस पर सामंती शोषण और सामंती व्यवस्थाएं महिलाओं पर दोहरी मार डालते हैं। समाज में महिला-पुरुष असमानता है और असमान हैसियत किसी भी वर्ग में महिलाओं के स्वतंत्र अस्तित्व को नकारती है। सामंती व्यवस्थाओं में दलित और पिछड़े वर्गों की महिलाओं की स्थिति और भी शोचनीय हो जाती है। 1984 से पहले के सभी सूचकांक दिखाते थे कि राजस्थान में महिलाओं की स्थिति बहुत निम्न है। उनका योगदान अदृश्य रहता है। गांव में 'हथाई' और 'चौपाल' जैसी जगहें, जहां ग्राम सभाएं और जाति पंचायतें होती हैं, वहां महिलाओं का जाना भी निषेध है। महिलाओं और पुरुषों की एक साथ भागीदारी के लिए बैठकों में समान स्तर पर बैठने का कोई सार्वजनिक मंच नहीं है। परदा प्रथा, बाल विवाह, सती और जाति व्यवस्था आदि पितृसत्ता के विभिन्न रूपों ने महिलाओं को आर्थिक, शैक्षिक और सामाजिक रूप से और भी पीछे धकेला हुआ है।

ऐसी परिस्थितियों में महिलाओं की, खास तौर से पिछड़ी जातियों, वर्गों और समुदायों की महिलाओं के संदर्भ में, शिक्षा, सशक्तीकरण और समान हैसियत और समाज में उनके काम के महत्व की बात करना, उसके प्रति जागरूकता फैलाना काफी चुनौतीपूर्ण काम है। जब यह काम गांव की उसी पृष्ठभूमि की महिलाओं के द्वारा करने की बात हो तो चुनौती और भी गंभीर और बड़ी बन जाती है। ऊंची जातियों का दबदबा और वर्गीय शोषण चुप रहने, सहने और भाग्य को कोसने की संस्कृति पैदा करता है। ऐसे में यथास्थिति को चुनौती देने वाली 'फुसफुसाहट' की तीखी प्रतिक्रिया आमंत्रित करती है। इसलिए चुनौती के साथ-साथ जोखिम उठाना भी ऐसे काम में निहित है। सरकारी कार्यक्रम होने के बावजूद सरकारी संरक्षण किस हद तक होगा या मिला यह भी महत्वपूर्ण प्रश्न है। बाल विवाह रुकवाने के अभियान में लगी साथिन भंवरी देवी पर ताकतवर गूजर समाज के लोगों ने सामूहिक बलात्कार करके सबक सिखाने का प्रयास किया, इस प्रतिक्रिया का यह एक उदाहरण भर है। शायद इसीलिए राजस्थान के सामंती जकड़न वाले समाज में सरकारी

कार्यक्रम के कवच के साथ गांव तक पहुंचने का रास्ता कुछ महिलाओं को दिखा था। हालांकि, महिला संगठनों के समर्थन के बावजूद भंवरी के बलात्कारियों को हाई कोर्ट से मुक्ति मिल गई जो न केवल यह दिखाता है कि ग्रामीण कार्यकर्ता कितना असुरक्षित है, वरन यह भी कि समाज में पितृसत्ता की पकड़ कितनी गहरी है।

इस कार्यक्रम को भारत में महिला आंदोलनों के संदर्भ में देखने के लिए आंदोलनों के इतिहास पर एक सरसरी-सी नजर डालने से थोड़ी मदद मिलेगी। भारत में स्वतंत्रता से पूर्व और बाद में महिलाओं की भागीदारी और महिला उत्पीड़न के मुद्दों को लेकर विभिन्न स्तरीय सक्रियता रही है। परंतु सत्तर के दशक से पहले स्त्री-पुरुष समानता (बावजूद शारीरिक अंतरों के) एक प्रमुख मुद्दा नहीं बना। स्त्री का मां और करुणा वाला स्वरूप बहुत महत्वपूर्ण रहा और स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के रूप में देखे गए। लेकिन स्वतंत्रता के बाद भारत के नए संविधान में स्त्री-पुरुष समानता की बात हुई, समान अधिकारों का प्रावधान हुआ। हालांकि पचास और साठ के दशक महिला आंदोलन सक्रियता की दृष्टि से निष्क्रिय रहे। सत्तर के दशक की शुरुआत से ही संविधान के प्रावधान के बेअसर रहने के प्रति जागरूकता बढ़ी। सत्तर के दशक के मध्य से शुरू हुए महिला आंदोलनों और महिला समूहों ने विभिन्न वर्गों और जातियों की महिलाओं की स्थिति पर प्रकाश डालना शुरू किया और इन स्थितियों को बदलने के लिए संगठनों का निर्माण और संघर्षों की शुरुआत हुई। आरंभ में ये संगठन और आंदोलन पश्चिमी देशों के महिला आंदोलनों से प्रभावित थे और भारत में शहरों तक ही सीमित रहे। लेकिन देशी परिस्थितियों और समस्याओं के कारण इनका देशी रूप शीघ्र ही उभरने और विकसित होने लगा और इसका प्रभाव क्षेत्र गांवों और कस्बों तक फैलने लगा। इस दशक में समाज और राजसत्ता में व्याप्त पितृसत्ता के खिलाफ लगातार संघर्ष हुए। संघर्ष के मुद्दे दहेज, बलात्कार, महिला स्वास्थ्य, बाल विवाह, घरेलू हिंसा, शराब विरोध, समान मजदूरी, जायदाद में हक इत्यादि रहे। ये मुद्दे इतने तीखे ढंग से उठे कि इनके द्वारा पैदा हुई झनझनाहट का असर दूर-दराज के क्षेत्रों तक भी पहुंचा। अस्सी का दशक आते-आते महिला आंदोलनों द्वारा राजसत्ता का वर्ग आधारित, जाति आधारित और पितृसत्तात्मक चरित्र खूब अच्छी तरह समझा जा चुका था। महिला आंदोलनों का अपना स्थान बन चुका था और आवाज सशक्त हो गई थी। ऐसे में इन आवाजों को दबाने के दो साफ तरीके राजसत्ता के पास थे। एक तो ऐसे महिला आंदोलनों का बलपूर्वक दमन करना जो स्पष्ट रूप से राजसत्ता विरोधी हैं और राजसत्ता पर प्रहार करते हैं। दूसरा तरीका था अपना चेहरा और भाषा प्रगतिशील बनाकर इन आंदोलनों को अपने में समाहित कर लेना, सोख लेना और उनके राजनीतिक पैनेपन को खत्म कर देना। एक हद तक जनसंख्या नियंत्रण के काम के लिए भी प्रगतिशीलता का मुखौटा लगाना आवश्यक था क्योंकि आपातकाल के दौरान हुई ज्यादतियों के कारण जनसंख्या नियंत्रण कार्यक्रम काफी बदनामी हासिल कर चुका था। पर साथ ही, सत्ता को यह भी समझ में आ चुका था कि जनसंख्या नियंत्रण कार्यक्रमों की स्वीकृति बढ़ाने के लिए भी कुछ हद तक सामंती जकड़न की स्थिति

बदलने और महिलाओं को एक सीमा तक स्वतंत्रता मिलने की जरूरत है। यह भी विश्लेषण और निष्कर्ष सामने आने लगे थे कि जनसंख्या नियंत्रण दर और महिला शिक्षा में सीधा संबंध है। सरकार ने आंदोलनों का दमन और उन्हें अपने में आत्मसात (समाहित) करना, दोनों तरीके अपनाए। पर दमनात्मक तरीकों के अधिकतर निशाना वामपंथी खासतौर से माओवादी संगठन बने क्योंकि ये महिलाओं के मुद्दों को पितृसत्ता के मुद्दों से भी आगे समान काम के लिए समान और उचित मजदूरी, जमीन के पुनर्वितरण और पट्टों जैसे जुझारू संघर्षों तक ले गए। ये दमनात्मक तरीके जिनमें राजसत्ता का चरित्र स्पष्ट रूप से उभरता है सामान्य तौर पर अदृश्य से रहे। इस कारण समाहित करने वाले तरीकों को ज्यादा सकारात्मक प्रतिक्रिया महिला संगठनों और समूहों से मिली। सरकार के लिए स्वायत्त महिला समूहों और संगठनों के लिए दमनात्मक तरीकों की तुलना में समाहित करने वाले तरीके ज्यादा सुविधाजनक और उपयोगी रहे। इस दौरान महिला आंदोलन के मुद्दों में जनसंख्या नियंत्रण की जनविरोधी नीतियां, महिला स्वास्थ्य, और महिला शरीर और यौनिकता पर नियंत्रण के प्रश्न भी अत्यंत महत्वपूर्ण हो गए थे। अस्सी के दशक के मध्य आते-आते तक सती प्रथा भी महत्वपूर्ण महिला आंदोलन का मुद्दा बन चुकी थी।

हालांकि सत्तर के दशक से ही वामपंथी दलों के महिला विंग भी महिलाओं के मुद्दों पर ज्यादा सक्रिय हो गई थी। इसके बावजूद सत्तर-अस्सी के दशकों के दौरान वैचारिक रूप से वामपंथ के निकट ऐसे स्वायत्त महिला समूहों का उदय हुआ जो वाम राजनीतिक दलों से भी स्वतंत्र अपना स्वायत्त अस्तित्व और पहचान चाहते थे। इनमें से कुछ समूह आज तक आम तौर पर किसी भी अनुदान एजेंसियों से पैसा नहीं लेते हैं और व्यक्तियों से चंदा इकट्ठा करते हुए काम को आगे बढ़ाते हैं। इनमें से कुछ समूहों ने महिला स्वास्थ्य और प्रजनन नियंत्रण के दायरों में चल रहे शोध, प्रयोग और आक्रामक और हानिकारक जनसंख्या नियंत्रण के तरीकों के विकास पर निगरानी रखने की भूमिका अदा करने के साथ-साथ इन कार्यकलापों में राजसत्ता की भूमिका की तीखी आलोचना प्रस्तुत की है। व्यापक जनाधार न होने के कारण ये समूह समान मजदूरी, न्यूनतम मजदूरी, जमीन के पुनर्वितरण और पितृसत्ता विरोधी अभियानों और सर्वहारा के संघर्षों में समर्थक की भूमिका अदा करते रहे हैं। इसके साथ ही प्रजनन नियंत्रण के तरीकों पर इन्होंने सीधे निगरानी की और खतरनाक तरीकों के खिलाफ विभिन्न मंचों से आवाज उठाई।

इसी पृष्ठभूमि में राजस्थान महिला विकास कार्यक्रम का उदय हुआ। राज्य और जिला स्तर पर स्थित गैर-सरकारी संस्थान इदारा (IDARA, इंफार्मेशन डेवलपमेंट एंड रिसोर्स एजेंसी) को तकनीकी सहयोग और साथिनों के प्रशिक्षण का काम सौंपा गया। जिला स्तरीय इदारा वैसे प्रौढ़ शिक्षा और ग्रामीण विकास के क्षेत्र में कार्यरत था। आई.डी.एस. (इंस्टीट्यूट ऑफ डेवलपमेंट स्टडीज़), जयपुर को मूल्यांकन और मानिटरिंग का काम सौंपा गया था।

स्वतंत्रता के बाद भारत में ग्रामीण विकास, प्रौढ़ शिक्षा (राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम), आंगनवाड़ी, अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम, महिला विकास कार्यक्रम इत्यादि जैसे कई

कार्यक्रम बने जिनसे मैदानी स्तर पर लोगों के लिए शिक्षा और विकास का काम कर पाने की उम्मीद रही। आश्चर्य की बात यह है कि इन सभी कार्यक्रमों में ग्राम स्तरीय कार्यकर्ता, जिसका काम सबसे कठिन है, उसको नाममात्र को मानदेय दिया जाता है। दिलचस्प बात यह भी है कि सरकार के सभी ऐसे कार्यक्रमों में इन्हीं मैदानी कार्यकर्ताओं से सबसे अधिक प्रतिबद्धता, प्रेरणा और संवेदनशीलता की अपेक्षा होती है। महिला विकास कार्यक्रम में भी साथिन, जिससे महिलाओं का आत्मविश्वास बढ़ाना, आत्मछवि सुधारना, अपने काम के महत्व को समझना, अपने अधिकार जानना, उन्हें सशक्त और जागरूक करना, परिवर्तन का अभिकर्ता बनना, लिंगाधारित भेदभावों के प्रति जागृति बढ़ाना इत्यादि बड़े-बड़े कामों की उम्मीद रखी गई है उसे आज भी मानदेय मात्र 350 रु. दिया जाता है। इतना ही नहीं जब साथिनों ने अपने मानदेय और उनसे अपेक्षाओं के बीच गहरी खाई की बात उठाई, मानदेय बढ़ाने की मांग की तो उन्हें यह समझाया गया कि न्यूनतम मजदूरी की अवधारणा में मालिक-मजदूर का रिश्ता निहित होता है और काम मालिक तय करता है। उन्हें बताया गया कि वेतन की अवधारणा में भी इसी प्रकार की असमानता निहित है जबकि महिला विकास कार्यक्रम में न कोई मालिक है, न मजदूर। मानदेय काम के एवज में मिला पैसा नहीं है। 'यहां हम काम खुद तय करते हैं। हम जो मुद्दे उठाना चाहते हैं वे भी हम स्वयं ही तय करते हैं। हमारा रिश्ता समानता पर आधारित है' (सहेली, 1991 : 14)।

हर ऐसे कार्यक्रम में मैदानी स्तर के कार्यकर्ताओं को उनके कार्य के 'सामाजिक महत्व' को समझाया जाता है और उन्हें 'स्वैच्छिक काम' (जैसे साक्षरता मिशन में हुआ) या नाममात्र के मानदेय पर काम करने के लिए 'प्रेरित' किया जाता है। वास्तविकता यह है कि सरकारी व्यवस्था में समानता का कोई अर्थ नहीं होता और न ही ऐसा है कि नौकरशाही साक्षरता, महिला सशक्तीकरण, अनौपचारिक शिक्षा या बालवाड़ी शिक्षा जैसे कामों में स्वयं कोई स्वैच्छिक (बिना पैसों के) योगदान देती है। बल्कि राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के साक्षरता के काम में बहुत तरह के सलाहकार रखे गए जिन्हें सब सुविधाओं के साथ पूरा देश घुमाया गया और मोटी फीस चुकता की गई। सवाल यह कि ऐसे संपन्न मध्यमवर्गीय लोग, जिनके पैसे भी आमदनी के ढेरों स्रोत होते हैं, साक्षरता जैसे कामों में स्वैच्छिक काम क्यों नहीं करते? शिक्षा और सशक्तीकरण के सरकारी कार्यक्रमों में मुफ्त में काम करने का सारा दारोमदार जमीनी कार्यकर्ताओं पर क्यों आता है जिनसे अपेक्षा होती है कि वे गांव-गांव साइकिलों पर या पैदल घूमें और परिवर्तन की बात करें और स्थापित ताकतों से जूझने का जोखिम उठाएं? सरकारी कार्यक्रम कोई जन आंदोलन तो है नहीं, जिसमें नेतृत्व और साधारण कार्यकर्ता सभी राजनीतिक प्रतिबद्धता के साथ संघर्ष में जुटते हैं। सरकारी कामों में तो स्थायी व सुरक्षित वेतनपोषी लोग ग्रामीण स्तरीय युवाओं को देश के लिए काम का आह्वान देते हैं। इस बुनियादी संरचना में ही गहरा विरोधाभास व छल है।

महिला विकास कार्यक्रम में प्रति ग्राम पंचायत एक साथिन नियुक्त की गई थी। साथिनों के चुनाव में साथिन के पिछड़े वर्ग और जाति का होना मुख्य आधार था। कई

ग्राम पंचायतों में पांच-पांच, छह-छह गांव हैं जिनमें महिलाओं से मिलना, बैठकें करना, सूचनाएं पहुंचाना, आदि सभी और ढेरों काम साथिन की जिम्मेदारियां मानी जाती हैं। 10 साथिनों पर एक प्रचेता होती है जिसके मार्गदर्शन में साथिनों से काम की अपेक्षा होती है। प्रचेताएं आमतौर पर सरकारी कर्मचारी होती हैं जिन्हें उनके विभाग से प्रतिनियुक्ति पर लिया जाता है। कुछेक प्रचेताओं की सीधी नियुक्ति भी की गई है। प्रचेताएं जिला स्तरीय कार्यालय, जिला महिला विकास एजेंसी (डी.डब्ल्यू.डी.) को जवाबदेह हैं। इसके ऊपर महिला विकास कार्यक्रम का राज्य स्तरीय कार्यालय है। कार्यक्रम के प्रस्ताव में पूरे राजस्थान राज्य के प्रत्येक जिले के लिए 100 साथिनें व करीब 10 प्रचेताओं का प्रावधान रखा गया था। 1984 में कार्यक्रम की शुरुआत 6 जिलों में की गई। इसमें प्रत्येक जिले में लगभग 85-90 साथिनें नियुक्त की गईं। कुछ ही समय में साथिन कार्यक्रम 13 जिलों में फैलाया गया था, लेकिन साथिनों की नियुक्तियों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इसके बाद प्रत्येक जिले में मात्र पांच या छह साथिनें नियुक्त की गईं। आज पूरे राजस्थान राज्य में साथिनों की कुल संख्या 580 है जबकि 1984 के प्रस्ताव के अनुसार यह संख्या 2,000 से ज्यादा होनी थी।

आमतौर पर ऐसे सरकारी कार्यक्रमों में जमीनी स्तर पर स्रोतों की कमी और उत्साह और प्रेरणा की कमी के कारण कुछ खास काम नहीं होता है। सरकार की तरफ से जो मानदेय देने का वायदा होता है वह भी कार्यकर्ताओं तक समय पर नहीं पहुंचता है और इसीलिए काम की थोड़ी बहुत गुंजाइश भी शीघ्र खत्म हो जाती है।

लेकिन अस्सी के दशक में बने दो महिला कार्यक्रमों, महिला विकास और महिला समाख्या में स्थिति थोड़ी अलग रही। महिला विकास कार्यक्रम, महिला समाख्या कार्यक्रम से भी फर्क है क्योंकि इसकी योजना पूरे राज्य के लिए बनी थी और राजस्थान और देश के कई महिला समूहों ने इस कार्यक्रम को समृद्ध करने में योगदान दिया था। वामपंथी राजनीतिक दलों के अनुशासन से स्वतंत्र, पितृसत्ता के मुद्दों को उठाने के लिए—जो घर की चारदीवारी के भीतर से शुरू होकर प्रगतिशील राजनीतिक दलों में भी व्याप्त है—स्वायत्त महिला समूहों का उदय हुआ था। ऐसे महिला समूह लगातार व्यापक जनाधार वाले कामों में अपने योगदान की भूमिका ढूंढ़ते रहते हैं। इन्हीं में से कुछ स्वायत्त समूहों की कार्यकर्ताओं को महिला विकास कार्यक्रम के माध्यम से गांवों की महिलाओं तक पहुंचने का मौका दिखा। इस प्रकार कुछ महिलाओं ने महिला विकास कार्यक्रम मे साथिनों का प्रशिक्षण में योगदान देकर एक प्रकार से गैर-सरकारी हस्तक्षेप किया। साथिन कार्यक्रम में लगभग सभी तरह की प्रगतिशील बातें थीं जिनमें से एक महत्वपूर्ण बात थी साथिनों का काम लक्ष्याधारित नहीं था और काम का आकलन भी गुणात्मक आधारों पर होना था। साथिनों को गांव की औरतों खास तौर से पिछड़े समुदायों की औरतों के साथ मिलकर और उनकी सलाह से ग्राम स्तरीय महिला विकास केंद्र स्थापित करने थे। गांव की महिलाओं का आत्मविश्वास बढ़ाना, जरूरत पड़ने पर मदद करना, महिलाओं पर हो रहे अत्याचारों

को रुकवाना, उन पर कार्यवाही करवाना, प्रचेता की सलाह और मार्गदर्शन में महिला विकास की गतिविधियां शुरू करना, सरकारी विकास कार्यक्रमों की सूचना महिलाओं तक पहुंचाना, इत्यादि साथिनों के काम हैं जिन्हें आंकड़ों में मापा जाना संभव नहीं है। एक सरकारी अधिकारी के लगातार आंकड़ों पर जोर देने पर एक बार एक प्रचेता ने गोष्ठी के दौरान अपना एक अनुभव सुनाया। उसने बताया कि गांव में हुई एक बलात्कार की घटना के संदर्भ में उसने लगातार 15-20 दिनों तक भागदौड़ की। उस महिला की मदद के लिए गांव की औरतों को जोड़ा, सरकारी अधिकारियों और पुलिस में सूचना देने के लिए भागदौड़ की, गांव के स्तर पर पंचायत की बैठकें करवाईं, इत्यादि। प्रचेता का प्रश्न था कि इस प्रकार के काम और योगदान को आंकड़ों में कैसे दिखाया जाएगा? कई बार इस तरह के प्रश्न प्रचेताओं और साथिनों के द्वारा उठाए गए कि महिलाओं के हिम्मत, आत्मविश्वास, जागरूकता बढ़ाने के लिए जो मेहनत वे करती हैं उनको क्योंकि अन्य विकास कार्यक्रमों की तरह आंकड़ों में व्यक्त नहीं किया जा सकता, इसलिए उनके काम का महत्व कम आंका जाता है।

तीन-चार मध्यमवर्गीय महिला कार्यकर्ताओं के सहयोग और समर्थन के साथ साथिनों ने लगन और मेहनत से महिला विकास कार्यक्रम के उद्देश्यों को पूरा करने को प्रयास किया। इस दौरान साथिनें स्वयं भी परिवर्तन के दौर से गुजरीं जिसमें उन्होंने समाज में, परिवार में अपने काम और योगदान के महत्व को समझा। अपने विचार और मत अभिव्यक्त करने की हिम्मत पाई। महिलावादी और जनवादी सो उनमें पैदा हुआ जिसके तहत महिलाओं के समाज में निचले स्थान और उन पर होने वाले अत्याचारों को चुपचाप न सहने और मिलकर जूझने का उत्साह पैदा हुआ। सरकार व समाज के पितृसत्तात्मक चरित्र को उन्होंने समझा। राष्ट्रीय महिला आयोग की रपट के अनुसार, 'साथिनों ने महिलाओं को साक्षरता के लिए प्रेरित किया, साक्षरता अभियान में सक्रियतापूर्वक भागीदारी की, बाल विवाह के विरुद्ध अभियान चलाए, कृषि विकास कार्यक्रमों में महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करवाई, लड़कियों को शालाओं में भरती करवाने का अभियान चलाया और उन्हें भर्ती करवाया, परिवार नियोजन के कामों की सूचनाएं पहुंचाईं और उन्हें लागू करवाया। इसके अलावा बैंकों में खाते खुलवाना, हैंड पंप लगवाना और सुधरवाना, टीके लगवाना, दहेज के खिलाफ अभियान चलाना, महिला हिंसा पर रोक, पंचायत गोष्ठियों में भागीदारी, राशन योजना लागू करवाना, इत्यादि जैसे अनेकानेक विकास कार्यक्रमों को ग्रामीण स्तर तक लागू करवाने और उसमें पिछड़े वर्गों और जातियों की भागीदारी बढ़वाने का काम साथिनों ने किया' (नेशनल, 1996 : 11)।

जैसा कि पहले भी कहा गया है कि साथिनों में यह जागरूकता और हिम्मत लाने के पीछे जहां एक तरफ महिला विकास कार्यक्रम के लिखित प्रस्ताव की भूमिका थी जिससे कम से कम ऐसे काम कर पाने की एक गुंजाइश बनी, वहीं दूसरी ओर तीन-चार मध्यमवर्गीय महिलाओं की, जो कुछ सालों तक इस कार्यक्रम की पूर्णकालिक जमीनी

कार्यकर्ता रहीं, भूमिका भी महत्वपूर्ण है। इन्होंने तीन-चार सालों तक लगातार गांवों में जाकर साथिनों और प्रचेताओं का प्रशिक्षण किया और ग्राम स्तरीय महिला गोष्ठियां कीं। इसी सक्रियता के कारण साथिनों में नौकरशाही और सामंती ताकतों का सामना करने और महिलाओं की समान हैसियत के लिए जूझने का माद्दा पैदा हुआ।

राजस्थान जैसे सामंती जकड़न वाले समाज में जहां महिलाओं को खासतौर से दलित और गरीब परिवार की औरतों को मुंह खोलने, आंख उठाकर देखने, चौपाल पर बैठने, चप्पल पहनकर घूमने जैसे आम अधिकार नहीं हैं वहां ये कोई साधारण उपलब्धियां नहीं हैं। लेकिन क्या ऐसा कार्यक्रम बनाने के पीछे राजसत्ता की यही मंशाएं थीं? क्या राजसत्ता वास्तव में महिलाओं का सशक्तीकरण चाहती थी? इस संदर्भ में राजनीतिशास्त्र के प्रोफेसर मनोरंजन मोहंती के कुछ विचार उद्धृत करने से मदद मिलेगी। इन्होंने *इकानामिक एंड पालिटिकल वीकली* के अपने लेख, 'आन द कांसेप्ट ऑफ एंपावरमेंट' में लिखा है कि विकास और साक्षरता की चर्चाओं में सशक्तीकरण करने की खूब बातें आजकल होती हैं। परंतु सशक्तीकरण की अवधारणा ही इन बातों में अस्पष्ट और धुंधली ही रहती है। इनके अनुसार, 'यूनाइटेड नेशन के एक प्रपत्र में लिखा है कि सशक्तीकरण के लिए एक पूर्व शर्त यह है कि योजनाएं बनाने, लागू करने और समाज के भले के लिए किए जाने वाले निर्णयों—सभी में पूर्ण भागीदारी होना जरूरी है। लेकिन ऐसे किसी भी प्रपत्र में उन ढांचागत बाधाओं को दूर करने की बात नहीं होती जो लोगों की भागीदारी नहीं होने देते और इसलिए सशक्तीकरण या क्षमताएं बढ़ाना जैसे उद्देश्य अतिसामान्यीकृत, निरर्थक घोषणाएं मात्र रह जाती हैं।' वे यह भी तर्क करते हैं कि, 'सशक्तीकरण की अवधारणा का अर्थ मात्र औपचारिकता है, ठोस सत्ता की बात नहीं है। यहां बात ऊपरी सत्ताधारियों द्वारा जनता को सत्ता 'देने' की बात है, न कि जनता द्वारा संघर्ष के दौरान सत्ता हासिल करने की बात है' (मोहंती, 1995)।

सशक्तीकरण के संबंध में इस बुनियादी बात को ध्यान में रखते हुए क्या यह सवाल पूछना जरूरी नहीं है कि राजसत्ता को एक सीमा तक ही महिलाओं का मुखर होना, स्वायत्त होना स्वीकार था और सशक्तीकरण पर इतना जोर होने के बावजूद क्या यह मंशा नहीं थी कि महिलाएं अपने शरीर, अपनी यौनिकता पर पूर्ण नियंत्रण हासिल न कर पाएं और राजसत्ता की पकड़ से बाहर न चली जाएं और राजसत्ता की महिला विरोधी नीतियों पर ही सवाल खड़े न करने लगें? प्रश्न यह भी है कि जब ऐसी स्थितियां निर्मित हुईं जिसमें महिलाएं वास्तव में ढांचागत और नीतिगत मुद्दों पर चोट करने लगीं तो राजसत्ता, नौकरशाही और स्वायत्त महिला समूहों की क्या भूमिका रही और वे किसके पक्ष में खड़ी हुईं? आखिर स्थानीय स्तर पर भी उठे विरोध के स्वरों को सरकार ने क्यों सहा जो आम सामंती परिस्थिति में संभव नहीं होता?

दो महत्वपूर्ण घटनाओं और इसके बाद के सरकारी फैसलों ने महिला विकास कार्यक्रम के कुछ बुनियादी विरोधाभासों को सामने ला दिया था।

साथिन एक अलग तरह की कार्यकर्ता मानी गई : जमीनी स्तर पर महिलाओं को सशक्त करने वाली। उसका काम असमानता, महिलाओं की अदृश्यता और शक्तिहीनता के बंधनों को तोड़कर, भागीदारी के साथ विकास का आधार बनाना था। लेकिन साथिन की प्रभावशीलता अपने अंदर, अपने व्यक्तित्व, आत्मविश्वास और आत्मछवि में परिवर्तन लाने पर निर्भर था। साथिन महिलाओं को नेतृत्व देने, सशक्त करने में सफल तभी हो सकती थी जब वह पहले स्वयंभूत ऐसी प्रक्रिया से गुजरे जिससे स्वयं इसके अंदर भी कुछ बुनियादी परिवर्तन आएं। साथिनों के प्रशिक्षण के दौरान इस्तेमाल किए गए तरीकों से यह परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता था। ये तरीके सृजनात्मक थे और साथिनों के अपने जीवन के अनुभवों पर आधारित थे जिसमें हर सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि की महिलाओं के कष्टों में समानता को समझना और प्रशिक्षण के दौरान हर दिन के क्रियाकलापों से समानता के विचारों को आत्मसात करना शामिल था। ऐसे प्रशिक्षणों ने महिलाओं की अपनी आत्मछवि और साथ ही महिला की छवि का वैकल्पिक परिप्रेक्ष्य विकसित करने में मदद की। इस प्रकार उन्होंने महिलाओं की संगठित शक्ति को पहचाना। साथिनों ने ग्राम स्तरीय जाजमों (गोष्ठियों) से प्रमुख मुद्दों को पहचाना, अन्य गांवों की साथिनों और राज्य तथा राष्ट्रीय स्तर पर महिला समूहों के साथ संपर्क सूत्र स्थापित किए। साथिनों का मुख्य जोर हमेशा ग्रामीण मंचों से, सामूहिक रूप से, महिलाओं के दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करना और इसी तरह के कामों में लगी अन्य महिलाओं और समूहों से संपर्क स्थापित करना था।

जमीनी स्तर की इस प्रकार की गतिविधियों से कई तरह के ऐसे मुद्दे उभरकर आए जो गांव के लोगों को तरह-तरह से प्रभावित करते थे। इसमें अकाल राहत की सरकारी चेष्टाओं से लेकर औरतों के पितृसत्तात्मक शोषण और सामाजिक दमन सभी प्रकार के मुद्दे शामिल थे। जैसे, जोधपुर जिले के एक गांव में एक पति अपनी पत्नी को टीन का एक 'जांघिया' पहनने पर मजबूर करता था, ताकि उसकी अनुपस्थिति में पत्नी की 'इज्जत' बची रहे! उस गांव की साथिन के नेतृत्व में महिलाओं के सामूहिक प्रयास से इस महिला को इस त्रास से मुक्ति दिलाई गई। आमतौर पर नारीवादी सोच की अनुपस्थिति में ऐसे मामलों को घरेलू मामला कहकर नजरअंदाज कर दिया जाता है। इसी प्रकार एक गांव में साथिन ने गांव की औरतों को जोड़कर, गांवों की दलित बस्ती में हैंड पंप लगवाए तो एक अन्य गांव में 'चुड़ैल' घोषित कर दी गई महिला को मुक्ति दिलवाई। एक अन्य गांव में पत्नी की पिटाई करने वाले पति को महिलाओं ने साथ मिलकर घेरा। एक अन्य गांव में विधवा महिला की छिनी हुई जमीन वापस दिलवाई। इसी तरह एक अन्य गांव में साथ मिलकर न्यूनतम मजदूरी के लिए संघर्ष किया। ऐसे सैकड़ों अनुभव साथिनों के पास हैं।

अन्य सरकारी कार्यक्रमों के कार्यकर्ताओं की तुलना में यहां दो बुनियादी फर्क रहे जो उनके प्रशिक्षण और प्रशिक्षकों के लगातार साथिनों के साथ जूझते रहने का असर था।

पहला बुनियादी अंतर यह था कि साथिनें सरकारी कार्यक्रमों या महिला अधिकारों का मात्र प्रचार भर नहीं करती थीं। उनके अपने अंदर आए परिवर्तनों के कारण वे अधिकारों को हासिल करने और अन्याय का विरोध करने के लिए औरतों की जूझने की तैयारी भी करवाती थीं। एक और महत्वपूर्ण बात यह भी थी कि इस प्रकार का हर एक्शन सामूहिक क्रिया होती थी। यह साफ है कि निम्न स्तर के सरकारी अधिकारी और डॉक्टर, शिक्षक आदि सभी साथिनों से नाखुश थे और हमेशा इस इंतजार में रहते थे कि कैसे उनके खिलाफ कुछ कार्रवाई हो। वे साथिनों के नेतृत्व में अपने ऊपर हो रही निगरानी से तंग आ चुके थे। लेकिन जब तक साथिनों को जिला और राज्य स्तर के सरकारी अधिकारियों और स्वैच्छिक संस्थाओं का समर्थन प्राप्त था साथिनें ग्रामीण स्तर पर कुछ सफलताएं हासिल कर पाई थीं। ग्रामीण समाज में जाति और वर्गाधारित उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष के लिए जिला स्तरीय समर्थन अत्यंत आवश्यक और महत्वपूर्ण है।

लेकिन सफलता के लिए इसी समर्थन की जरूरत के कारण साथिनों के पूरे काम में एक जबरदस्त विरोधाभास भी था। सरकारी एजेंसियां क्या वास्तव में अपनी ताकत व सत्ता को बांटना चाहती थीं? यदि ऐसा न हो तो सशक्तीकरण कैसे संभव है?

जैसा कि पहले भी कहा गया है कि साथिनों द्वारा स्थानीय (गांव) स्तर पर उठाए गए विकास के मुद्दों में जिसमें टकराव जाति आधारित, वर्गाधारित और लिंगाधारित थे, वे सरकारी अधिकारियों, स्थानीय पुलिस और महिला विकास कार्यकर्ताओं के स्तर पर हल किए जा सके। *विकास किसके लिए?* (डवलपमेंट फार हूम?) पुस्तिका के अनुसार 'ये उपलब्धियां महिला विकास कार्यक्रम में लिखित विकास की दिशा के अनुरूप ही थीं, यानी कार्यक्रम को हर स्तर पर लागू करने के लिए एक भरोसा और आपसी विश्वास लगातार बनाए रखने की जरूरत है...क्योंकि कार्यक्रम में सरकारी, गैर-सरकारी स्वैच्छिक समूहों और अकादमिक लोगों को जोड़ने का एक बेमिसाल तत्व है और यह कार्यक्रम इस बुनियादी आधार पर कार्य कर रहा है कि यह भरोसा और आत्मविश्वास बनाना संभव है' (सहेली, 1991 : 7)।

तब प्रश्न यह है कि क्या होता है जब ऐसे मुद्दे उठाए जाएं जो *सरकारी नीतियों*, वरिष्ठ सरकारी अधिकारियों या अन्य ताकतवर लोगों के निहित स्वार्थों पर चोट करते हों? महिला विकास कार्यक्रम की शुरुआत के दो वर्षों के अंदर ही यह स्थिति पैदा हो गई थी जब साथिनों ने अकाल राहत कार्य को जनसंख्या नियंत्रण के लक्ष्यों को पूरा करने के लिए सरकारी अधिकारियों द्वारा एक दमनात्मक अस्त्र के रूप में उपयोग करने का विरोध किया। साथिनों द्वारा राजसत्ता की इस डिक्टेटरशिप पर प्रतिरोध करने से साथिनों, जिला और राज्य स्तरीय गैर-सरकारी संस्थाओं और सरकारी एजेंसियों के बीच सामंजस्य का बुलबुला फूट गया। सरकार द्वारा सरकारी कर्मचारियों के लिए जनसंख्या नियंत्रण के न केवल लक्ष्य निर्धारित किए गए थे, वरन जोर उन लक्ष्यों के पूरा होने पर था। निर्धारित लक्ष्यों से ज्यादा सफलता हासिल करने पर अच्छे 'नेतृत्व' के लिए (1986-87) में कलेक्टरों के लिए

पुरस्कारों की भी घोषणा की गई थी। ये पुरस्कार इस प्रकार थे :

- सालाना निर्धारित आपरेशनों का 135% लक्ष्य पाने पर : 7 दिनों के लिए विश्व भ्रमण।
- लक्ष्य का 115% होने पर : एशिया के दक्षिण-पूर्व के देशों की मुफ्त हवाई यात्रा।
- लक्ष्य का 100% होने पर : रिमोट के साथ रंगीन टी.वी.।
- लक्ष्य का 90% होने पर : रेफ्रीजिरेटर।
- पिछले वर्ष से 20% अधिक लक्ष्य पर : छोटा रंगीन टी.वी.।

राजस्थान के स्वास्थ्य सचिव ने यह घोषणा एक सर्कुलर के द्वारा जिलाधीशों तक पहुंचाई थी। एक तरफ तो अजमेर जिले की महिला विकास एजेंसी ने सरकार की ऐसी दमनात्मक नीति का विरोध करने का फैसला किया तो दूसरी तरफ, राज्य सरकार अपने मातहत कर्मचारियों पर लक्ष्यों से ज्यादा उपलब्धि हासिल करके विश्व भ्रमण का चारा फेंक रही थी। शुरू में महिला विकास कार्यक्रम की कार्यकर्ताओं ने भी राज्य स्तरीय गोष्ठी में जनसंख्या नियंत्रण के लक्ष्यों को अस्वीकार कर दिया था। जिन महिलाओं पर सरकार द्वारा दबाव बनाया जा रहा था उन्हें साथिनें ही अपनी प्रतिनिधि दिखीं और क्योंकि उसी वर्ष महिला विकास कार्यक्रम में स्वास्थ्य का मुद्दा भी जोड़ा गया था इसलिए अजमेर जिले की स्वैच्छिक संस्थाओं और महिला विकास की साथिनों और प्रचेताओं नें इस मुद्दे को प्राथमिकता देने का निर्णय किया। इसके तहत लेप्रोस्कोपी और आपरेशन द्वारा नसबंदी की सही पद्धति और आपरेशन के बाद की सावधानियों, देखभाल के विषय में जानकारियां देने के लिए महिला विकास कार्यक्रम के तहत साथिनों और प्रचेताओं की एक कार्यशाला की गई। इसी कार्यशाला में राष्ट्रीय जनसंख्या नियंत्रण कार्यक्रम के परिप्रेक्ष्य की जानकारी दी गई और उसकी आलोचना भी प्रस्तुत हुई। इस कार्यशाला के दौरान ही यह सामने आया कि ये आपरेशन बदइंतजामी के माहौल में किए जा रहे थे और स्वच्छता पर भी ध्यान नहीं दिया जा रहा था। आपरेशन के बाद की देखभाल व स्वास्थ्य-संबंधी जटिलताओं को जानने और उनसे निपटने का न कोई इंतजाम था, न उसमें किसी की रुचि ही थी। साथिनें यह जानकारियां लाई थीं कि विधवाओं और ऐसी महिलाएं जिनके एक या दो बच्चे थे उन तक के आपरेशन जबरदस्ती किए जा रहे थे। कई महिलाओं के दो-दो, तीन-तीन बार आपरेशन कर दिए गए थे।

राजस्थान में अस्सी के दशक में लगातार कई वर्षों तक अकाल पड़ा था। 1985 से 1988 के बीच लगातार लगभग 80% फसल बरबाद होती रही थी। ऐसी स्थिति में गरीब मजदूरों के पास जीवन जीने का साधन अकाल राहत कार्य ही होता था। 1988 में, अकाल के दौरान औरतों पर आपरेशन करवाने का दबाव और भी बढ़ गया था। भुखमरी के हालात में लोगों को जनसंख्या नियंत्रण का लक्ष्य बनाया जा रहा था। सिर्फ उन महिलाओं को कार्य दिया जाने लगा जो आपरेशन करवाती थीं। सार्वजनिक रूप से औरतों को अपने पेट

पर आपरेशन का निशान दिखाने के लिए मजबूर किया जाने लगा था। जिन महिलाओं ने अपनी उम्र, बाल-मृत्यु की आशंका या परिवार पूरा न हो पाने के कारण आपरेशन करवाने से इनकार कर दिया था, उनका नाम अकाल राहत कार्य के रजिस्टर से काट दिया गया और उन्हें कार्य नहीं दिया गया। इस प्रकार 1988 में साथिनों और प्रचेताओं पर परिवार नियोजन का लक्ष्य पूरा करने का दबाव बढ़ने लगा था। परिस्थिति की विडंबना यह थी कि एक तरफ तो जिलाधीशों को विश्व भ्रमण का पुरस्कार का वादा था तो दूसरी तरफ भुखमरी की कगार पर खड़ी औरतों का राशन उनके जनसंख्या नियंत्रण के आपरेशन करवाने पर निर्भर था। साथिनों ने गांव स्तर के अपने संपर्कों और इस तरह की ज्यादतियों की प्रत्यक्ष गवाह होने के कारण जाजमों (बैठकों) में अकाल राहत काम को जबरदस्ती नसबंदी आपरेशनों का अस्त्र बनाने का विरोध किया। लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि इस बार न तो जिला या स्थानीय स्तर की नौकरशाही ने उनका साथ दिया और न ही राज्य स्तरीय महिला विकास कार्यक्रम के कार्यकर्ताओं या परियोजना निदेशक ने। नौकरशाहों को नौकरी जाने की चिंता थी तो महिला विकास कार्यक्रम के लोगों को सरकारी अनुदान रुक जाने का डर था।

जनसंख्या नियंत्रण कार्यक्रम के दौरान हुई जबरदस्ती और ज्यादतियों की जानकारी जयपुर स्थित इंस्टीट्यूट आफ डेवलपमेंट स्टडीज द्वारा एकत्रित की गई थी और इस जानकारी को एक राज्य स्तरीय बैठक में प्रस्तुत किया गया था। जहां अजमेर में *जिला* स्तरीय महिला विकास कार्यक्रम की महिलाओं और इस कार्यक्रम से जुड़ी गैर-सरकारी संस्था इदारा के लोगों ने इस मुद्दे पर चर्चा करने और इसका विरोध करने पर सहमति दिखाई वहीं *राज्य* स्तरीय महिला विकास कार्यक्रम के कर्मचारियों और कार्यक्रम से जुड़ी गैर-सरकारी संस्थाओं ने इस मुद्दे को उठाने में असहमति दिखाई। यह साथिनों के लिए पहला झटका था। वे ही वरिष्ठ लोग जो महिलाओं के सशक्तीकरण और समानता की बातें प्रशिक्षण के दौरान करते नहीं थकते थे, सेमिनारों में कहते फिरते थे, उन्होंने ही महिला स्वास्थ्य और अधिकार से जुड़े इतने महत्वपूर्ण मुद्दे को उठाने से असहमति दिखाई क्योंकि ऐसा करने से राजसत्ता की जनसंख्या नियंत्रण की दमनात्मक नीति का विरोध होता। राजसत्ता और साथिनों के बीच का यह विरोधाभास इस प्रकार तीखे रूप में सामने आया। राज्य स्तरीय अधिकारियों के इस महिला विरोधी नीति को समर्थन देने के कारण साथिनों और इन अधिकारियों के बीच के रिश्ते की असमानता सामने आ गई। मैदानी कार्यकर्ताओं और अधिकारियों के बीच तनाव बढ़ता ही गया।

दूसरी घटना 1990 की है। इस वर्ष अजमेर जिले की कुछ साथिनें और प्रचेताएं कालीकट में राष्ट्र स्तरीय महिला सम्मेलन में भाग लेने चली गईं। यही नहीं, कालीकट में कुछ साथिनों ने इस सम्मेलन में केकरी महिला समूह के बैनर तले गोष्ठियों में भाग लिया। इसके कारण, अजमेर वापस लौटने पर महिला विकास कार्यक्रम की वरिष्ठ अधिकारियों ने इन्हें आड़े हाथों लिया। इन्हें डांटा गया, धमकाया गया और इनका अपमान

किया गया। इसके बाद पांच साथिनों और एक प्रचेता को आर्डर देकर कार्यक्रम से निकाल दिया गया। साथिनों को निकालने की लिखित प्रक्रिया के अनुसार एक साथिन को तभी निकाला जा सकता है जब गांव की अधिकतर औरतों का उसमें भरोसा खत्म हो गया हो। ऐसी स्थिति में भी साथिन को निकालने का फैसला ग्राम सभा की बैठक में ही किया जा सकता है। जिन साथिनों और प्रचेता को नौकरी से निकाला गया वे कार्यक्रम से शुरुआत से जुड़ीं थीं और उन्हें काम करते हुए पांच-पांच वर्षों से ज्यादा वक्त हो गया था। साथिनों और प्रचेता को निकालने के लिए प्रस्ताव में लिखी प्रक्रिया की धज्जियां उड़ा दी गई थीं।

इस प्रकार महिला विकास कार्यक्रम के समानता, स्वायत्तता जैसी शब्दावली की विश्वसनीयता की भी धज्जियां उड़ गईं। साथिनों को लगा कि इस प्रकार किसी न किसी तरह से सभी *सक्रिय* और बोलने वाली साथिनों को निकालने का प्रयास होगा। ऐसी परिस्थितियों से जूझने का एकमात्र तरीका था साथिन संगठन (यूनियन) बनाना, ताकि वे न केवल अपने अधिकारों की सुरक्षा कर सकें, बल्कि अपने गांव के विकास के लिए भी काम जारी रख सकें। उनकी शक्ति अब उनकी यूनियन थी। इन सभी साथिनों को पहले अपने ही घरों में पितृसत्ता और समाज में सामंती शोषण के खिलाफ जूझना पड़ा था। इसके बाद इन्हें राजसत्ता की महिला विरोधी नीतियों के खिलाफ खामोश रहने वाले महिला समूहों और संगठनों से जूझना पड़ा।

यूनियन बनाने के साथिनों के निर्णय की तीखी प्रतिक्रिया हुई। राजसत्ता ने बहुत ही व्यवस्थित रूप से यूनियन तोड़ने का फैसला किया। साथिनों को डराने-धमकाने, यूनियन छोड़ने के लिए पुस्कार का लालच देने से लेकर यूनियन के नेतृत्व को बदनाम करने तक के सारे हथकंडे अपनाए गए। साथिनों को उनके परिवार और पतियों के सामने अपमानित किया गया । एक जिले में तो अधिकारी इस हद तक उतर आए कि उन्होंने साथिनों के पतियों को औपचारिक पत्र लिखकर बताया कि यदि साथिन बिना सरकारी (WDP) आदेश के किसी भी गांव में गोष्ठी लेने जाती हैं तो उसकी सुरक्षा की जिम्मेदारी विभाग की नहीं होगी! इन सब धमकियों और अड़चनों के बाद भी यूनियन सशक्त होती रही। यूनियन के सभी जिला और राज्य स्तरीय सम्मेलनों में साथिनें बिना किन्हीं आदेशों या यात्रा भत्ते के या अन्य बंदिशों के मिलीं। ऐसे में सभी सीमाएं टूटीं और साथिनों ने वर्ग, जाति और लिंगाधारित शोषण के अपने अनुभवों पर खुलकर चर्चा की। साथिनों को समझ में आया कि वे महिला विकास कार्यक्रम की बुनियाद हैं और फिर भी कार्यक्रम में उनके कोई कानूनी अधिकार नहीं हैं। उनके काम के लिए उन्हें नाममात्र का निश्चित मानदेय दिया जाता है जबकि अन्य सभी महिला विकास अधिकारियों को वेतन मिलता है जो समय-समय पर बढ़ता रहता है। साथिनों का अपने न्यायोचित स्थान पाने और न्यूनतम मजदूरी के लिए संघर्ष आज तक जारी है।

सरकार ने कार्यक्रम को धीरे-धीरे खत्म करने का फैसला कर लिया है। राजस्थान के बाकी जिलों में साथिनों के रिक्त पदों को भरने पर 1993 से रोक लगा दी गई थी।

सरकारी तौर पर साथिनों के आपस में मिलने के मौके भी कम कर दिए गए हैं जिससे सूचना का आदान-प्रदान कम से कम हो गया है। एक ही जिले की साथिनें भी आपस में नहीं मिल पाती हैं जिस पर कार्यक्रम की शुरुआत में काफी जोर था। साथिन यूनियन बनने के बाद सरकारी तौर पर साथिन मॉडल को खत्म करके महिला समूह मॉडल लागू किया गया है। इसके तहत हजारों महिला समूह बिना किसी भी प्रकार के प्रशिक्षण के शुरू किए गए हैं। इन महिला समूहों में महिलाओं की हिम्मत बढ़ाने, चेतना बढ़ाने, अत्याचार से लड़ने आदि का माद्दा पैदा करने के स्थान पर सशक्तीकरण की प्रक्रिया के नाम पर सिलाई-बुनाई, बचत समूह बनाने, पापड़ बनाने जैसी आर्थिक गतिविधियां ही करवाई जाती हैं। साथ ही साथिनों के ऊपर लक्ष्याधारित जनसंख्या नियंत्रण के कामों का बोझ और दबाव बढ़ाया जा रहा है। साथिनें एक तरह से जनसंख्या नियंत्रण के लक्ष्य पूरे करवाने वाली जमीनी कार्यकर्ता बनती जा रही हैं। कुछ सक्रिय और जुझारू साथिनों को लोक *जुंबिश* जैसे कार्यक्रमों में नौकरी देकर उन्हें यूनियन से अलग कर दिया गया है। इसी प्रकार, बड़ी उम्र की निरक्षर साथिनों, जिन्होंने पिछले 14-15 सालों से लगातार जूझ कर काम किया है, उनकी सूचियां तैयार की जा रही हैं ताकि उन्हें कम शैक्षिक योग्यता के नाम पर कार्यक्रम से निकाला जा सके। काफी साथिनों की इस प्रकार से छंटनी की जा चुकी है। इस समय सरकारी विकास के सारे कामों के लिए महिलाओं को इकट्ठा करने भर का काम इनका रह गया है। राष्ट्रीय महिला आयोग के अनुसार इस प्रकार ये करीब 64 कार्यक्रमों के बोझ से दबी हैं।

जून 1999 में हुए पांचवें साथिन यूनियन के सम्मेलन में साथिनों ने बताया कि ग्रामसेवक, पटवारी, नर्स—सभी किसी भी वक्त उनके घर पहुंचकर उनसे कहते हैं कि, 'तुम गांव की साथिन हो, महिलाओं को इकट्ठा करो'। एक साथिन ने कहा कि, 'गांव-गांव घूमकर सारी घिसाई हम करते हैं और वाहवाही ये लोग लूटते हैं। सभी यही पूछते हैं कि साथिनें करती क्या हैं?' महिलाओं की हिम्मत बढ़ाना, अत्याचार से जूझने की तैयारी करवाना, चेतना फैलाना जैसे काम तो पृष्ठभूमि में चले गए हैं। जो प्रचेताएं प्रतिनियुक्ति पर शिक्षा या अन्य विभागों से आई थीं उन्हें वापस भेजा जा चुका है। उनके स्थान पर अब निजी ठेकेदारों और 'सिक्यूरिटी एजेंसियों' के द्वारा 'ठेके' पर प्रचेताएं ली जा रही हैं।

यह स्पष्ट है कि ग्रामीण स्तरीय कार्यकर्ता आधारित कार्यक्रमों में चाहे वे महिला विकास कार्यक्रम हों या महिला समाख्या कार्यक्रम या साक्षरता, अनौपचारिक शिक्षा या प्रौढ़ शिक्षा जैसे शिक्षा कार्यक्रम हो, जागरूक कार्यकर्ता रूढ़िवादी और सामंती व्यवस्थाओं में भी इनके द्वारा चेतना जागरण के कुछ रास्ते बना ही लेते हैं। कुछ गुंजाइश की जरूरत राजसत्ता को भी ग्रामीण समाज तक अपनी जकड़ बनाए रखने, जनसंख्या नियंत्रण और आर्थिक कार्यक्रम चलाने और अपनी विश्वसनीयता बनाए रखने के लिए जरूरी है। परंतु यह संतुलन तभी तक संभव रह पाता है जब तक इस तरह की गतिविधियां राजसत्ता के

बुनियादी जाति-आधारित, वर्गाधारित चरित्र और उसकी जन और महिला विरोधी नीतियों को समझकर उन पर सवाल खड़े करना शुरू न कर दे। अनौपचारिक शिक्षा के हर कार्यक्रम में इसकी संभावना रहती है और जागरूक नेतृत्व की उपस्थिति में यह व्यापक जन प्रतिरोध की परिस्थिति पैदा करती ही है।

9. और अंत में

जैसा कि शुरुआत में ही लिखा गया है, इस पुस्तक लिखने के पीछे मूल प्रेरणा शिक्षा की पहुंच की सीमाओं को समझना है और यदि 'शिक्षा' नहीं हो पाती तो क्या होता यह समझना और जानना और इस समझ को शैक्षिक सिद्धांतों में शामिल करवाना। ऐसा नहीं है कि यह समझने का काम पहले नहीं हुआ। काम बहुत हुआ है लेकिन मुख्यत: सरकारी नजरिए से या सरकार को सिफारिशें देने के नजरिए से। कुछ काम समाज-वैज्ञानिक, अर्थशास्त्रीय और एक्टीविस्ट नजरियों से भी हुआ है। शिक्षा बजट में धन के कम प्रावधान तथा अन्य सभी प्रकार के स्रोतों की कमी और शिक्षा की गुणवत्ता, सार्थकता जैसे मुद्दे केंद्रीय मुद्दे भी बने हैं। बल्कि आज की शिक्षा की निरर्थकता और जन अलगाव जैसे मुद्दे काफी महत्वपूर्ण हुए हैं जिसके तहत खराब गुणवत्ता और शिक्षण प्रशिक्षण, विद्यार्थियों का निम्न उपलब्धि-स्तर जैसे विषय चर्चा की परिधि में आए हैं। लेकिन आजकल जन शिक्षा के सर्वव्यापीकरण के दबाव के कारण इन मुद्दों पर बहस आर्थिक स्रोतों की तुलना में थोड़ी कम हो रही है। गुणवत्ता की ज्यादा चिंता अब ढेरों अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों (विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष समेत) को है जिसके तहत 'कैपेसिटी बिल्डिंग' जैसे पद भारतीय शिक्षाशास्त्रियों के लिए वेदवाक्य बन गए हैं। हालांकि इसके साथ ही आई 'न्यूनतम अधिगम स्तर' जैसी शिक्षा की विखंडित अवधारणाएं एक समूह के द्वारा अस्वीकार भी की गई हैं।

पर जिस विषय पर चर्चा और भी कम या न के बराबर होती है वह है ढांचागत रुकावटें। ये काफी आश्चर्य की बात है क्योंकि भारत जैसे देश में इन रुकावटों को देख पाने के लिए किसी बुनियादी शोध या सैद्धांतिक समझ की आवश्यकता नहीं पड़ती जब तक कि यह तय न कर लिया जाए कि आंखें बंद ही करनी हैं। कुछ सिरफिरे शिक्षा समाज-वैज्ञानिकों और जन संगठनों के अतिरिक्त आम तौर पर इन मुद्दों को नहीं उठाया जाता। कुछ गिने-चुने शिक्षाशास्त्री तथा समाजविज्ञानी स्पष्ट शब्दों में यह कहते हैं कि जिस स्तर की गरीबी और भूख भारत में व्याप्त है, और यदि आर्थिक सर्वेक्षणों (सरकारी और गैरसरकारी दोनों) को महत्व दें तो पता चलता है कि ये बुनियादी समस्याएं न केवल ज्यादा गंभीर हैं वरन आने वाले समय में और भी गंभीर होंगी, वैसी परिस्थिति में प्राथमिक शिक्षा का सर्वव्यापीकरण संभव ही नहीं है। पर यदि हम जिसे 'शिक्षा' कहते हैं वह नहीं होती तो क्या होता? इस पुस्तक में चर्चा इसी पर की गई है।

इस ओर तो ध्यान जाता ही नहीं कि 'अशिक्षित' जागरूक लोग मौका मिलते ही शिक्षा कार्यक्रमों का क्या उपयोग कर लेते हैं? ध्यान इस ओर भी नहीं जाता कि अभावग्रस्त लोगों के जीवन में सरकारी शिक्षा कार्यक्रमों की असफलता में ही उनकी सफलता है। शैक्षिक सिद्धांतों में भी ऐसी संभावनाओं को समझने की गुंजाइश नहीं होती।

प्रश्न यह नहीं है कि नेल्लोर जैसी 'घटनाएं' होनी चाहिए या नहीं। ये घटनाएं यानी जन प्रतिरोध तो हो रहा है, होता रहेगा और होता रहा है। मुद्दा तो इन्हें ही चर्चा और बहस के दायरों में लाने का है। इसकी झलक महिला विकास कार्यक्रमों, महिला समाख्या और महिला शिक्षण के कार्यक्रमों में भी देखने को मिलती है। कहीं सरकार अपने ही द्वारा की गई घोषणाओं के कारण उलझती है जैसा महिला विकास कार्यक्रम (राजस्थान) के संदर्भ में हुआ तो कहीं जनता कुछ मौकों का उपयोग करने में सफल होती है। सरकारी नीति के अनुसार महिला विकास कार्यक्रम की ग्रामीण स्तर की कार्यकर्ता साथिनों को सरकारी विकास एजेंसियों और गांव की औरतों के बीच संपर्क सूत्र का काम करना था। इसकी जरूरत इसलिए पड़ी क्योंकि ढेरों अध्ययनों ने यह बताया कि औरतों तक विकास योजनाओं और नीतियों की सूचनाएं तक नहीं पहुंचतीं, लाभ की बात तो दूर रही। यह अधूरा कथन है। इसके लिए दबाव अध्ययनों से ही नहीं दबाव महिला आंदोलनों से भी बने जिसके कारण सरकार को महिलाओं का हितैषी दिखने के लिए बाध्य होना पड़ा। राजस्थान की विकास कार्यक्रम सूची में एक काम जिसकी साथिनों से किए जाने की अपेक्षा थी, कम से कम मासिक रिपोर्ट प्रपत्र के अनुसार वह था बाल विवाह रुकवाना (*दि साथिन,* रपट, राष्ट्रीय महिला आयोग, 1996, परिशिष्ट-4)। जब साथिन भंवरी बाई यह कर पाई तो पूरा गूजर समुदाय उखड़ गया और पितृसत्ता के वर्चस्व के तहत औरत को सबक सिखाने का जो एकमात्र तरीका है, जो युगों से चला आ रहा है, उसके ऊपर बलात्कार करना, वही भंवरी के साथ भी किया गया। कोर्ट अपनी पूरी ताकत और मशीनरी के बावजूद दोषियों का 'दोष' साबित नहीं कर पाए और दोषी 'बाइज्जत' छोड़ दिए गए। क्या राजसत्ता वास्तव में ताकवतर गूजर समुदाय की पितृसत्तात्मकता को चुनौती देना चाहती थी या क्या 'बाल विवाह रुकवाना' जैसे लक्ष्य के प्रति उसकी प्रतिबद्धता थी? और क्या इस तरह से साथिनों को सबक सिखाना और बनखेड़ी में मजदूर संगठन के कार्यकर्ताओं को बजरंग दल द्वारा सबक सिखाना दोनों ही कर्म वास्तव में 'राजसत्ता के प्रत्यक्ष या परोक्ष दमन' की श्रेणी में नहीं आते?

एक और उदाहरण लें। राजस्थान में 1986 में भयंकर सूखा और अकाल पड़ा। साथिनें सरकारी रोजगार योजनाओं की जानकारियां गांव-गांव तक पहुंचाने लगीं—यही तो उनका काम था। इसीलिए तो 1984 में इस पूरे कार्यक्रम की कल्पना की गई कि सरकारी विकास कार्यक्रमों की सूचना ग्रामीण औरतों तक नहीं पहुंचती इसलिए संपर्क सूत्र चाहिए। पर जब साथिनों ने 'फूड फार वर्क' के अकाल राहत कार्यक्रम के माध्यम से महिलाओं पर नसबंदी आपरेशन करवाने के लिए डाले जा रहे दबाव—काम और अनाज उन्हीं महिलाओं

को मिलेगा जो आपरेशन करवाकर आएंगी—का विरोध किया तो राजसत्ता के लिए खतरे की घंटी बज गई। कार्यक्रम में जुटे सक्रिय मध्यमवर्गीय कार्यकर्ताओं को भी यह स्पष्ट हो गया कि साथिनों को जनसंख्या नियंत्रण के काम के लिए ही तैयार करवाया गया था। सरकारी लोग पूछते थे कि ये यदि गांव-गांव जाकर परिवार नियोजन के लिए केस नहीं लाएंगी तो करेंगी क्या? (अगले एक-दो वर्षों में साथिनों के माध्यम से नेट-एन जैसे विवादास्पद और विकसित देशों में प्रतिबंधित गर्भनिरोधक भी गांवों में पहुंचाए गए।) पर साथिनें, ग्रामीण औरतों को न केवल जन विरोधी नीतियों के प्रति जागरूक करने लगी थीं, जनपक्षीय दिखने वाली नीतियों को लागू करने का दबाव भी बनाने लगी थीं, बल्कि अपनी स्वायत्तता और अपने अधिकारों की मांग के लिए भी नारीवादी सोच पैदा करने और सामंती और पितृसत्तात्मक ताकतों के खिलाफ संगठित हो गई थीं (*विकास किसके लिए?* रपट, 1991; चक्रवर्ती उमा, 1998)। यानी महिला विकास कार्यक्रम से अगर मात्र यह उम्मीद थी कि वह प्रगतिशीलता का मुखौटा लगाकर सरकारी नीतियों को खासतौर से परिवार नियोजन से संबंधित खतरनाक नीतियों को लागू करवाने के लिए साथिनों को माध्यम बना पाएगी तो साथिनों ने इसका प्रतिरोध किया।

जन शिक्षा के कामों—सरकारी या गैरसरकारी—के इस पक्ष पर नजर डालना या प्रतिरोध भी एक महत्वपूर्ण परिणाम है। यह अभी तक शैक्षिक चर्चाओं, बहसों के दायरों से बाहर रहा है। इस प्रतिक्रिया या प्रत्युत्तर जिसमें सरकारी दमन भी निहित है—प्रत्यक्ष या परोक्ष जैसे साथिनों की यूनियन बनने के साथ ही कार्यक्रम का स्वरूप बदलकर यूनियन को तोड़ना—इससे शिक्षाविद, शिक्षा समाजवैज्ञानिक समेत, सब पल्ला झाड़ लेते हैं।

अस्सी-नब्बे के दशकों से बढ़ते शैक्षणिक हस्तक्षेपों, न केवल देशी वरन विदेशी सत्ताओं की भारत की अशिक्षा की 'चिंता' भारत के शिक्षा समाजवैज्ञानिकों की चिंता बढ़ाने के लिए काफी होना चाहिए। आखिर शिक्षा के टेंट के नीचे सबको लाने की इतनी बेताबी क्यों है? दो वक्त का खाना इज्जत से मिले इतनी बेताबी उसके लिए क्यों नहीं है? राजसत्ता यानी विभिन्न सरकारें अपने संकटमोचन के लिए शिक्षा नीतियां, बजट, मॉडल, अर्थ के स्रोत, विषयवस्तु और नीतियों की भाषा और वादे बदलती रही हैं। संकट जितना गहरा होता है भाषा और वादे उतने ही लुभावने और रेडीकल हो जाते हैं। पिछले डेढ़ दशक में आर्थिक परिवर्तनों के साथ-साथ विशेष शैक्षिक नीतिगत परिवर्तन भी हुए हैं। इनमें से कुछ प्रमुख हैं :

- 1986 में नई शिक्षा नीति का बनना जिसमें जोर जनशिक्षा पर रहा, प्राथमिक और महिला शिक्षा समेत, और उच्च शिक्षा के निजीकरण की बात नीतिगत स्तर पर हुई।
- हिंदू पुनरुत्थानवाद का ज्यादा आक्रामक चेहरा सामने आया जिसके तहत व्यवस्थित रूप से शिक्षा, खास तौर से इतिहास की पुस्तकों और शोध की परंपराओं से छेड़छाड़ करने का प्रयास जारी है। शैक्षिक और सांस्कृतिक संस्थानों में, शोध संस्थानों समेत,

हस्तक्षेप हमेशा रहा है पर खास तौर से इस दशक में गुणवत्ता और काबलियत के सारे मापदंड ताक पर रखकर नियुक्तियां हुईं और हो रही हैं।

- भूमंडलीकरण नब्बे के दशक का बुनियादी आर्थिक परिवर्तन है जिसे अपरिहार्य बताया जा रहा है। विरोध के स्वर असंगठित हैं। अन्य देशों, जैसे अफ्रीका, में भूमंडलीकरण के नकारात्मक परिणाम भी नब्बे के दशक से आने शुरू हो गए थे। अब दक्षिण-पूर्व एशिया का 'इकानामी बूम', 'टाइगर' भी संकट में है। पर समझाया जा रहा है कि भारत में ऐसा नहीं होगा। भूमंडलीकरण की समर्थक शक्तियों ने कई स्तर पर भारतीय शिक्षा व्यवस्था में जमकर हस्तक्षेप किया है, खास तौर से जन शिक्षा—प्राथमिक शिक्षा, साक्षरता और महिला शिक्षा में। उच्च शिक्षा और शोध संस्थानों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों को 'बाजार' से पैसा बटोरकर अपने संस्थान ('दुकानें'?) चलाने के लिए मजबूर किया जा रहा है।
- इसके चलते उच्च शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा समानार्थी होती जा रही हैं और प्राथमिक शिक्षा का बजट नहीं बढ़ना चाहिए इस पर भी दबी आवाजें उठ रही हैं।
- अस्सी के दशक में साक्षरता केंद्रीय सरकार का कार्यक्रम था लेकिन नब्बे के दशक से विदेशी हस्तक्षेप बढ़ रहा है। खास तौर से उन क्षेत्रों में जहां साक्षरता से जन संगठन बनने के मौके लोगों ने ढूंढ़ लिए।
- पहले महिला विकास फिर सरकारी अनुदान वाले स्वायत्त महिला समाख्या और महिला शिक्षण केंद्र बने और फिर पूरी तरह से सरकारी महिला समाख्या बन रहे हैं। शायद इसलिए क्योंकि सरकारी धन से चले स्वायत्त महिला समाख्याओं में भी ग्राम स्तरीय कार्यकर्ता मूल समस्याओं में घुसने के कुछ रास्ते निकाल लेते थे।

ये सारे कार्यक्रम और ऐसे बहुत से नए शिक्षा कार्यक्रम सभी संभावित टकराव और नई संभावनाओं के गढ़ होंगे या हो सकते हैं। यदि इन पर सतर्क रूप से नजर रखी जाए और जहां जरूरत और संभव हो तो मदद भी की जाए। इसका यह अर्थ नहीं है कि सरकार से सिफारिश की जाए कि वह ऐसे प्रगतिशील दिखने वाले शिक्षा कार्यक्रम बनाए। सरकार तो जन दबाव और अपने आंतरिक विरोधाभासों के कारण ऐसे कार्यक्रम बनाने के लिए बाध्य है। जन विरोधी नीतियों को लागू करने के साथ-साथ जनपक्षीय चेहरा दिखाने के लिए भी।

सवाल यह है कि हर नए कार्यक्रम में शिक्षाविज्ञानी मात्र प्रशिक्षक के रूप में अपनी भूमिका स्वीकार करेंगे? सवाल यह भी है कि मध्यमवर्गीय कार्यकर्ता और शिक्षाविज्ञानी क्या करें? यथास्थिति को बनाए रखने में तयशुदा विषयवस्तु का प्रशिक्षण करके मदद करें? लैंगिक प्रशिक्षण (जेंडर ट्रेनिंग) देकर जाति, वर्ग और पितृसत्तात्मक लक्ष्यों और नीतियों के व्यापक असर को समझने के प्रश्नों को नेपथ्य में चले जाने दें? या, शिक्षा स्थलों में

टकराव की संभावना को पहचानें? जन प्रतिरोध के अस्तित्व को समझें? यह मानी हुई बात है कि शिक्षा के स्कूली कार्यक्रमों के अलावा, अनौपचारिक शिक्षा के दायरों में आने वाली सभी गतिविधियों की गुणवत्ता स्कूली व्यवस्था से भी बदतर होती हैं। पर फिर ये केंद्र कम रेजीमेंटेड भी होते हैं। इनमें स्थान, समय और पाठ्यक्रम और विषयवस्तु तय करने को लेकर लचीलापन भी होता है। साथ ही होती है परिवर्तनवादी अलंकृत भाषा (लफ्फाजी)।

इन कार्यक्रमों की तुलनात्मक महत्वहीनता ही इन गतिविधियों को 'फौजी नियंत्रण' से बख्श देती हैं और इसलिए एक हद तक जन प्रतिशोध की संभावनाएं बनी रह जाती हैं। जन प्रतिरोध से पुनरुत्पादन नहीं परिवर्तनवादी विषयवस्तु का भी निर्माण होता है जैसा आंध्र महासभा के काम से या जन शिक्षण के प्रयासों से या शराब विरोधी आंदोलन के दौरान हुआ। उत्पीड़ित और अभावग्रस्त लोगों का लिखना, पढ़ना और गणित सीखना (तथाकथित 'थ्री आर') संघर्ष, कर्म और संगठन के साथ-साथ ही संभव है। क्या शिक्षा समाज-वैज्ञानिक इन अपरिहार्य पर अनपेक्षित प्रत्युत्तरों पर नजर रखेंगे/डालेंगे?

संदर्भ सूची

अडवाणी, शालिनी, 1996, 'एजुकेटिंग द नेशनल इमैजिनेशन', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली*, 31, नं. 31 : 2077-82.

अन्वेषी, 1993, 'री वर्किंग जेंडर रिलेशंस', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली* 28, नं. 3 और 4 : 87-90.

अरोरा, डाली, 1995, 'एड्रेसिंग वेलफेयर इन द थर्ड वर्ल्ड कानटेक्स्ट : इंडियन केस', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली*, अप्रैल 29.

अत्रेगा, वेंकटेश, 1992, 'लेसंस फ्राम नेल्लोर', *फ्रंट लाइन*, 4.12.92 : 52-53.

आचार्य, जे. (सं.), 1996, *सिटिजंस इनीशिएटिव आन प्राइमरी एजुकेशन इन इंडिया.*

आचार्य, परमेश, 1994क, 'यूनिवर्सल एलिमेंटरी एजुकेशन : रिसीडिंग गोल्स', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली* 29, नं. 1 : 27-30.

आचार्य परमेश, 1999ख, 'प्रोबल्म ऑफ यूनिवर्सल एलिमेंटरी एजुकेशन', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली*, 29, नं. 49 : 3098-3105.

आयंगर, एस.के. 1930, *इकानामिक इनवेस्टिगेशन इन द हैदराबाद स्टेट* 1929-30, वाल्यू. I-III, हैदराबाद, गवर्नमेंट ऑफ एच.ई.एम. निजाम.

अरोनोविट्ज, स्टैनली एंड हेनरी गीरू, 1986, *एजुकेशन अंडर सीज*, लंदन, रुटलेज एंड केगन पॉल.

ओमवेट, गेल, 1998, 'द कोचिंग क्लासेज', *हिंदू*, 4.11.98.

इलैया, कांचा, 1992, 'आंध्र प्रदेश एंटी-लीकर मूवमेंट', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली*, 27, नं. 45 : 2406-07.,

ईश्वर प्रसाद. के.वी. एंड रमेश सी. शर्मा, 1987, 'वेस्टेज, स्टैगनेशन एंड इनइक्वालिटी ऑफ ऑपारच्युनिटी इन रूरल प्राइमरी एजुकेशन', *मोनोग्राम*, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार.

करलेकर, मालविका, 1983, 'एजुकेशन एंड इनइक्वालिटी', आंद्रेबेताई द्वारा संपादित, *इक्वालिटी एंड इनइक्वालिटी* में संकलित, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

करावेल, जे. एंड ए.एच. हाल्सी, (सं.), 1977, *'पॉवर एंड आइडियालोजी इन एजुकेशन'*, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क.

कामत, ए.आर., 1985, 'एजुकेशन एंड सोशल चेंज', *सोशियोलॉजिकल पर्स्पेक्टिव इन एजुकेशन*, एस. शुक्ल तथा कृष्णकुमार द्वारा संपादित पुस्तक में संकलित, चाणक्य पब्लिकेशंस, दिल्ली.

कुमार, कृष्ण, 1996 'एग्रीकल्चर माडर्नाइजेशन एंड एजुकेशन : कंटूर्स आफ ए प्वाइंट आफ डिपार्चर,' *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली*, 31, नं. 35-37 : 2367-73.

कुमार, कृष्ण, 1998, 'बुनियादी शिक्षा की प्रासंगिकता' *विमर्श*, दिगंतर, जयपुर, 5-28.

कृष्णा, सुमी, 1996, *रेस्टोरिंग चाइल्ड हुड*, कोणार्क, नई दिल्ली.

खान, गुलाम अहमद (जनगणना कमिश्नर), 1933, 'लिटरेसी', *सेंसस आफ इंडिया, हैदराबाद स्टेट, पार्ट-I* हैदराबाद, निजाम सरकार.

ख़ालिदी, ओमर, 1985, *हैदराबाद स्टेट अंडर द निज़ाम्स 1724-1948* : ए बिब्लियोग्राफी आफ मोनोग्राफिक एंड पीरियाडिकल लिटरेचर, कानसास, यू.एस.ए. हैदराबाद हिस्टोरिकल सोसाइटी, विचिता.

खुसरो, अली मोहम्मद, 1958, इकानामिक एंड सोशल इफेक्ट्स आफ जागीदारी एवॉलिशन एंड लैंड रिफार्म्स इन हैदराबाद : हैदराबाद, उस्मानिया यूनिवर्सिटी प्रेस.

गफ, कैथलीन, 1974, 'इंडियन पीजेंट अपराइजिंग', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली*, 9, अगस्त 1391-1412.

गीरू, एच.ए. 1983, *थ्योरी एंडरेसिस्टेंस इन एजुकेशन*, मैसाच्युट्स, बर्गिन एंड मार्वे.

गुप्ता, अखिल, 1986, 'रिवोल्यूशन इन तेलंगाना' *सोशल साइंस प्रोबिंग्स* मार्च, 1986, 3-71.

गोपालकृष्णैय्या, वावीलाला, 1977, *लाइब्रेरी मूवमेंट इन आंध्र प्रदेश*, हैदराबाद, डाइरेक्टरेट आफ इनफार्मेशन एंड पब्लिक रिलेशंस, गवर्नमेंट आफ आंध्र प्रदेश.

गोरे, एम.एस., आई.पी. देसाई एंड सुमाचिटनीस (सं.), 1967, *पेपर्स इन द सोशियोलॉजी आफ एजुकेशन इन इंडिया*, नई दिल्ली, एन.सी.ई.आर.टी.

गोविंदा, आर. एंड एन.वी. वर्गीस 1993, 'क्वालिटी आफ प्राइमरी स्कूलिंग इन इंडिया : ए केस स्टडी आफ मध्य प्रदेश', *मानोग्राफ*, नई दिल्ली, नीपा.

गोविंदा, आर. 1995, 'स्टेट आफ प्राइमरी एजुकेशन आफ द अरबन पुअर इन इंडिया', *रिसर्च रिपोर्ट* नं. 105, पेरिस, यूनेस्को, आई.आई.ई.पी.

गौर, राजबहादुर, चंद्रगुप्त चौधरी, गुलाम हैदर एंड बी.एस. परांजपे 1973, *ग्लोरियस तेलंगाना आर्म्ड स्ट्रगल*, नई दिल्ली कम्युनिस्ट पार्टी पब्लिकेशन.

डेमोक्रेसी, सिटिजन फॉर, 1978, *एजुकेशन फॉर अवर पीपल : ए पॉलिसी फ्रेम फार द डेवलपमेंट आफ एजुकेशन* (1978-87), बंबई, एलाइड पब्लिशर्स.

डेवीस, एंथोनी एंड स्टीवन जे. क्लीस, 1995, 'सोशल मूवमेंट्स एंड द ट्रांसफार्मेशन आफ नेशनल पॉलिसी : स्ट्रीट एंड वर्किंग चिड्रेन इन ब्राजील', *कंपरेटिव एजुकेशन रिव्यू*, 39 नं. 1 : 76-100.

चिटनीस, सुमा, 1978, 'एजुकेशन आफ द शिड्यूल्ड कास्ट्स एंड शिड्यूल्ड ट्राइब्स इन महाराष्ट्र', ए.बी. शाह (सं.) द *सोशल कानटेक्स्ट आफ एजुकेशन* में संकलित, नई दिल्ली, एलाइड पब्लिशर्स.

दिधे, अनीता; साधना सक्सेना, मनीषा प्रियम एंड आंचल कपूर, 1996, 'ए स्टडी आफ महिला शिक्षण केंद्र इन फाइव स्टेट्स आफ इंडिया', *रिपोर्ट*, नई दिल्ली : राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा संस्थान.

धनागरे, डी.एन. 1974, 'सोशल ओरिजिस आफ द पीजेंट इनसरेक्शन इन तेलंगाना' (1946-51). कंट्रीब्यूशन टु इंडियन सोशियोलाजी (एन एस) सं. 8 : 486 : 531.

नायक, जे.पी. एंड एस. नुरूल्ला, 1987, *ए स्टुडेंट हिस्ट्री आफ एजुकेशन इन इंडिया 1800-*

1973 (छठा संस्करण), दिल्ली, मैकमिलन.

नेशनल कमीशन आन वीमेन (1996), *द साथिन एज एन एजेंट आफ चेंज,* एन.सी.डब्ल्यू.

प्रसाद, आर.जे. राजेंद्र, 1992 अ, 'ए स्प्रिटेड बैटिल-एंटी लिकर अवेकिनिंग इन ए.सी.', *फ्रंटलाइन,* 4.12.92 : 51-53.

प्रसाद, आर.जे. राजेंद्र 1992 ब. 'फाइटिंग आन, वीमेन अगेंस्ट लिकर इन ए.पी.' *फ्रंटलाइन.* 18.12.92 : 93-97.

परमेश्वरन, एम.पी. 1991, 'साक्षात्कार' *होशंगाबाद विज्ञान* : एकलव्य, कोठीबाजार, होशंगाबाद.

पालस्टन रोनाल्ड जी. 1994, 'बुकरिव्यू' *कंपेरेटिव एजुकेशन रिव्यू,* 38, नं. 4 : 565.

पेवियर, बेरी, 1981, द *तेलंगाना मूवमेंट* 1944-51, नई दिल्ली विकास पब्लिशिंग हाउस.

पंचमुखी, पी.आर. 1991, 'इकानामिक्स आफ एजुकेशन इन इंडिया; ए थियेटिक रिव्यू', *मोनोग्राफ,* धारवाड़, कर्नाटक, सेंटर फॉर मल्टी-डिसिप्लिनरी डेवलपमेंट रिसर्च.

वगरिन, केरोल एंड लार्स वर्गरिन, 1975, द *लिटरेसी प्रोसेस; ए प्रैक्टिस इन डोमेस्टिकेशन ऑर लिबरेशन,* लंदन, राइटर्स एंड रीडर्स पब्लिशिंग को-आपरेटिव.

बारा, जोसेफ, 1997, 'वेस्टर्न एजुकेशन एंड राइज आफ न्यू आइडेंटिटी : मुंडा एंड ओरांव आफ छोटा नागपुर', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली,* अप्रैल 12 : 785-90.

बालगोपाल, के. 1992, 'स्लेयिंग ए स्प्रिचुआस डेमन', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली,* 27, नं. 46 : 2457-61.

बोर्दिया, अनिल, 1980. 'द नेशनल एडल्ट एजुकेशन प्रोग्राम : बैकग्राउंड एंड प्रॉस्पेक्टस', *नॉन-फार्मल एजुकेशन एंड द एन.ई.पी.* में संकलित, ए.बी. शाह और सुशीला भान (सं.) दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

बोर्दिया, अनिल. 1996. 'एन एजेंडा फार एडल्ट एजुकेशन रिसर्च-द साउथ एशियन पर्स्पेक्टिव', *इंटरनेशनल जर्नल आफ यूनिवर्सिटी एडल्ट एजुकेशन* 35 नं. 3 : 8-20.

भट्टी, किरण 1998, 'एजुकेशनल डेप्रिवेशन इन इंडिया : ए सर्वे आफ फील्ड इनवेस्टिगेशंस' *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली,* 33, नं. 27-28 : 1731-40 और 1859-69.

मेकेंजी, ए.एम. (प्रो-वाइस चांसलर, उस्मानिया यूनिवर्सिटी) और फजल मोहम्मद खां (डी.पी.आई. हैदराबाद स्टेट) 1936. *रिपोर्ट आफ द सब कमेटी,* हैदराबाद : निजाम सरकार का प्रिंटिंग प्रेस.

मेडिको फ्रेंड सर्किल (एम.एफ.सी.), 1998, 'न्युक्लियर टेस्ट्स : ए हेल्थ पर्सपेक्टिव', *इकानामिक एंड पोलिटिक वीकली,* अगस्त 8 : 2199-2200.

मोहंती, मनोरंजन, 1995, 'आन द कॉनसेप्ट आफ इमपावरमेंट', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली* 30 नं. 24 : 1434-36.

यान, ड्रेज, एंड अमर्त्य सेन. 1995, 'बेसिक एजुकेशन एज ए पोलिटिकल इशू', *जर्नल आफ एजुकेशनल प्लानिंग एंड एडमिनिस्ट्रेशन* 9 नं. 1 : 1-26.

रमेशन, एन. (सं.) 1966. द *फ्रीडम स्ट्रगल इन हैदराबाद वाल्यूम II, 1921-1947,* आंध्र प्रदेश : आंध्र प्रदेश सरकार.

राजू, ए.ए.एन. 1988, '*हिस्ट्री आफ लाइब्रेरी मूवमेंट इन आंध्र प्रदेश (1900-56),* दिल्ली, अजंता पब्लिकेशंस.

रानी, रायापोलू, स्वरूपा, 1990. वीमेंस एसोसिएशंस इन हैदराबाद, पी-एच.डी. शोध प्रबंध, इतिहास विभाग : हैदराबाद विश्वविद्यालय.

रामनारायण,गौरी. 1992, 'ए सोबरिंग स्ट्रगल : ए.पी. वीमेन लीड एंटी-लिकर क्रैकडाउन', *फ्रंटलाइन,* दिसंबर, 4 : 55-61.

राव, एम.एस.ए. 1985, एजुकेशन स्ट्रेटिफिकेशन एंड सोशल मोबिलिटी. *सोशियोलाजिकल पर्सपेक्टिव इन एजुकेशन* में संकलित एस. शुक्ल और कृष्णकुमार (सं.) दिल्ली, चाणक्य पब्लिकेशंस.

राव, गंगीनेनी वेंकटेश्वर, *इरजिंडालु,* हैदराबाद, आदर्श ग्रंथ भंडली.

राव, बी. नरसिंह (सं.) 1983, *तेलंगाना : द एरा आफ मॉस पॉलिटिक्स,* हैदराबाद, रविनारायण फेलिसिटेशन कमेटी.

राव, मादापाती हनुमंत, 1949, *तेलंगाना आंध्र उद्यमम्* भाग-I, हैदराबाद, आंध्र चंद्रिका ग्रंथमाला.

राव, मादापाती हनुमंत, 1950, तेलंगाना आंध्र उद्यमम्, भाग II हैदराबाद : आंध्र चंद्रिका ग्रंथमाला.

राव, वी.वी. 1986, *तेलंगाना विमोचना उद्यमम्* : वका विश्लेषण सृजना : हैदराबाद.

रेगानी, सरोजिनी, 1972, हाईलाइट्स आफ फ्रीडम मूवमेंट इन आंध्र प्रदेश, हैदराबाद, मिनिस्ट्री आफ कलचरल अफेयर्स, आंध्र प्रदेश सरकार.

रेगानी, सरोजिनी, 1973, 'द सोशल बैकग्राउंड फार द राइज आफ द आंध्र महासभा मूवमेंट इन तेलंगाना' *इतिहास-I* नं 1 : 17-96

रेड्डी, अरुतला रामचंद्र, 1984. *तेलंगाना स्ट्रगल मोमॉयर,* नई दिल्ली, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस.

रेड्डी, चंद्रापुल्ला. 1981. द *ग्रेट हिरोइक तेलंगाना स्ट्रगल,* हैदराबाद, त्रिमोचना.

रेड्डी, डी. नरसिम्हा और अरुण पट्टनायक. 1993, 'एंटी-एरक एजिटेशन आफ वीमेन इन ए.पी.', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली* 28, नं. 21 : 1059 66.

वेल्श, एंथोनी. 1993, 'क्लास, कल्चर एंड द स्टेट इन कमपेरेटिव एजुकेशन : प्राब्लम्स, पर्सपेक्टिव्स एंड प्रॉस्पेक्ट्स', *कमपरेटिव एजुकेशन* 29 नं. 1 : 7-27.

वैकल्पिक आर्थिक सर्वे 1996-97 1996. नई दिल्ली : सोसाइटी फॉर पीपुल्स डेवलपमेंट.

वैकल्पिक आर्थिक सर्वे 1997-98. 1997. नई दिल्ली, सोसाइटी फार पीपुल्स डेवलपमेंट.

वैकुंठम, वाई. 1978. 'पब्लिक अवेकिनिंग इन द निज़ाम्स डोमीनियन इन द सेकेंड हाफ द नाइनटींथ सेंचुरी', इतिहास 6, नं. 2 : 98-111.

शर्मा, रश्मि, 1998 'यूनिवर्सल एलिमेंटरी एजुकेशन', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली* 33, नं. 26 : 1640-47.

शत्रुघ्न, एम. 1992, 'लिटरेसी एंड एरक इन आंध्र', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली* 27, नं. 48 : 2583-84.

शाह, ए.बी. एंड सुशीला भान (सं.) 1980, नॉन फार्मल एजुकेशन एंड एन.ए.ई.पी. दिल्ली, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

शुक्ल, सुरेश, 1975, 'एजुकेशनल एलिमेंट्स इन कलचरल पालिसी : ए सोशलिस्ट पर्सपेक्टिव', *टुवर्ड्स ए कलचरल पॉलिसी,* सतीश सब्बरवाल (सं.) में संकलित, दिल्ली, विकास पब्लिशिंग हाउस.

शुक्ल, सुरेशचंद्र, 1979. 'इंडियन एजुकेशनल थॉट एंड एक्सपेरिमेंट्स : ए रिव्यू', *नया शिक्षक*

टीचर टुडे अक्टूबर-दिसंबर, 1-19.

शुक्ल, सुरेशचंद्र, 1980, 'सोशल आस्पेक्ट्स आफ नॉनफार्मल एजुकेशन', *नॉनफार्मल एजुकेशन एंड एन.ए.ई.पी.* में ए.बी. शाह एंड सुशीला भान (सं.) दिल्ली, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

शुक्ल सुरेशचंद्र, 1983, 'इंडियन एजुकेशनल थाट एंड एक्सपेरिमेंट्स; ए रिव्यू', *कमपरेटिव एजुकेशन* 19 नं. 1 : 59-71.

शुक्ल, सुरेशचंद्र एंड कृष्ण कुमार (सं.) 1985. *सोशियोलॉजिकल पर्सपेक्टिव इन एजुकेशन : ए रीडर,* दिल्ली, चाणक्य पब्लिकेशंस.

शुक्ल, सुरेशचंद्र, 1991, 'ह्यूम रिसोर्स डेवलपमेंट : एजुकेशन-फोर्टी ईयर्स आफ फ्री इंडिया', *इंडिया : द इमर्जिंग चैलेंजेज* में एम.वी. नदकर्णी, ए.एस. सीतामारू एंड अब्दुल अजीज (सं.) नई दिल्ली, सेज.

शुक्ल, सुरेशचंद्र, 1996, 'फ्रम प्री-कोलोनियल टु पोस्ट-कोलोनियल : एजुकेशनल ट्राजिसंस इन सदर्न एशिया', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली,* 31, नं. 22; 1344-49.

शुक्ल सुरेशचंद्र, 1997, 'नेशनलिस्ट एजुकेशनल थाट : कंटीन्यूइटी एंड चेंज', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली,* 32, नं. 29 : 1825-31

सक्सेना, साधन एंड कमल महेंद्र, 1993, 'पॉलिटिक्स आफ लैंग्वेज', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली,* 28, नवंबर, 6 : 2445-47.

सक्सेना, साधना, 1999, 'एजुकेशनल डायलेमा', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली* 29, मई 21 : 1257-58.

सदगोपाल, अनिल, 1979, 'किशोर भारती : शासकीय भूमि लौटाने का निर्णय', *प्रपत्र,* पलिया पिपरिया : किशोर भारती.

सदगोपाल, अनिल, 'जन आंदोलन में विज्ञान की भूमिका', 1980, *दिनमान* 8, 15 और 22 नवंबर.

सदगोपाल, मीरा, 1984, 'झड़ते फूल', *रिपोर्ट,* पलिया-पिपरिया : किशोर भारती.

सबरवाल, सतीश (सं.) 1975, *ट्रबइर्स कलचरल पॉलिसी* दिल्ली, विकास पब्लिशिंग हाउस.

सल्दाना, इंदिरा मुंशी, 1995, 'आन ड्रिंकिंग एंड ड्रंकननेस : हिस्ट्री आफ लिकर इन कलोनियल इंडिया', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली,* 30 नं. 37 : 2323-31.

सहेली आदि, 1991, 'डेवलपमेंट फॉर हूम : ए क्रिटीक आफ वीमेंस डेवलपमेंट प्रोग्राम्स', *रिपोर्ट,* नई दिल्ली : सहेली वीमेंस सेंटर.

सुंदरैया, पी. 1972, *तेलंगाना पीपुल्स स्ट्रगल एंड इट्स लेसंस,* कलकत्ता, कम्युनिस्ट पार्टी आफ इंडिया (मार्क्सवादी).

सुब्बाराव, सी.बी. 1988, 'इंडस्ट्रियल कैपिटल एंड टेक्नोलॉजी इन हैदराबाद स्टेट, 1875-1950, एन इंपीरिकल इनवेस्टिगेशन', *रिसर्च रिपोर्ट,* नई दिल्ली, आई.सी.एस.एस.आर.

सेन, अमर्त्य तथा अन्य, 1968, 'प्राइमरी एजुकेशन इन रूरल इंडिया; पार्टीसिपेशन एंड वेस्टेज', *मोनोग्राफ,* दिल्ली एग्रीकलचर रिसर्च सेंट, यूनिवर्सिटी आफ दिल्ली.

संघटना, स्त्रीशक्ति, 1989, *वी वर मेकिंग हिस्ट्री : लाइफ स्टोरीज आफ दि वीमेन इन तेलंगाना पीपुल्स स्ट्रगल,* नई दिल्ली, काली फार वीमेन.

ह्यूमन डेवलपमेंट रिपोर्ट, 1993 यू.एन.डी.पी.

हर्डिया, रूडोल्फ सी. 1995 'एजुकेशन एंड मिशन : स्कूल एज एन एजेंट आफ इवेंजिलाइजेशन', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली* 30, नं. 37 : 2332-40.

हेल्सी, एच., हगलेंडर फिलिप ब्राउन, एमी स्टुअर्ट वेल्स, *कलचर, इकानामी, सोसाइटी,* आक्सफोर्ड, इंगलैंड.

कमेटी, रिपार्ट आफ द रिफॉर्म्स, 1347 एफ (अनुवाद), 1938 हैदराबाद, दकन : सरकारी केंद्रीय प्रेस.

ग्रुप, दिल्ली यूनिवर्सिटी साइंस टीचिंग, फ्रेंड्स रूरल सेंटर और किशोर भारती, 1977, 'द होशंगाबाद विज्ञान' *साइंस टुडे* में प्रकाशित, दिसंबर; 13-23.

डेसीनियल रिपोर्ट आन द एडमिनिस्ट्रेशन आफ द निज़ाम डोमिनियंस 1322-1331 कजली (1912-22), 1930 हैदराबाद; दकन सरकारी केंद्रीय प्रेस.

फ्रीडम स्ट्रगल इन हैदराबाद, वाल्यूम III, 1957, आंध्र प्रदेश ए.पी. स्टेट कमेटी.

भारती, किशोर 1973, 'ए प्रोग्रेस रिपोर्ट' बंबई, किशोर भारती.

भारती, किशोर, 1977, 'बैकग्राउंड : द विलेज पालिया पिपरिया' बनखेड़ी, किशोर भारती.

भारती, किशोर, 1984, 'ग्रामीण रोजगार व आय', बनखेड़ी, किशोर भारती.

भारती, किशोर, 1988, 'सिचुएशन रिपोर्ट आफ एडमिनिस्ट्रेटिव अफेयर्स एट किशोर भारती' पलिया पिपरिया, किशोर भारती.

भारती, किशोर, 1991, 'एक सामाजिक प्रयोग के समेटने पर' (एंड आफ एन एक्सपेरिमेंट), मध्य प्रदेश सचिव, किशोर भारती.

भारत सरकार, 1978, 'नेहरू युवक केंद्र : रिपोर्ट आफ द रिव्यू ग्रुप', नई दिल्ली, एम.एच.आर.डी. भारत सरकार.

भारत सरकार, 1986, 'नेशनल पॉलिसी ऑन एजुकेशन', नई दिल्ली एम.एच.आर.डी., भारत सरकार.

भारत सरकार, 1990, 'रिपोर्ट आफ कमेटी फॉर रिव्यू आफ नेशनल पालिसी आन एजुकेशन', नई दिल्ली, एम.एच.आर.डी., भारत सरकार.

भारत सरकार, 1993, 'एजुकेशन फॉर आल', नई दिल्ली, एम.एच.आर.डी., भारत सरकार.

भारत सरकार, 1996, 'रिपोर्ट आन एलिमेंटरी एजुकेशन,नॉनफार्मल एजुकेशन, अर्लीचाइल्डहुड एजुकेशन एंड टीचर एजुकेशन फार द नाइंथ फाइव ईयर प्लान', नई दिल्ली, एम.एच.आर.डी., भारत सरकार.

मद्रास, गवर्नमेंट आफ, 'स्टडीज इन मद्रास एडमिनिस्ट्रेशन' वाल्यूम-II, 1960, मद्रास, इंडियन प्रेस.

रसूलिया, फ्रेंड्स रूरल सेंटर एंड किशोर भारती, 1978, 'इवॉल्विंग सिस्टम्स फार इंट्रोड्यूसिंग इन्नोवेशंस इन स्कूल एजुकेशन : ए प्रोपोजल फॉर डिस्ट्रिक्ट लेवेल टेस्टिंग आफ द एच.एस.टी.पी.', भोपाल, रिजन कॉलेज आफ एजुकेशन, भोपाल.

राइट्स पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक, 1992 *सतपुड़ा घाटी,* नई दिल्ली.

सेंसस आफ इंडिया, 1911, XIX. हैदराबाद स्टेट भाग-I, एच.ई.एच. द निजाम डोमिनियंस, हैदराबाद, 1913.

सेंसस आफ इंडिया, 1921, हैदराबाद स्टेट भाग-I, नई दिल्ली, 1922.

सेंसस आफ इंडिया, 1931, XXIII, हैदराबाद स्टेट भाग-I, एच.ई.एच. द निजाम डोमिनियंस, हैदराबाद, 1933.

सेंसस आफ इंडिया, 1951, IX, वाल्यूम-9, हैदराबाद भाग-I, एच.ई.एच. द निजाम डोमिनियंस, नई दिल्ली-1952.

सेंसस आफ इंडिया, 1941, XXI, हैदराबाद स्टेट, भाग-I, एच.ई.एच., द निजाम डोमिनियंस, हैदराबाद, 1943.

हैदराबाद, गवर्नमेंट आफ, 'रिपोर्ट आन पब्लिक इंस्ट्रक्शन इन हिज हाइनेस', द निजाम डोमिनियंस फॉर 1306 फजली, हैदराबाद, निजाम सरकार प्रेस.

हैदराबाद, गवर्नमेंट आफ, 'रिपोर्ट आन पब्लिक इंस्ट्रक्शन इन हिज हाइनेस', द निजाम डोमिनियंस, फजली 1325-49 (1915-16 से 1939-40)' हैदराबाद निजाम का प्रेस.